पं. आशाधर व्यक्तित्व और कर्त्तृत्व

लेखक
पं. नेमचन्द डोंणगाँवकर न्यायतीर्थ
देऊलगाँव राजा

प्रकाशक:
अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ
केन्द्रीय कार्यालय - कोटा (राज.)

प्रथम संस्करण - 3000
(13 अप्रेल, 1995)

मूल्य
पुस्तकालय सस्करण - 50/
साधारण - 25/

प्राप्ति स्थल:
1 मत्री, अ. भा. दि. जैन बघेरवाल सघ
रामपुरा, आर्य समाज रोड, कोटा - 324 006
2 उपाध्यक्ष - बघेरवालसघ
श्री पद्मकुमार चेतनलाल डोणगाँवकर
मु. पो - देऊलगाँवराजा - 443 204
जि. - बुलढाणा (महा.)

मुद्रक
बाहुबली प्रिंटर्स
लालकोठी, जयपुर - 302 015
फोन - 515480

भूमिका

जहां तक मुझे स्मृति है सन् १९७२ की कारंजा (जिला अकोला) महाराष्ट्र में सम्पन्न हुयी अखिल भारतवर्षीय दिगंबर जैन बघेरवाल संघ की बैठक में सबसे पहले पं. आशाधर जी पर विशेषांक प्रस्तुत करने का विचार उठा। फिर सधारा, जिला में सामग्री तथा वित्त एकत्र करने हेतु विभिन्न कमेटियों का निर्माण हुआ और सन् १९८० में दिगबर जैन धर्मशाला कोटा में श्रीमान् प. धन्यकुमार जी कारजा को इसका सम्पादक नियुक्त किया गया। उन्होंने परिश्रम करके भारत भर के विद्वानों से प. आशाधर जी पर विभिन्न दृष्टियों से १६ लेख लिखवाये। प्रकाशन हेतु आर्थिक प्रश्न बन रहा था, इसी बीच श्री प्रेम भावुक सम्पादक बघेरवाल सन्देश का अचानक स्वर्गवास हो गया। अत: यह योजना विलबित हो गयी। अन्त में पुन १९९१ में कारजा में ही नवयुवकों को सम्मिलित करते हुये प. आशाधर जी भिन्न स्मृति ग्रथ समिति गठित की गयी।

१- श्री हजारीलाल जैन (खटोड) कोटा
   संरक्षक तथा पूर्व अध्यक्ष बघेरवाल सघ
२- श्री शातिकुमार जी ठवली, देवलगाव (राजा)
   सरक्षक बघेरवाल सघ (प्रेरक)
३- प. श्री धन्यकुमार गगासाव जी भोरे कारजा (लाड) सयोजक
४- श्री डॉ. मानमल सेठिया कोटा
   मत्री बघेरवाल पारमार्थिक न्यास
५- श्री राजकुमार गोविन्दसा डोणगावकर (कारजा लाड)
   पूर्व मत्री बघेरवाल सदेश दक्षिण प्रात
६- श्री जम्बुकुमार जैन, (टूगेरिया) कोटा
   तात्कालिक सपादक, बघेरवाल संदेश

इस समिति ने हिम्मत करके, विज्ञापनों और उदार हृदय दातारों के सहयोग से सन् १९९३ में बघेरवाल सघ के विशेषाक के रूप में लिखाये गये खोज पूर्ण लेख प्रकाशित करवाये, जिनका विमोचन अखिल भारतीय बघेरवाल

सामूहिक विवाह सम्मेलन, बिजोलिया में १९९३ में कराया गया। जब इन लेखों के प्रकाशन की योजना चल रही थी, आदरणीय शांतिकुमार जी ठवली देवलगाँवराजा ने सूचना दी कि पं. नेमीचन्द जी डोणगांवकर देवलगांवराजा पं. आशाधर जी की जीवनी एवं रचनाओं पर एक खोजपूर्ण लेख लिख रहे हैं। अतः उन्हें उत्तर में प्रेरणा दी गयी कि वे अपनी रचना की पांडुलिपि शीघ्र भेजें ताकि उसके प्रकाशन पर विचार किया जा सके। उन्होंने उसकी पाडुलिपि की दो प्रतियां डॉ. मानमल जी कोटा के पास भेजी। डॉ. मानमल जी ने एक प्रति हिन्दी भाषा और व्याकरण की दृष्टि से शुद्धि हेतु मेरे पास भेजी।

कुछ दिन तक तो मैं इस असमन्जस में रहा कि एक विद्वान की कृति में मैं क्या करूं, फिर ५-७ पृष्ठ पढने से हिन्दी भाषा व व्याकरण की दृष्टि से मुझे शुद्धि करने का मार्ग स्पष्ट हुआ, कुछ पृष्ट शुद्व कर डा.मानमल को दिखाये और जब उन्होने भी मेरी शुद्धि कार्य को सही बताया तो मैं उत्साहित होकर अपने कार्य में आगे बढा और मैंने अपनी शुद्धि के बिन्दुओं से प. नेमीचन्द जी डोणगांवकर को अवगत कराया तो उन्होंने भी मुझे लिखा कि आप संस्कृत में अंकित शिलालेखों, विभिन्न पुस्तकों से उद्धृत संस्कृत श्लोकों एवं उदाहरणों को ज्यों का त्यों ही रहने दें, केवल हिन्दी भाषा की दृष्टि से ही संशोधन करें अत: मेरा मार्ग और सरल हो गया और मकर सक्राति १९९४ से पूर्व ही इसे पूरा करके मूल लेखक व डाक्टर मानमल को सूचित कर दिया।

बीच-बीच मे सामाजिक कारणों चांदखेडी के कार्य तथा पारिवारिक कारणों से अधिक समय लग गया। इसका मुझे खेद है। प्रसन्नता इस बात से हुई कि में अपनी ही जाति के विद्वान की प्रकाशित व अप्रकाशित अपूर्व कृतियों से परिचित हो सका। मेरा प्रमुख अभिमत यह है कि पं. आशाधर जी बघेरवाल जाति में उत्पन्न न होकर अन्य जाति में पैदा हुये होते तो अब तक अनेकों विद्वानों की कृतियां प्रकाशित होकर साहित्य, धर्म व नीति प्रेमियों के सम्मुख आगयी होती।

पं. आशाधर जी उच्च कोटि के विद्वान, उत्कृष्ट वक्ता, और प्राणी मात्र के हित चिंतक थे। उनके उपदेशों से जैन, जैनेतर सभी लाभ उठाते थे। वे किसी से भेदभाव नही करते थे। जैन तो संयम मार्ग पर बढकर सच्चे अर्थों में श्रावक बन जाते थे और अजैन उनसे किसी प्रकार का नियम लेकर अपने जीवन का सुधार कर लेते थे। चित्तौड की नाग श्री इसका उदाहरण है। वे जहां भी गये प्रोढों, वृद्धों के लिये स्वाध्याय शाला, बालकों के लिये पाठशालाओं की स्थापना करते थे। मंडलगढ नलाछा में तो इनका विद्यापीठ चलता था। यहां सभी उनके प्रवचनो का लाभ उठाते थे और कई तो व्रत प्रतिमा लेकर व्रती-श्रावक बन जाते थे। कुछ मुनि, अनेक भट्टारक, ब्रह्मचारी इनके शिष्य या अनुयायी थे।

वे गृह चैत्यालय निर्माण कराकर दैनिक पूजा, वन्दना, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण द्वारा पच पूजा पर जोर दिया करते थे और ग्रहस्थ के आवश्यक कार्यों की प्रेरणा देते थे। वे मुनियों,व्रती श्रावकों को भक्ति पूर्वक आहार दान, साधर्मियों को समादान की पुष्टि करते थे। वे महिला जागरण, उद्धार और उनकी शिक्षा के पोषक थे। वे श्रावकों को तीर्थ यात्रा करने के लिये भी प्रेरित करते थे। उन्होंने रोगियो के लिये औषधालय, दीन-दुखियों के लिये भोजन शाला, बालकों के लिये पाठशाला खोलने पर भी जोर दिया है।

उन्होने अव्रत्ति श्रावको को भी अष्टमूलगुणों के पालन, सप्त व्यसनों के त्याग, स्वदार संतोष व्रत, रात्रिभोजन और विकथाओं के त्याग की प्रेरणा दी है। उन्होने खदिरसार भील,यमपाल चाण्डाल ,मृगसेन धीवर जैसे शूद्रों के जीवन से भी यथा शक्ति धर्मपालन की शिक्षा दी है।

विवाह संस्कार के मामले में प. आशाधर जी ने अपने सागार धर्मामृत ग्रथ मे सत् जाति याने साधर्म जैनो से विवाह संबंध करने के अनेक उदाहरण प्रस्तुत किये है। उनकी मान्यता है कि एक ही देव, शास्त्र, गुरु को मानने वालों दिगंबर जातियों में साधर्मी बन्धुओ के यहां विवाह संबंध किये जा सकते हैं, दूसरे शब्दों में ऐसे संबंध किये जाने का उन्होंने निषेध नही किया है। वर्तमान

में इस प्रकरण को लेकर समाज में दो ग्रुप बनते जा रहे हैं। बघेरवाल समाज में योग्य पढी लिखी लडकियों और लडकों को जब योग्य जोडे नहीं मिलते हैं तो वे अन्य जातियों में संबंध कर लेते हैं और पुरानी विचार धारा वाले इनको जाति से अलग होता जा रहा है जो अन्ततोगत्वा जाति और समाज के हित में नही है। वे अभीक्षण ज्ञानोपयोग के पक्षपाती थे। संक्षेप में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि सागार धर्मामृत में उन्होंने गृहस्थों की पूर्णचर्या बताते हुये श्रावकों को तीन वर्ग :उत्तम - मुनि आचार्य, मध्यम - व्रत्ति श्रावक और जघन्य श्रावकों को बताया है। उनके शब्दों में उन्हें पाक्षिक, नैष्ठिक और साधक नामों से संबोधित किया है। अनागार धर्मामृत में उन्होंने बृहत मुनि धर्म का विषद रूप से वर्णन किया है।

वे जीवन भर उत्तम श्रावकों के व्रतों, पूजा पाठ, स्वाध्याय, सामायिक, प्रतिक्रमण बारह उत्तरगुणों का पालन करते हुये उच्चकोटि के श्रावक बने रहकर निशल्य बनकर अन्त में संलेखना धारण करने का उपदेश देते थे। उन्होंने अपने पिता की संलेखना भी करायी है।

उनके द्वारा लिखित अभिषेक, महाभिषेक, व्रत विधान और प्रतिष्ठापाठों में दस दिग्पालों, देवी देवताओं, का भी वर्णन मिलता है और पूजन में अर्चयामि, महामि, पूज्यामि शब्दों के प्रयोग से उन पर आक्षेप किया जाता है कि वे भी इनकी पूजा करते थे। किन्तु पडितजी नित्य महोध्योत के श्लोक नं. १०४-१०५ में इसका स्पष्टीकरण करते हैं कि पूजक (श्रावक) अरहत भगवान की इन्द्र बनकर पूजा करता है। अत: विनय और आदर की भावना से इन दिग्पालों, देवी देवताओ को साधर्मी मानकर पूजन मे सम्मिलित होने के लिये आव्हान करता है, योग्य पीठासन, दर्भासन देता है, पूजन के लिये अष्ट द्रव्य देकर व्यवहार धर्म, शिष्टाचार निभाता है।

इसमें पूजा, आराधना अरहत जिनदेव की करने का ही उपदेश दिया गया है। इनको अष्ट द्रव्य देकर इन्हें ग्रहण करने के लिये इन्द्र आव्हान करता है। इसीप्रकार क्षेत्रपाल पूजा का वर्णन भी इन्हें जिनदेव के सहायक भक्त मान कर

व्यवहार श्रावकों के लिये उपदेश दिया है। सम्यंग दृष्टि, वृतियों के लिये नहीं।

इसप्रकार उस समय दो प्रकार की पूजा के पक्षपाती श्रावक थे। एक वर्ग इन्हें मान्यता देता था दूसरा नहीं।

पंडित जी ने इस विषय का विशद वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि ईस्वी सन् ३०० वर्ष पूर्व भारत में धार्मिक कार्य की दो प्रकार की प्रणालियां प्रचलित थीं लौकिक और परमार्थिक-आध्यात्मिक एवं लौकिक धर्म में व्यक्ति व्यक्ति में, देश, काल और परिस्थितियों वश भिन्नता रही है। इन्होंने इसको निम्न रूप में स्पष्ट किया है-

अंतिम श्रुत केवली भद्रबाहु के समय बिहार में १२ वर्ष का अकाल पड़ा तो वे अपने संघ और अनुयायियों सहित दक्षिण में श्रवणबेलगोला की ओर चले गये। किन्तु स्थूलीभद्र जैसे हठवादी मुनि उत्तर भारत में ही रह गये। परिस्थिति और समय के प्रभाव से इनमें शिथिलाचार बढने लगा और उनके अनुयायी भी वनवासी और चैत्यवासी दो भांगों में हो गये। चैत्यवासी कोपीन धारण करने लगे और धीरे-धीरे वे वस्त्र भी पहनने लगे। इसप्रकार दिगंबर और श्वेताम्बर दो भाग हो गये। श्रावकों का प्रभाव उनकी मूर्तियों और पूजा पद्धति में पडने लगा। आंगी, कोपीन हार,मुकुट, चंदन लेप आदि की प्रथा चालू हो गयी। आगे चलकर श्वेताम्बर में भी मूर्ति पूजक और स्थानकवासी आदि भेद हो गये। वनवासी मुनियों में भी शैव, वैष्णव आदि के प्रभाव में सातवीं आठवीं शताब्दी के बाद मठाधीश भट्टारक आदि बन गये। श्वेताम्बरों की भांति दिगंबरों में भी कुछ श्रावक मूर्तियों के चरणों पर पुष्प, चन्दन, फलफूल चढाने लगे और इस प्रकार आगे चल कर इस पध्दति में तेरापंथ और २० पंथ आम्नाय को जन्म दिया।

उस समय स्त्रियों को स्वतंत्रता नहीं थी; धनवान व्यक्ति उन्हें खरीद लेते थे। उनसे घर का सारा काम, कामभोग आदि करते थे। ऐसी परिस्थितियों में पं. आशाधर जी का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने धार्मिक, सामाजिक क्षेत्र में अपनी विद्वता, दूरदर्शिता, सुधारवादी नीतियों से आदर्श गृहस्थ की भांति जीवन

बिताते हुये बढते हुये शिथिलाचार पर अंकुश ही नहीं लगाया बल्कि सागार धर्मामृत व अन्य ग्रंथों की रचनाकर उपदेश देकर आदर्श जीवन पद्धति के लिये मार्ग दर्शन किया।

वे जो भी उपदेश देते थे उनके शिष्य लिखते जाते थे। इनके शिष्य इनकी रचनाओं पर टीकायें लिखते थे और उनकी प्रतियां करायी जाती थीं और देश के विभिन्न भागों में भेजी जाती थी । अतः इसका प्रभाव १७-१८ वी शताब्दी तक उत्तर भारत के विभिन्न भागों में पाया जाता है। ऐसे उत्कृष्ट प्रभावशाली विद्वान होकर भी वे दुराग्रही नही थे।

ऐसे बहुश्रुत विद्वान, उत्कृष्ट उपदेष्टा, आदर्शव्रति श्रावक पर लेखनी चलाकर प.नेमीचन्द जी डोणगांवकर ने उत्तर-दक्षिण भारत महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश राजस्थान का भ्रमण कर प्रामाणिक एव खोजपूर्ण सामग्री प्रस्तुत कर समस्त स्वाध्याय प्रेमियों, जिज्ञासुओं के लिये ज्ञान वृद्धि का मार्ग प्रस्तुत किया है। अतः मैं उन्हें हार्दिक बधाई एवं धन्यवाद देता हूँ और भगवान जिनेन्द्र से कामना और प्रार्थना करता हूँ कि उनकी लेखन क्षमता निरन्तर बढती रहे। विद्वान लेखक ने परिशिष्ठ में पूर्वकालीन साहित्य तथा मूल प्रशस्ति संग्रह देकर ग्रंथ का गौरव बढा दिया है। उन्होंने पं. आशाधर जी को जैसा का तैसा प्रस्तुत किया है।

श्रीमान् शांतिकुमार जी ठवली आदि से ही समर्थ प्रेरक रहे हैं और श्रीमान पदम कुमार जी डोणगांवकर परिवारों में प्रकाशन हेतु धन संग्रह कर, बार-बार अनेक स्थानों का भ्रमण कर इसके प्रकाशन में स्तुत्य योगदान किया है तथा समिति के सदस्यों जिन बन्धुओं ने भी प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष सहयोग दिया है उन्हें भी धन्यवाद दिये बिना नही रह सकता।

(हजारीलाल जैन)

पूर्व मंत्री,अध्यक्ष एव वर्तमान संरक्षक

संरक्षक – श्री शांतिकुमारजी ठवली का

मनोगत

श्री

सूरिराशाधरो जीयात् सम्यग्दृष्टि शिरोमणि: ।
श्री जिनेन्द्रोक्त सद्धर्म पद्माकरदिवामणि: ॥

योगायोग से सन् १९३४ में बिजौलिया निवासी श्री हिरालालजी कामदार की भेंट हुई। चर्चा में उन्होंने बताया कि यहाँ से मंडलगढ़ नजदीक है, वहाँ पर भी आपको जाना है। यह स्थान पं. आशाधरजी का जन्म स्थान है, जो बघेरवाल समाज के भूषण रहे हैं। इनके जीवन पर कुछ लिखने की भी उनकी भावना थी, किन्तु वे उसे पूरी न कर सके। सन् १९३५ या ३६ में मैं जैन पत्रों में देने के लिये "पं. आशाधर आणि सागर धर्मामृत" यह मराठी भाषा में एक लेख लिख रहा था, तो संयोगवश नागपुर में ब्र. शीतलप्रसादजी आये। उनको यह संकलन बताया तब इस लिखान की प्रशंसा कर कहा कि भैया जल्दबाजी मत करो। इसमें जो त्रुटियाँ हैं उसको पूरा करो।

उनके सुझाव के अनुसार मैंने पं. आशाधर के प्रकाशित ग्रंथों स्वाध्याय किया और कुछ ऐतिहासिक तथ्य भी जानने की चेष्टा की। जब पंडितजी के प्रकाशित ग्रथों का स्वाध्याय होता था तब पंडितजी चारों अनुयोगों पर समान रूप से लिखाण देखकर विस्मित हुआ। पंडितजी के अगाध विद्वत्ता के कारण उनके शिष्य परिवार मे अनेक मुनि, त्यागी, पडित तथा विद्वान हुये हैं, यह जानकर खुशी हुयी।

पंडितजी ने अपने धार्मिक जीवन की साधना के लिये जन्मग्राम मंडलगढ़ छोड़कर धारा, नालछा, मांडव आदि स्थानों में रहकर अनेक ग्रंथों की रचना स्वपर हितार्थ की, तथा एक स्वाध्याय मंडल की निर्मीती कर उसके माध्यम से जिनागम की अनेक प्रतियाँ बनाकर शास्त्र भंडार में समर्पित करायी।

किसी कारण मेरा जब बम्बई जाना हुआ तब सुखानंद धर्मशाला स्थित ऐल्लक प. दिगम्बर जैन ग्रथ भंडार देखा। वहाँ के पं. रामनंद शास्त्री ने देखा

कि , मैं मात्र पं. आशाधर के संबंध में जानकारी चाहता हूँ तो उन्होंने कहा कि आप पं. नाथुरामजी प्रेमी के पास चले जाओ। उनके पास गया तब उन्होंने कहा, "भैय्या, मैंने पूरी जानकारी 'जैन साहित्य और इतिहास' में प्रकाशित की है। किन्तु इसके अलावा और भी जानकारी राजस्थान के मंदिरों में स्थित ग्रंथ भंडार के पांडुलिपियों में मिल सकती है। अतः आप अवश्य उस काम को करो।"

यह संशोधन का काम जटिल देखकर मैंने वह प्रयत्न छोड़ दिया था। किन्तु जब "अखिल भारतीय दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ" की स्थापना हुयी और उसके निमित्त दक्षिण और उत्तर के सभी ज्ञातीय बांधव एकत्र हुये तब, पण्डित आशाधरजी पर विस्तृत जानकारी उपलब्ध कर उन्हें दिगम्बर जैन समाज के सामने रखने का एक प्रस्ताव पारित हुआ। उसकी एक समिति भी निर्माण हुई। उसमे मैं भी एक सदस्य था और प. धन्यकुमारजी भोरे सर्वेसर्वा नियुक्त हुए थे।

उसके अनुसार प. धन्यकुमारजी भोरे ने कुछ विद्वानों के लेख एकत्रित कर अधिक संकलन के हेतु उसे वैसा ही रखा। दो साल पहले उन्हें वैसा ही प्रकाशित करने का तय हुआ और फलस्वरूप गत वर्ष सन् १९९३ में "पं. आशाधर गौरव अंक" यह बघेरवाल सदेश के माध्यम से प्रकाशित हुआ।

इस बीच इस प्रकाशन समिति में देवलगाँव राजा निवासी पं. नेमचंदजी डोणगावकर इन्हें भी लिया गया। जब वे प्रत्यक्ष प्रयत्नशील बने तक अखिल भारतीय बघेरवाल संघ के माजी अध्यक्ष तथा समाज के कर्मठ कार्यकर्त्ता श्री हजारीलालजी चार पाँच साल से उनका सपर्क चालू रखकर प्रेरणा देते रहे।

इस ग्रंथ के लेखक कारजा तथा बाहुबली गुरुकुल के स्नातक तथा न्यायतीर्थ हैं। आपने पं. आशाधर के प्रकाशित तथा अप्रकाशित ग्रंथों का स्वाध्याय, चिंतन तथा मनन कर अनेक बातों पर याने इतिहास, कुलवृत्तांत, उस समय प्रचलित धार्मिक आचार और धर्म मान्यता आदि विषय की साद्यंत चर्चा प्रस्तुत ग्रंथ में की है तथा अप्रकाशित ग्रंथ कहाँ उपलब्ध हो सकते हैं इसकी नाविन्यपूर्ण जानकारी इस ग्रंथ में दी है।

पं. नेमचंदजी हमारे से सदैव चर्चा करते रहे हैं। हम स्वप्न में भी नहीं सोच पाये थे कि इतना अपूर्व ग्रंथ समाज के हाथ में हम दे सकेंगे। हमारी मनोकामना पंडितजी ने पूरी की है। वैसे तो पं. नेमचंदजी डोणगांवकर व्यापार सम्हालते हुये धार्मिक कार्य, स्वाध्याय, मनन और इतिहास सशोधन में मग्न रहते हैं। अंतरिक्ष पार्श्वनाथ संस्थान शिरपुर क्षेत्र की आपने अपूर्व सेवा की है। अखिल भारतीय दिगम्बर जैन तीर्थ क्षेत्र के तरफ से होने वाले दिगम्बर जैन क्षेत्रों के सर्वेक्षण में आप भाग लेते रहे हैं। आप प्रवचनकार भी हैं। आपने अभी एक निबंध "श्रुतावतार तथा संघ भेद का शोध और बोध" पर लिखा है जो अखिल भारतीय दिगम्बर जैन विद्वत् परिषद के माध्यम से प्रकाशित होने जा रहा है।

इस ग्रंथ का जैन समाज स्वागत ही नही करेगा तो इसका स्वाध्याय कर ज्ञान का आस्वाद भी लेगा ऐसा मुझे विश्वास है। मेरी सन् १९३५ की इच्छा पूर्ति हुयी यह मेरा सौभाग्य समझता हूँ।

सूज्ञ वाचक वर्ग से अनुरोध है कि इसमें यदि कोई त्रुटियाँ हों तो अवश्य लिखें, उसका स्वागत होगा।

शुभं भवतु।

देऊलगांवराजा
दिनांक : २०/९/९४

आपका शुभाकांक्षी
शांतिकुमार ठवली

लेखक के दो शब्द

सन् १९८८ में पं. आशाधरजी गौरव विशेषांक के लिए एक लेख देने की प्रेरणा आदरणीय दादा श्री शांतिकुमारजी ठवली देवलगाँवराजा ने की थी। मैं तीन चार माह तक सोचता ही रहा कि पंडितजी के संबंध में अनगार धर्मामृत-सागार धर्मामृत के सिवाय और क्या लिखा जा सकता है। महावीर ब्रह्मचर्याश्रम में पढ़ते समय सागार धर्मामृत का अभ्यास तो हुआ ही था, किन्तु अनगार धर्मामृत देखे बिना लिखना उचित न समझा। मेरी भावना को जानकर दादा ने मुझे माणिकचंद्र जैन ग्रथमाला से प्रकाशित अनगार धर्मामृत भव्य कुमुद चंद्रिका टीका की एक पुस्तक दी। उसका तथा स्वोपज्ञ सागार धर्मामृत का स्वाध्याय कर मैंने एक लेख १९८८ में ही लिखकर दे दिया। उसकी कापी आदरणीय हजारीलालजी जैन, कोटा के पास गयी तो उन्होंने मेरे लेख की सराहना की। उससे प्रेरित होकर मैंने और एक लेख लिखकर दे दिया और दादा से चर्चा भी करता रहा।

जब मेरा नाम प. आशाधर गौरव ग्रथ समिति मे लिया गया, तब श्री हुकुमचंदजी गहाणकरी (सावला) नागपुर ने मुझसे सवाल किया कि , "क्या पंडितजी मात्र सागार धर्मामृत पर के लेख सग्रह करने में आप प आशाधर का गौरव समझते हैं ?" तब मैंने उनसे पूछा कि 'आप क्या चाहते हैं ?' जवाब में उन्होंने 'पं. टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व' नाम की किताब बतायी, जो डा. हुकमचदजी भारिल्ल ने लिखी है। उनसे प्रेरणा पाकर मैंने घर आने पर उस पुस्तक को निकाला और गौर से पढ़ा। उसका आधार लेकर पं आशाधर की समग्र रचना का संग्रह और स्वाध्याय चालू किया।

योगायोग से दिगम्बर जैन ग्रन्थालय में अप्रकाशित कुछ ग्रथ नजर आये, उनकी झेरॉक्स निकाली गयी। बाद मे सेनगण मन्दिर कारजा की पांडुलिपि की भी कॉपी ली गयी। अन्य भी ग्रथ भण्डार देखता रहा। जब मैंने आशाधर के २३-२४ ग्रन्थों की सूची बनायी तब दादा ने कहा कि डॉ. ज्योति प्रसादजी ने साधिक चालीस ग्रंथ होने की सूचना दी है। उनसे प्रेरणा पाकर सेनगण

मंदिर कारंजा के प्रकाशित ग्रथ सूची में 'दि. जैन ग्रंथ और ग्रथकार' यह प नाथूराम प्रेमी की किताब देखी। उससे पंडितजी की अनेक रचनाओं तथा उनकी रचनाओं पर हुई टीका का पता चला। बाद में प. परमानद शास्त्री का जैन ग्रथ प्रशस्ति सग्रह भाग-२ देखा तो उसमें राजस्थान जैन ग्रथ सूची भाग-४ में आशाधर की रत्नत्रयव्रत कथा — जो गद्यरूप है— की चर्चा पढ़ी। तब उन सूचियों के सभी भागों को बुलाने (मगाने) की भावना श्रद्धेय तात्या गुरुजी श्री माणिकचदजी चवरे के पास प्रदर्शित की। उनकी जानकारी अनुसार उपलब्ध भाग-३, ४ तथा ५ आ गये। उनके आधार से प आशाधरजी के रचनाओं की सूची शताधिक हो गयी।

आश्रम के पुराने जैन सिद्धात भास्कर की फाईल तथा मूडबिद्री के प्रकाशित ग्रथ सूची को देखकर कुछ नई रचनाओ का भी पता चला है। प्रकाशित ग्रथो का अध्ययन और अप्रकाशित ग्रथों की झेरॉक्स का वाचन करके जब मैं गौरव ग्रथ का प्रारूप बना रहा था, तब डॉ. मानमलजी जैन कोटा ने एक विषयानुक्रमणिका भेजी, जो प टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व की ही थी।

यद्यपि इस रचना के मूल प्रेरक शातिकुमार ठवली दादा ही हैं, तथापि इसको सही आकार देने वाले आदरणीय तात्याजी ही हैं। आपने इसे मात्र पढ़ा ही नही किन्तु प्रारम्भ से विषय निर्णय की सूचना भी दी और प आशाधर के ग्रथ भी अभ्यास के लिये दिये। समग्र लिखान पढ़कर यथास्थान शब्द परिवर्तन कराये तथा कुछ विषय भी अधिक स्पष्ट करने की आज्ञा दी। इनकी ही सूचना से ब्र माणिकचदजी भिसीकर प्राचार्य बाहुबली विद्यापीठ उन्होंने भी इसे गौर से देखा और प्रशसा की। आपने मुझे न्यायतीर्थ विषय पढ़ाया है। अत मानो इस कृति से दोनों गुरुवर्यों की गुरु दक्षिणा ही अदा हो रही है।

महिलारत्न पडिता सौ विजयाताई भिसीकर (कारजा) ने मुझे पचलब्धि प्रकरण अच्छी तरह समझाया और नय विषय को मराठी मे लिखकर ही मुझे दे दिया। उसको प्राय जैसा का तैसा रखने का मैंने प्रयास किया है।
श्रीमान् सेठ ज्ञानचदजी खिंदुका , प अनूपचदजी न्यायतीर्थ , जयपुर इन्होंने जयपुर के कुछ पाडुलिपियो की झेरॉक्स कापियाँ भेजी तथा डॉ मानमलजी

जैन, डॉ. राजेन्द्रकुमारजी खटोड़ कोटा ने मुझे बूंदी आदि की झेरॉक्स कापियाँ दी और उत्साह बढ़ाया उनका किन शब्दों में आभार मानूँ ?

करीबन एक साल से मासाधिक काल तक महावीर ब्रह्मचर्याश्रम (कारंजा) में रहकर पं. रविन्द्रनाथ नांदगांवकर ने इस विषय का अवलोकन किया इसलिये मैं उनका भी आभारी हूँ। सन् १९९२ की जुलाई माह में दक्षिण प्रान्तीय बघेरवाल संघ ने हमारा धार , नालछा, मांडवगढ़ , इंदौर , उज्जैन, झालरापाटन, कोटा , बूंदी , बिजौलियाँ , मांडलगढ़ , सोनागिरी , बर्हाणपुर का प्रवास इसी उद्देश्य को लेकर खर्चे की व्यवस्था कर दी तथा साथ में आदरणीय दादा, पद्मकुमारजी, रविन्द्रनाथ जी , डॉ विद्याधरजी आदि को जाने के लिए प्रेरित किया। अत: मै उनका भी आभारी हूँ।

जो भी हो पं. आशाधरजी का जीवन जैसा प्रतिभासित हुआ उसको वैसा ही सामने रखने का प्रयास किया है। सभव है इस प्रकाशन में अनेक त्रुटियाँ हो सकती हैं किन्तु डॉ. विद्याधरजी का आग्रह है कि जो है, इसे शीघ्र प्रकाशित कर समाज को दो: शेष कार्य बाद में करते रहो या समाज पर छोड़ दो।

प्रकाशन की जल्दी करने का दूसरा विकल्प यह रहा कि , गुरुदेव श्री समंतभद्रजी महाराजकी प्रेरणा पं. आशाधरजी के साहित्य को प्रकाशित करने-कराने की रही थी। अत: उनके जन्म शताब्दी निमित्त इसे प्रकाशित कर उनके पवित्र उपकार का ऋण अदा करना है। अत: यह कृति परम पूज्य गुरुदेव की पवित्र स्मृति को सादर समर्पित करता हूँ।

इसमें पंडितजी की समग्र रचनाओ का परिचय हम नही दे सके हैं, क्योंकि उसके लिये हमारे पास पर्याप्त समय नही था, मात्र अभ्यासुओं के लिए ही उसकी आवश्यकता जानकर उनकी जिज्ञासा की पूर्ति हेतु संक्षिप्त मे या मात्र नाम का ही उल्लेख कर रचनाओं का परिचय समाप्त किया है। बंधु पन्नालालजी डोणगावकर बीच-बीच में इसे सुनते थे और कुछ लिखान पढ़ते भी थे। उनके ही कारण यह लेखन जल्द हो सका है। उनका भी मैं आभारी हूँ।

पं. धन्यकुमारजी भोरे , कारंजा , को मैंने इसे समग्र पढ़कर उचित सुधार के साथ सूचित कराने की नम्र विनती की और उन्होंने भी दूसरा कार्य छोड़कर इसे प्रमुखता दी तथा पूर्ण किया । उनका भी मैं आभारी हूँ । मुक्तागिरि अधिवेशन में चुने गये नये अध्यक्ष श्री भरतकुमारजी भोरे जब देवलगाँवराजा आये तब दादा ने उनको यह लिखान बताया था । इसे देखकर उसी समय उन्होंने इसे जल्द प्रकाशित करने की भावना व्यक्त की थी ।

प्रस्तुत ग्रन्थ आपके हाथ में देने के लिए और प्रकाशन में शीघ्रता लाने के लिये जिनका सहयोग प्राप्त हुआ वे हैं हमारे बन्धु श्री ध. पद्मकुमार डोणगांवकर देवलगाँवराजा निवासी । प्रकाशनार्थ संकलन्न निधी और उपलब्ध सामग्री एक दिन के अदर एकत्रित कर सभी को आश्चर्यचकित किया । आपका अपार उत्साह तथा सेवा सदैव तत्पर रहती है । दूरस्थ जयपुर (राज.) जाकर वहाँ मुद्रण कराने के हेतु बाहुबली प्रिन्टर्स को इसे दिया और अल्प समय में सभी काम सुलभ किया । आपका श्रेय उल्लेखनीय है । एतदर्थ शतशः धन्यवाद ।

वैसा ही इस ग्रन्थ के मुद्रण में श्री ध. अखिल बंसल महोदय ने जो अल्प समय मे अच्छा छपाई का काम किया है अत: उन्हें हार्दिक धन्यवाद ।

अनेक महानुभावो ने इस कार्य के लिए प्रेरणा दी तथा मदद भी की है । मैं उन सबके नाम नही ले सकता , किन्तु उन सभी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करता हूँ । संक्षिप्त में इतना कहता हूँ कि यह सामयिक कृति है, सभी के सहकार्य से ही बनी है । न मैं शिक्षक हूँ , न साहित्यिक अत: मुझसे भूल हो सकती है । उससे मुझे अवगत कराने की नम्र विनती है ।

इसको पढ़ने के पूर्व मेरी सभी से नम्र प्रार्थना है कि , वे इसे तो शांति से पढ़े हीं, किन्तु पंडित जी के मूल ग्रंथ भी उपलब्ध कराकर उनको भी पढ़कर अपना भ्रम मिटावें । पंडितजी का वचन है कि — "काले कोऽपि हितं भ्रियेत ।" अब आपके हित का काल आया है । शुभं भूयात् , भद्रं भूयात् ।

नेमचंद डोणगांवकर (न्यायतीर्थ)
देवलगाँवराजा

प्रकाशकीय

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन बघेरवाल सघ की केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की कारँजा (लाड) जिला अकोला (महाराष्ट्र) पर दिनाक २० अक्टूबर, ७४ की बैठक में निर्णय किया कि प. आशाधर जी पर ग्रथ प्रकाशित किया जाये। इसके पश्चात् केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की सधारा (मध्य प्रदेश) में २५ दिसम्बर ७७ को सम्पन्न हुई बैठक में पुन विचार विमर्श हुआ तथा सामग्री सकलन के लिये उप समिति का गठन किया गया था।

दिनाक २४ अगस्त ८० को केन्द्रीय कार्यकारिणी समिति की कोटा में सम्पन्न हुई बैठक में प. आशाधर जी के ग्रथ बाबत विभिन्न उपसमितियों का गठन किया गया जिसमें सम्पादक मण्डल, सामग्री सकलन व विज्ञापन सकलन इत्यादि पर विचार हुआ।

केन्द्रीय समिति की दिनाक ११-१-८१ को सम्पन्न हुई बैठक में इसके सम्पादन एव प्रकाशन का कार्य व पूर्ण उत्तरदायित्व श्रीमान् प धन्यकुमार जी भोरे कारँजा (लाड) को सोंपा जाकर उन्हें इस कार्य के लिये प्रधान सम्पादक मनोनीत किया गया और वे सम्पादक मण्डल में जिसे चाहे ले सकते हैं।

दिनाक २५-१-९० को सम्पन्न हुई बैठक मे निर्णय किया गया कि प आशाधर जी पर विद्वानों से लेख प्राप्त किये जाये तथा उनको बघेरवाल सदेश विशेषाक के रूप में प्रकाशित किया जाये। इस हेतु प्रकाशन उप समिति का नवीनीकरण किया गया।

१ श्री शातिकुमारजी ठवली, देवलगाँवराजा
२ श्री हजारीलालजी खटोड, कोटा जक्शन
३ श्री राजाभऊ डोणगाँवकर, कारजा (लाड)
४ श्री डा. मानमलजी सेठिया, कोटा
५ श्री जैनेन्द्र कुमार जैन, हरसोरा कोटा
६ श्री जम्बुकुमार जैन दुगेरिया, कोटा
७ श्री प धन्यकुमारजी भोरे, कारँजा (लाड)
८ श्री नेमीचन्द्र जी डोणगाँवकर, देवलगाँवराजा
९ श्री हुकमचन्द जी गहाणकरी, नागपुर
१० श्री उत्सवचन्दजी बगडा, कोटा

३ जून ९१ को कारँजा (लाड) में उक्त उप समिति की बैठक श्रीमान शांतिकुमारजी ठवली की अध्यक्षता में हुई जिसमें पं. धन्यकुमार जी भोरे कारँजा (लाड) को अधिकृत किया गया कि विद्वानों के पं. आशाधर जी पर प्राप्त लेख का प्रकाशन बघेरवाल संदेश के विशेषाँक रूप से प्रकाशित करने का निर्णय किया जिसमें विज्ञापन देकर इसका आर्थिक भार कम करने पर भी विचार हुआ। प्रकाशन का दायित्व कोटा में श्रीमान् डा. मान मल जी सेठिया कोटा द्वारा एवं विज्ञापन एकत्रित करने का कार्य दक्षिण प्रान्त से मुझे व श्री जम्बू कुमार जी दुगेरिया कोटा को सौंपा गया तथा श्री हजारी लालजी खटोड, कोटा ने मार्ग दर्शन किया।

२ मई, १९९३ को दसवाँ सामूहिक विवाह समारोह बिजोलिया के अवसर पर बघेरवाल संदेश का विशेषाँक प्रकाशित किया गया जिसका विमोचन श्रीमान् भँवरलालजी पटवारी बिजोलिया के कर कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ।

इसके पश्चात पं. आशाधर जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सामग्री एकत्रित करने का दायित्व श्री मान् नेमीचन्द जी डोणगाँवकर देवलगाँवराजा को सौपा गया। वे अल्प समय मे ही पं. आशाधर जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर सामग्री एकत्रित करने की जानकारी समय-समय पर देते रहे लेकिन वह मराठी मिश्र भाषा मे होने के कारण उसको हिन्दी भाषा में परिवर्तन का कार्य श्री हजारीलाल जी खटोड कोटा ने किया। इसके फलस्वरूप ही उनका शोध प्रबन्ध आपके हाथ में पहुँचाने का प्रयास किया जा रहा है। इस सम्बन्ध में समय-समय पर बघेरवाल संदेश के माध्यम से पं.आशाधर जी के गौरव ग्रन्थ बाबत सामग्री प्रकाशित की जाती रही है। इसमें समाज से सहयोग राशियाँ भी प्राप्त हो चुकी हैं उससे ही प्रकाशन का कार्य सम्पन्न हो सकता है। इसमें सर्वाधिक योगदान डोणगाँवकर परिवारों का रहा है।

समाज की भावनाओं को ध्यान में रखते हुये मुनिराजों व आर्यिकाओं मान्यवर विद्वानों, स्वाध्याय प्रेमी बन्धुओं को, मंदिरों को तथा दिग. जैन तीर्थक्षेत्रों को तथा अनेक सहकारी बन्धुओं को स्वाध्याय व अभिप्रायार्थ प्राप्त करने हेतु दिये जाने का विचार है।

इसके प्रकाशन में प्रत्यक्ष व अप्रत्यक्ष रूप से जिन- जिन समाज बन्धुओं का सहयोग प्राप्त हुआ है उन सभी महानुभावों का भी संघ आभार प्रकट करता है। लेखक ने यथाशक्ति एवं यथा सम्भव अपने विचारों से पं. आशाधर जी के जीवन को जैसा का तैसा प्रकाशित करने का प्रयास किया है। वे कितने सफल रहे इसको पढकर समाज बन्धु निर्णय करे तथापि शब्दों एवं विचार लेखक के ही होने से प्रकाशक संस्था उनके विचारों से सहमत हो यह आवश्यक नहीं हैं। यद्यपि उक्त पुस्तक की समग्री का सकलन एक वर्ष पूर्व ही पूरा हो चुका था लेकिन सामग्री मराठी भाषा में होने के कारण उसे हिन्दी भाषा और व्याकरण के रूप में श्री हजारीलालजी खटोड कोटा ने पूरे लेखों को पढकर संशोधित किया अत: वे भी धन्यवाद के पात्र हैं। इसके साथ ही आर्थिक समस्या के कारण पूर्ण होने में समय लगा है इसके लिए खेद प्रकट करता हूँ।

इसके साथ ही बाहुबली प्रिन्टर्स के मालिक श्री अखिल बंसल जी का भी आभारी हूँ जिन्होंने इसे अल्प समय में ही अपने प्रेस में प्रकाशित कर तैयार करने में सहयोग प्रदान किया है।

आपके

भँवर लाल पटवारी (केन्द्रीय अध्यक्ष)

जैनेन्द्र कुमार जैन हरसोरा (केन्द्रीय मत्री)

अ. भा. दिगम्बर जैन बघेरवाल संघ, कोटा

सार कथन

प्रारम्भ में पं. आशाधरजी की २०-२२ रचनाओं का ही मुझे परिचय था उनका बहुत सा इतिहास भी अज्ञात था। उन सबको मैं जान ही न सका, जितना जाना उतना भी मैं लिख नहीं सका हूँ। इसी प्रकार पंडितजी की पूरी रचनाओं का परिचय भी मैं नहीं दे सकता हूँ। उनके रचनाओं की सूची ही इतनी लम्बी हुई कि उनके अभ्यास से एक प्रोफेसर Phd. कर सकता है।

मैं प्रारम्भ में अप्रकाशित रचनाओं का सकलन तथा वाचन करता रहा। जैसा-जैसा सकलन होता गया तथा उनके संबध में अनेक सुझाव आये, वैसी लिखाण की तथा पडितजी के जीवन की कच्ची रूपरेखा बनती गयी। अनेक विद्वानों की सहायता से यह कृति बनी है अत यह सामयिक ही है। इसे समाज के हाथ में देते समय समाधान का अनुभव करता हूँ।

इसके पूर्वार्ध में - प. नाथूरामजी प्रेमी के लेख का आधार लेकर प्रकरण दिये गये हैं। 'आक्षेप और समाधान' का एक नया प्रकरण सम्मिलित किया है। यदि यह प्रकरण न देता तो भ्रमवश पडितजी पर जो आक्षेप किये गये हैं, वे वैसे ही रहते। इन झूठे आक्षेपों के कारण ही कहीं-कही पडितजी की उपेक्षा देखी जाती है। यद्यपि पडितजी का सारा जीवन विद्याग्रहण तथा विद्यादान में ही बीता है तथापि उनके द्वारा प्रतिपादित विषय को समझना ही उनका सही गुणगान है।

इसी कारण उत्तरार्ध में सर्वप्रथम सागार धर्मामृत में प्रतिपादित सामान्य धर्म तथा आचार का वर्णन किया। बाद में निश्चय दृष्टि आने के लिये चारों अनुयोग-शास्त्र स्वाध्याय की प्रेरणा की। साथ में सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को भी समझाया।

इसके बाद सम्यग्दृष्टि का आचरण कैसा होता है, उसका कर्तव्य इनके ६ प्रकरण दिये गये तथा सम्यग्दृष्टि की मान्यता कैसी होती है इसको भी पाँच प्रकरणों में समझाया। पचलब्धि, सम्यग्ज्ञान के आठ लक्षण तथा पुरुषार्थ के प्रकरण से पडितजी की विशेष धारणा तथा गहरा चितवन प्रकट होता है।

पंडितजी का झुकाव अध्यात्म की ओर ही था अत: उनको जैसा का तैसा सामने रखा है। पंडितजी न तेरापंथी थे न बीसपंथी, वे एकमात्र वीतराग जिनेन्द्र पंथी ही थे। पंडितजी के गुणगौरव के प्रकरण से इस उत्तरार्ध की समाप्ति की है तथा विशेष जिज्ञासुओं के लिए मूल सस्कृत प्रशस्ति संग्रह परिशिष्ट में दिया है।

इस संकलन को निर्दोष बनाने के लिये मैंने बहुत प्रयास किया है, तथापि प्रमादवश या अनवधान से यदि कोई भूल रही हो तो वाचक से क्षमा चाहता हूँ।

इस कृति के जल्दी प्रकाशन के लिये अनेको ने प्रेरणा दी तथा परिश्रम भी उठाये हैं, उन सबका मैं आभारी हूँ। धन्यवाद।

ता. २१/७/९४ चातुर्मास प्रारंभ

आपका
नेमचंद डोणगांवकर

सम्मति

"यद्यपि ये गृहस्थ थे, फिर भी इनके पाडित्य धर्मो द्योतन, स्थितिकरण, अगाध और उसके अपूर्व प्रभाव को अनेक राजाओं के हृदय मे अकित करने तथा उनके द्वारा महत्त्व प्राप्त करने आदि कार्यो को देखकर उन्हें आचार्यकल्प कहने में बिल्कुल सकोच नही होता। महावीर भगवान के इस शासन काल में दूसरा कोई गृहस्थ जैन समाज मे, आज तक भी इनके समान धर्म का प्रचार और इतना साहित्य निर्माण करनेवाला हुआ हो ऐसा हमको स्मरण नही होता।" (पडित खूबचदजी अन. घ. प्रस्तावना)

"उनके पूर्व और पश्चात् भी प्राय: उन जैसा अन्य कोई प्रतिष्ठित गृहस्थ विद्वान नही हुआ। अपवाद के रूप मे उनके पूर्ववर्त्ती धनजय कवि और उत्तर वर्ती पडित टोडरमल, जयचद छाबड़ा और सदासुखदासजी जैसे विश्रुत विद्वान कुछ अवश्य हुये हैं, पर उनकी प्रतिभा आशाधर के समान सर्वतोमुखी नही रही।" (पं. बालचन्द्र शास्त्री)

प्रस्तुत प्रकाशन हेतु आर्थिक सहयोगियों की नामावली

1.	श्रीमती सुन्दरबाई ध्र. धन्नूसा डोणगांवकर, देवलगाँवराजा	11000/-
2.	श्री विष्णुकुमार गोविन्दसा डोणगांवकर, कारंजा	5000/-
3.	श्री पद्मकुमार चैतनलाल डोणगांवकर, देवलगाँवराजा	5000/-
4.	श्री गोपाल भानुसा डोणगांवकर, परभणी	5000/-
5.	श्री डॉ महेन्द्र भानुसा, डोणगांवकर, परभणी	5000/-
6.	श्री भंवरलाल बाबूलाल पटवारी बिजौलिया	5101/-
7.	श्री पन्नालाल नेमासा डोणगांवकर, देवलगाँवराजा	1001/-
8.	श्री हिराचन्द भानुसा डोणगांवकर, देवलगाँवराजा	1001/-
9.	श्री राजकुमार गोविन्दसा डोणगावकर, कारंजा	1001/-
10.	श्री डॉ. मगन जयकुमारसा जिंतूरकर, चालीसगाँव	1001/-
11.	श्रीमती बदामबाई ध्र. स्व. टीकमचन्द, सुरलाया, सारोला	1001/-
12.	श्री अमोलकचन्द भवरलाल चूनावाले, कोटा	1001/-
13	श्री हुकुमचद बंधु शांतिकुमार गहाणकरी, नागपुर	1001/-
14.	श्री हजारीलाल खरोड एवं डॉ. आर.के.जैन, कोटा	501/-
15.	श्री उत्सवचन्द जी बगडा, कोटा	501/-
16.	श्री जम्बूकुमार जी दुगेरिया, कोटा	501/-
17	श्री भवरलाल कस्तूरचन्द दुगेरिया, मोडक	501/-
18	श्री कुशलचन्द विजयकुमार सेठिया, कोटा	501/-
19.	श्री भवरलाल प्यारचन्द सेठिया, बिजौलिया	501/-
20	श्री नरेन्द्रकुमार भानुसा डोणगांवकर, देवलगाँवराजा	501/-
21	श्री सुन्दरलाल छोटुलालसा डोणगांवकर, देवलगवराजा	501/-
22.	श्री बर्द्धमान छोटूलालसा डोणगांवकर, देवलगांवराजा,	501/-
23.	श्री नवलचद देवचद डोणगांवकर, देवलगांवराजा,	501/-
24	स्व. लालचन्द नेमासा डोणगांवकर स्मरणार्थ सुपुत्री - कु. साधना डोणगांवकर, देवलगांवराजा	501/-
25.	श्री शातिकुमार नथ्थुसा ढवली, देवलगांवराजा	501/-
26.	श्री सुरेश मोतीलालजी मिश्रीकोटकर, जालना	501/-
27.	श्री रवीन्द्र आर. गहाणकरी, जालना	501/-
28.	श्री मुकुन्द सुन्दरलाल , जिंतूर	501/-
29.	श्री राजकुमार नेमचन्द डोणगंवकर, देवलगांवराजा	501/-
30.	श्रीमती पद्मबाई ध्र. धन्नुसा चवरे हसो अक्षय धन्नुसा चवरे - मुंबई	501/-
31.	राजाभाऊ शिखरचंद पेंठारी, परतवाडा	501/-
32.	डॉ.उल्हाससंगई नेमा संगई, अमरावती	501/-

33	सतीश संगई धीसुसगाई, अमरावती	501/-
34	निरजन सोनासा रुईवाले, कारजा	501/-
35	श्री शशीकात नरेन्द्रकुमारजी चवरे, कारजा	501/-
36	श्री छगनलालजी त्रिलोकचन्दजी खेडकर , नागपुर	501-/
37	श्री सुदरलालजी जैन, नागपुर	501/-
38	श्री अबादास रतनसा देवलसी (सौ विमलाबाई चैरिटी ट्रस्ट), नागपुर	501/-
39	केसरीमलजी बसन्तीलाल, कोटा	301/-
40.	दिलीप रतनलाल डोणगावकर,	251/-
41	डॉ. मानमलजी जैन, कोटा	201/
42.	विलास मोतीलाल, मुधोलकर अमरावती	201/-
43	लक्ष्मीकात देवलसा, अमरावती	151/
44	फा. कस्तूरचन्द धरमचन्द- चादूर बाजार	111/-
45	लक्ष्मण भानुसा डोणगाँवकर, देवलगावराजा	101/-
46	भरतकुमार धन्यकुमार भौरे, मुबई	101/-
47	राजकुमार चद्रशेखर नादगांवकर, मुबई	101/
48	चद्रकात बधुजयकुमार नेमलाल कमलाकर जितूर	101/
49	कमलाकर ओंकारसा भोंगाडे,	
50	श्री डॉ. मुकुन्द जयकुमारजी गरिसे, नागपुर	101/
51	श्री डॉ विद्याधर पासूसा जोहरापुरकर, नागपुर	101/
52.	रविद्र अक्षयकुमार पेंठारी, अजनगावसुर्जी	101/
53	मनोहर नेभासगाई, अजनगावसुर्जी	101/
54	जिनदास गगाराम महाजन, कारजा	101/
55	श्री पार्श्वनाथ दिगबर जैन मदिर, कारजा	101/-
56	सुरेश धनोप्या, बनियानी	101/-
57	नरेद्रकुमारजी जैन खटोड , कोटा	101/-
58	गम्भीरमलजी सुरलाया, दादाबाडी, कोटा	101/-
59	कन्हैयालालजी साकुन्या, धनावद	101/-
60	नकमीचादजी दोराया, सारोल	101/-
61	कस्तूरचन्दजी दुगेरिया, पारालिया	101/-
62.	डॉ महेंद्रकुमार विनयकुमार बगडा, बिजौलिया	101/-

कहां/क्या

पूर्वार्ध

उत्तरार्ध

परिशिष्ट

पंडित श्री नेमचंद धन्नुसा डोणगांवकर का जीवन परिचय

प्रस्तुत ग्रंथ के लेखक महाराष्ट्र स्थित विदर्भ सभाग के धर्माध्यायी धर्मपरायन तथा सामाजिक कार्यों से जुडे हुए डोणगांवकर (चवरिया गौत्र) परिवार में से है । बघेरवाल जाति के स्वनामधन्य पंडित आशाधरजी का चरित्र लिखने का आपने प्रयास पूर्ण किया ।

पडित श्री नेमचंदजी का जन्म दिनांक 7-9 1932 को देबलगाव [राजा] जि बुलढाणा श्री धन्नुसावजी डोणगांवकर इनके यहाँ हुआ । प्राथमिक शिक्षा देबलगाव में हुई । घर में धार्मिक माहौल रहने से माध्यमिक शिक्षा के लिये स्वाध्यायी पडित स्व.श्रीप्रदुम्नसावजी डोणगावकर कारजाबालों ने उन्हें प.पू.गुरुदेव आचार्य 108 श्री समन्तभद्रजी महाराज की छत्रछाया मे ले आये । श्री महावीर ब्रह्मचर्य आश्रम, जैन गुरुकुल कारजा में सन् 1947 में मौलिक तथा धार्मिक अध्ययन शुरू किया ।

सन् 1952 तक अध्ययन करने के बाद श्री बाहुबली ब्रह्मचर्य आश्रम बाहुबली ता हातकाणगले जिला कोल्हापुर में आचार्यश्री की सेवा में दाखिल हुये वहाँ न्यायतीर्थ का अध्ययन किया। वहाँ अध्ययन करके " न्यायतीर्थ " यह पदवी प्राप्त की। जैन तत्वज्ञान के अभ्यासक बने। लेखक, प्रवचन, भाषण , सगोष्ठी आदि में रुचि रहने से भारतभर में भ्रमण शुरु हुआ।

सन् 1964 में प.पू. गुरुदेव समतभद्र महाराज कारजा आश्रम प्रतिष्ठा के लिये पधारे उस वक्त श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ अतिशय क्षेत्र शिरपुर की अवस्था देखकर महाराज श्री ने पंडित श्री नेमीचदजी को शिरपुर क्षेत्र के कार्यों में जोड दिया। उस साल से आज तक वे अतरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर में निस्वार्थ सेवायोग देकर कार्यों से जुडे हैं।

सन् 1974 से अ भा दिगबर जैन तीर्थ क्षेत्र कमेटी बम्बई द्वारा सचाल्ति सर्वेक्षण कमेटी के सदस्य के रूप में कार्य किया। महाराष्ट्र , गुजरात , राजस्थान राज्य, में सर्वेक्षण किया। आज भी तीर्थक्षेत्र कमेटी के कार्यों से जुडे हैं । आपके प्रकाशित ग्रंथ इस प्रकार हैं-

1 श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर निवडक साहित्य समह

2 श्री अतरिक्ष पार्श्वनाथ शिरपुर का इतिहास

3 श्रुतावतार तथा सघभेद शोध तथा बोध

सन्मति (मराठी) में 1989 में जैन श्रामण्य का स्वरूप निबध लिखा। प्रथम पारितोषिक रु500 / का मिला। अन्य मराठी, हिन्दी पत्रिकाओं में लेख प्रसिद्ध हुये हैं।

यह सब करते-करते घरगृहस्थी व्यापार अच्छी तरह से सभाला। वहाँ भी धर्माचरन के अनुसार व्यवहार किया। साथ में पिताश्री धन्नुसावजी तथा माताजी सुदराबाई इनके मार्गदर्शन में तीर्थ क्षेत्र गुरुकुल, मंदिर आदि जगह दान भी दिया है । धर्मपत्नी स्व.सौ विद्यावती देवी इन्होंने हर एक कार्य में साथ दिया । उनके के सहृदय , सहज सरल स्वभाव से नेमीचद कार्य कर सके । सब भाई ने धार्मिक तथा सामाजिक कार्यों में उनको सहयोग दिया।

इस प्रकार सक्षेप में पंडित श्री नेमचदजी का जीवन लिखा है ।

पं. आशाधर व्यक्तित्व और कर्तृत्व

पूर्वार्द्ध

१ - पूर्व-धार्मिक एवं सामाजिक विचारधारायें

वस्तु स्वभाव को धर्म कहते हैं और धर्म कहने से उसके पालक धार्मिक जनों का अंतर्भाव हो ही जाता है क्योंकि, 'न धर्मो धार्मिकैर्बिना' धार्मिक समाज के बिना धर्म नही रहता। एक धर्म के पालक धार्मिक समाज में भी देश-काल के अनुसार भिन्न-भिन्नता पायी जाती है। वह भी धर्म के स्वरूप समझने में नही, तो उसकी साधना पद्धति भिन्न-भिन्न या कम-ज्यादा रहने के कारण ही नजर आती है।

प्रारम्भ से ही जैनधर्म के पालक क्षत्रिय तथा वैश्य रहे हैं तथा आमतौर पर चतुर्विध वर्णाश्रमि को भी धर्म पालन में प्रेरणा की गयी है। यहाँ तक कि पशुओ को भी धर्म पालना के अधिकारी माना है। अत: उनको भी उनके शक्ति के अनुसार धर्म पालन की शिक्षा दी जाती है। शूद्रो को भी धर्म पालन का उपदेश प्रथमानुयोग में पाया जाता है। अत: व्यक्ति व्यक्ति के अनुसार धर्म पालन में भिन्नता रहना स्वाभाविक है। जैसे— काक मांस का त्याग करना खदिरसार भिल्ल का धर्म पालन कहलाया, या अष्टमी चतुर्दशी के दिन हिंसा नही करना यमपाल मातग का धर्म कहलाया। प्रथम मत्स्य को जीवनदान देना मृगसेन धीवर का धर्म कहलाया। आशाधर कहते हैं—

शूद्रोऽप्युपस्कराचार वपुः शुद्ध्याऽस्तु तादृशः ।
जात्या हीनोऽपि कालादि लब्धौ ह्यात्मास्ति धर्मभाक् ॥ २२/२

धर्म के दो भेद बतलाये हैं। एक लौकिक और दूसरा पारमार्थिक। लौकिक धर्म को कुलाचार, पंथ, रूढ़ि, शुभाचार, चारित्र आदि नामों से कहा जाता है। अत: एकहि धर्म में व्यक्ति के कारण या देशकाल के कारण भिन्नता होती है। इस लौकिक धर्म का उपदेश चरणानुयोग में पाया जाता है।

पारमार्थिक धर्म को अध्यात्मिक धर्म भी कहते हैं। यह निश्चित और सदा एकरूप ही रहता है। इस पर व्यक्ति-देश-काल आदि का कोई असर नही पड़ता। इस पारमार्थिक धर्म का उपदेश प्रधानता से द्रव्यानुयोग शास्त्रो में पाया जाता है। पारमार्थिक धर्म साध्य है और लौकिक धर्म उसका साधक है। साध्य में कभी भी अन्तर नही होता ; किन्तु साधना में अन्तर पड़ा है और पड़ता रहेगा। साधना पद्धति में व्यक्ति-देश-काल के अनुसार परिवर्तन हुआ है और आगे भी परिवर्तन होता रहेगा। क्योंकि पारमार्थिक धर्म निश्चय याने ध्रुव के आत्मरूप = वस्तुस्वरूप है, तो लौकिक धर्म व्यवहार याने पर्यायरूप परिवर्तनशील (उत्पत्ति विनाश रूप) ही है। अत लौकिक धर्म में समय-समय पर परिवर्तन होते रहे तो आश्चर्य नही। लौकिक धर्म को बदलते देख अनुकूल-प्रतिकूल कहना या हर्षविषाद मानना अज्ञान का ही प्रदर्शन है और परिवर्तन को जानकर भी माध्यस्थ भाव रहना ज्ञान का द्योतक है।

ऐसे माध्यस्थ अर्थात् ज्ञानी जनों की जिज्ञासा के पूर्ति हेतु लौकिक धर्म मे परिवर्तन क्यो और कैसे हो गया ? इसका विवरण दिया जाता है।

अ ई. सन से ३०० वर्ष पूर्व चन्द्रगुप्त मौर्य के समय आज के बिहार प्रदेश में १२ वर्ष का अकाल पड़ा था। उसकी सूचना अतिम श्रुतकेवली भद्रबाहु को मिलते ही वे दक्षिण भारत मे श्रवणबेलगोला के स्थान पर समस्त सघ के साथ चले गये थे। समस्त सघ का अपने राज्य से निकल जाने का जैसा समाचार राजा चन्द्रगुप्त को मिला तो वे भी राजपाट छोड़ , मुनि बन उनके साथ श्रवणबेलगोला गये थे।

ऐसे समय मे स्थूलीभद्र आदि कुछ मुनि, हठ से बिहार प्रदेश मे रह गये थे, मौर्य राजघराने की तथा कुछ श्रावको की भी इनको वहाँ पर रहने की अनुमोदना थी। किन्तु उस बारह वर्ष के भीषण अकाल मे मुनिचर्या का निर्वाह नही हुआ। उनमे शिथिलाचार आया। वस्त्र प्रावरण भी धारण किये गये।

बारह वर्ष बीतने पर जब सुकाल आया तो कुछ साधुओ ने फिर से मुनिचर्या में छेदोपस्थापन कर लिया और कोई वैसे ही शिथिलाचारी बने रहे। दक्षिण से आये मुनि सघ के साथ उनकी बहस होने लगी। अपनी भ्रष्ट चर्या को ही साधना काल के अनुसार उचित होने की चाल चलायी गयी।

अं. तीन सौ वर्ष बाद इनमें स्पष्ट रूप से संघ भेद हुआ और वे सितपट कहलाने लगे तथा जो संघ नग्नत्व का ही समर्थन करता रहा उनको मूल संघ के नाम से संबोधा गया। इसके पहले दोनों संघ को निग्गण्ठ (निर्ग्रन्थ) इस नाम से सबोधा जाता था। इस निग्गण्ठ सघ का अशोक तथा खारवेल के शिला लेखो में उल्लेख पाया जाता है। आगे इनमें गुरु के स्वरूप के साथ-साथ शास्त्र मे भी मतभेद दिखाना प्रारम्भ हुआ। समय-समय इन दोनों संघ को एक करने का प्रयास होता रहा तथा ऐसे मध्यस्थी करने वाले समूह को 'यापनीय' या 'कार्मिक' नाम से संबोधा गया।

यापनीय सघ को कोई खास सफलता नही मिली, किन्तु ये दोनों संघ हटवादी बनकर एक दूसरो पर दोषारोपण करने लगे। अपना ही सच्चा ऐसा आभास निर्माण करने के लिये जनसंपर्क बढ़ाने लगे। इसके लिये साधु का निवास गॉव में मदिर-मठो में होने लगा। डॉ. हीरालाल जैन लिखते है— "जैन मुनि आदितः वर्षा ऋतु के चातुर्मास छोड़ अन्य काल में एक स्थान पर परिमित दिनो से अधिक नही रहते और वे सदा विहार किया करते थे। वे नगर में केवल आहार व उपदेश के लिये ही आते थे और शेष काल वन-उपवन में ही रहते थे। किन्तु धीरे-धीरे पॉचवी छठी शताब्दी के पश्चात् कुछ साधु चैत्यालयों मे स्थायी रूप से निवास करने लगे। इससे श्वे. समाज मे वनवासी और चैत्यवासी सप्रदाय उत्पन्न हो गये। दिगम्बर सम्प्रदायो मे भी प्रायः उसी काल में कुछ साधु चैत्यों मे रहने लगे।" (भा. स. जैन यो. ४५)

"ज्यादा जनसपर्क का परिणाम ऐसा हुआ कि , श्रावको को वे मुहूर्त निकाल कर देते थे, निमित्त बतलाते थे, आहारदान के लिए खुशामद करते और पूछने पर भी सत्यधर्म नही बतलाते थे तथा प्रवचन के बहाने विकथाएँ करते थे। वैद्यक मत्र, तत्र, गडा , तावीज आदि में कुशल होते थे। ये साधु परस्पर विरोध रखते थे और श्रावको को सुविहित साधु के पास जाते हुए रोकते थे। शाप देने का भय दिखाते थे और चेले के लिये एक-दूसरों से लड़ मरते थे।" (जैन सा. इ. ४७०-७१)

प. नाथूराम प्रेमी के कथनानुसार ऐसी स्थिति पहले श्वेताम्बरों के साधुओं की हुयी। इसका आधार आचार्य हरिभद्र (७वीं शती) के संबोध प्रकरण का

लिया है। दिगम्बरो के चैत्यवास की प्रवृत्ति के कारणों पर विशद प्रकाश डालते हुये डॉ हीरालाल जैन लिखते हैं– "चैत्यवास की प्रवृत्ति आदितः सिद्धान्त के पठन पाठन व साहित्य सृजन की सुविधा के लिये प्रारम्भ हुई होगी किन्तु धीरे-धीरे वह साधुवर्ग की एक स्थायी जीवन प्रणाली बन गयी, जिसके कारण नाना मदिरो मे भट्टारकों की गद्दिया व मठ स्थापित हो गये। इस प्रकार भट्टारकों के रूप मे आचार मे शैथिल्य व परिग्रह अनिवार्यतः आ गया।" (भा. सं. जै. यो. ४५)

वसतिका या चैत्यवास की पुष्टि पं. आशाधर सागार धर्मामृत के द्वितीय अध्याय मे करते हैं। यथा– "इस पचम काल में वायु मंडल के द्वारा उड़ती हुई रुई की तरह चचल हुआ जगलवासी मुनियों का मन वसतिका के बिना धार्मिक क्रियाओं मे उत्साहित नही होता ॥ ३६ ॥ स्वाध्याय काल के बिना शिष्यो की तरह गुरुओ की भी विचार शून्य बुद्धि देखते हुये भी शास्त्र या मोक्षमार्ग के सबध में अन्धे के समान आचरण करती है। अर्थात् शिष्य की तो बात ही क्या पढ़ाने वाले गुरु भी यदि शास्त्रचितन निरन्तर न करें तो वे भी तत्त्व को भूल जाते हैं– उल्टा सीधा बतलाने लगते हैं। इसलिए स्वाध्याय शाला अत्यन्त आवश्यक है ॥ ३९ ॥"

श्वेताम्बर सम्प्रदाय मे न केवल मुनियो की वस्त्रग्रहण की मात्रा बढ़ी, किन्तु धीरे-धीरे तीर्थंकरो की मूर्तियों मे भी कोपीन का चिन्ह प्रदर्शित किया जाने लगा तथा मूर्तियों का ऑख, अगी-मुकुट, आदि द्वारा अलकरण भी प्रारम्भ हुआ। इस कारण दिगम्बर और श्वेताम्बर मन्दिर और मूर्तियाँ, जो पहले एक ही रहा करते थे, अब पृथक् पृथक् होने लगे। ये प्रवृत्तियाँ सातवी आठवी शती से पूर्व नही पायी जाती। अर्थात् आठवी शती तक दिगम्बर व श्वेताम्बर दोनों के मदिर मूर्तियाँ प्रायः एक ही थे। इसकी पुष्टि अनेक शिलालेखों से तथा ताम्र पत्रों से भी होती है। इसका अर्थ यह ही हुआ कि यहाँ तक प्रायः पूजन पद्धति भी एक सी चलती रही किन्तु जब मूर्तियों का स्वरूप ही बदल गया तो पूजा पद्धति भी बदल गयी।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अंगी-मुकुट आयेतो दिगम्बर सम्प्रदाय में फूलों की माला, पुष्प का चरण पर चढ़ाना प्रारम्भ हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में प्रक्षाल के बाद भी चंदन के टीके लगने लगे, केशर चढ़ने लगा तो दिगम्बर समाज में चंदनानुलेपन, पंचामृताभिषेक प्रारम्भ हुआ। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में शासन देवों की मान मान्यता बढ़ी तो दिगम्बर समाज मे उसका प्रचलन प्रारम्भ हुआ। मंत्र-तंत्र का प्रभाव दिखाया गया और उसके लिये देवी-देवता क्षेत्रपाल आदि की पूजा दोनों सम्प्रदाय में बढ़ती गयी। पूजा पद्धति में वैदिक पूजा प्रचलन का भी प्रभाव हमारे ऊपर पड़ा और हमारी वीतराग पूजा पद्धति पूर्णतया सराग हो गयी।

ई. सन् १०वी से १२वीं सदी तक वैदिक आचार विचार का ऐसा प्रभाव पड़ा कि उनमें और हम में विशेष ऐसा कोई भेद न रहा। सभी सम्प्रदायों में पुराण मतवादी भी थे, अतः उनका भी अन्तस्थ संघर्ष होता रहा। उसी कारण सभी मतवादियों मे भीतर अनेक मतभेद निर्माण हुये। इस सबंध मे आचार्य परशुरामजी के शब्द हैं– "उस समय न केवल बौद्ध तथा जैन ही, अपितु स्वय वैष्णव, शाक्त, शैव जैसे हिन्दू सम्प्रदायों ने भी अपने-अपने भीतर अनेक मतभेदों को जन्म दे रखा था।" (उ. भा. स. २६)

जब विभिन्न सस्कृतियाँ एक क्षेत्र, एक काल में अनुकूल व प्रतिकूल घनिष्ठतम सम्पर्क में आती हैं तो उनमे परस्पर न्यूनाधिक प्रभाव पड़ता ही है एव उनमें परस्पर बहुत कुछ आदान प्रदान भी होता है। जैनधर्म और संस्कृति नेभी प्रत्यक्ष और परोक्ष रूप से अन्य भारतीय संस्कृतियो को प्रभावित किया है, तथा वह भी अन्य के प्रभाव से अछूती नही रही। जैनियो के अल्प संख्याक होने के कारण उन पर यह प्रभाव विशेष देखने में आता है। भट्टारक युग में व्यापक समाज के साथ अपना तालमेल बैठाने के लिये शैव और वैष्णव क्रियाओं का अनुकरण किया गया। इसके कारण कुछ अन्तस्थ भेद भी निर्माण हुए।

योगा-योग की बात है कि जिस समय समाज अनेक मतभेदों में विभक्त हो गया था, तब अनेक धर्मान्धता के कारण देश कैसा एक संघ रह सकता है? प्रत्यक्ष राजस्थान में पृथ्वीराज चौहान के विरुद्ध जयचद राठौड़ खड़ा हुआ। उसने मुस्लिम शासकों को कई बार आक्रमण के लिये प्रोत्साहित किया। अन्त

में आक्रमक पृथ्वीराज को बंदी बनाने में तथा उसका और जयचद का भी घात करने में सफल हुए।

मुस्लिम शासन के साथ इस्लाम धर्म के प्रचार का भी उन्होंने प्रारम्भ किया और इसके लिए भारतीय धर्मों पर उन्होने कई बधन डाले। इस राजनैतिक परिस्थितिवश जैनधर्म में भी मठाधीश जैसे भट्टारक प्रथा का संवर्धन हुआ और उनका तत्कालीन राजा तथा प्रजा पर (समाज पर) प्रभाव पड़ता गया। परिणाम स्वरूप दिनों दिन उनकी पुष्टि के साथ अनेक विकृतियो का भी पोषण होने लगा। सच्ची अध्यात्मिक धर्मदृढ़ता का अभाव ही होता जा रहा था। तब पंडित आशाधर ने विद्यापीठ निर्माण की प्रेरणा कर आसेतु हिमाचल संपर्क रखा और सभी दिगम्बर जैन समाज को एक सूत्र में बाधने का प्रयास किया था। अध्यात्म प्रधान ऐसी एक-सी पूजा पद्धति प्रचलित की थी।

आशाधर किसी भी विषय मे आग्रही नही थे, वे तो पूर्व परम्परा के ही सम्यक् अध्येता और अनुगामी विद्वान रहे हैं। यद्यपि वे प्रसिद्धि पराङ्मुख थे तथापि अठारहवी शती तक उनका प्रभाव सर्वत्र दिखा देता ही है। ज्योतिषाचार्य डॉ. नेमिचन्द्र (आरावाले) लिखते हैं कि – "आशाधर जैसा बहुश्रुत विद्वान अठारहवी शती के अन्त तक कोई नही हुआ। प. टोडरमलजी के बाद ही उनका प्रभाव कम दिखाई देता है।"

आइये , बहुश्रुत आशाधर के जीवन का अवलोकन करे–

१ - पं. आशाधरजी का मूल वंश तथा बघेरवाल जाति

पं. आशाधरजी ने अनगार तथा सागार धर्मामृत की प्रशस्ति मे अपने पिता का नाम सल्लक्षण तथा कुल व्याघ्रेरवाल बताया है। यथा–

"श्री रत्नयामुपपादि तत्र विमल व्याघ्रेरवालान्वयात् ।
श्री सल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमय श्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥

किन्तु त्रिषष्टि स्मृति शास्त्र की प्रशस्ति में 'श्री मल्लक्षण' ऐसा उल्लेख कर तल टीपण में नोट दी है कि "लखणसाह कवेः पितुः नाम।" इससे स्पष्ट

है कि पं. आशाधरजी के पिता को लखणसाह ऐसा भी सबोधा जाता था। 'लखणसाह' यह 'लक्ष्मण साहू' का ही अपभ्रंश रूप है। अतः श्री सल्लक्षण, श्रीमत् लक्षण या श्री लक्ष्मण ये एक व्यक्ति वाचक ही नाम हैं। ये मण्डलकर दुर्ग में रहकर किसी राजपद के साथ संरक्षण आदि का भार संभालते थे और अजमेर के पृथ्वीराज चौहान से सम्मानित भी थे।

जब ई. सन् ११९२ में पृथ्वीराज चौहान का अन्त हुआ और मण्डलकर दुर्ग पर भी कुतुबुद्दीन ऐबक या महमूद गौरी का अमल प्रारम्भ हुआ तब बंधु दुर्लभ (दुर्लभराज) को मण्डलकर में छोड़कर इन्होंने अन्यत्र जाने का तथा देशसेवा करने का निश्चय किया। पं. आशाधरजी लिखते हैं कि "स्वेच्छा से नरेश के द्वारा सपादलक्षदेश के व्याप्त हो जाने पर सदाचार-नाश के भय से बहु परिजन लोगो के साथ विन्ध्यवर्म राजा के मालव मण्डल में आकर धारानगरी मे बस गया और जिसने वादिराज प. धरसेन के शिष्य प. महावीर से जैन-प्रमाण (न्याय) शास्त्र तथा जैनेंद्र व्याकरण पढ़ा।" (प्रशस्ति श्लोक ५)

इससे प. आशाधरजी का मडलकर छोड़कर धारानगरी आने का और सूक्ष्म शास्त्राध्ययन करने का हेतु स्पष्ट होता है। इतना होने पर भी पडितजी ने प्रशस्ति में पिता के कार्य के बारे में कोई उल्लेख नही किया, यह बात मन को खटकती है तथा सशय निर्माण करती है कि क्या सलखण घूमते रहे? या अन्यत्र थे? यदि हॉं तो ये लक्ष्मण कहाँ-कहाँ रहे होगे? इस समय के पूर्व देवगिरि के यादवो के पदाधिकारियों में छुद्य तथा पुत्र (भतीजा) महीधर का नाम मिलता है और सं. १२४५ के दरम्यान भिल्लम यादव के पंच सेनापतियो मे एक नाम 'सलखण' का भी मिलता है।

तथा मालव नरेश अर्जुन वर्मा का वि. सं. १२७२ (ई. सन् १२१६) का एक माण्डवगढ़ मे ताम्रपत्र मिला है। जिसके अन्त में लिखा है– "रचितमिदं महा साधि विग्रह राजा सलखण समेतेन राजगुरुणा मदनेन।" 'महासाधिविग्रह याने परराष्ट्र मत्री राजा सलखण के साथ राजगुरु मदन ने इसकी रचना की।' समय का अभ्यास से ये सभी उल्लेख पंडितजी के पिताश्री सलखण के ही जान पड़ते हैं। इससे उनके राजकारण पटुत्व का प्रमाण ही नजर आता है। हो सकता है कि अर्जुन वर्मा ने उन्हें 'राजा' यह पदवी देकर सम्मानित किया होगा।

इनके पश्चात् उनके पौत्र छाहड को उनका पद मिला। उस ओर का संकेत पडितजी 'रंजितार्जुनभूपतिः।' इस शब्द से करते हैं।

पं. आशाधरजी रत्नत्रय विधि कथा की प्रशस्ति में लिखते हैं कि–

साधोः मंडित वाग (ल) वंश सगणैः सज्जैनचूडामणेः ।
मालाख्यस्य सुतः प्रतीतमहिमा श्रीनागदेवोऽभवत् ॥१॥
यः शुल्कादिपदेषु मालवपतेः नात्रातियुक्तं शिवम् ।
श्री सल्लक्षणया स्वमाश्रितवसः को प्रापयन्न श्रियम् ॥२॥

सारांश– "साधु (हु) जनों मे मडित वाग (व्याघ) वश में या मडितवाल वंश मे साहु मालु का पुत्र नागदेव हुआ। वह मालवाधिपति देवपाल का शुल्काधिकारी था। श्री सल्लक्षण के आश्रय को आया हुआ कौन सपत्ति को प्राप्त नही होता है ?'

यह एक ही उल्लेख क्यो न हो सलक्खण के राजपिण्ड की ओर तथा साधर्मी वात्सल्य की ओर स्पष्ट संकेत करता है।

यहाँ सवाल यह है कि , ये सलक्खण या लक्ष्मण कौन थे, उनके पूर्वज कहाँ के तथा किस वश के थे ? जबतक भाटों से इस सबध मे निश्चित प्रमाण सामने न आते, तबतक बिजौलिया शिलालेख पर नजर डालकर विचार किया जाता है। यह शिलालेख वि स १२२६ का है, तथा इसमे प्राग्वाट वश की परम्परा और कार्य का तपसील है। उसमे यह भी कहा गया है कि , सीयक ने मडलकर दुर्ग को विभूषित किया था। इसके दो अर्थ होते हैं, (१) सीयक ही सर्वप्रथम मडलकर दुर्ग मे जाकर राजकाज सभालने वाले होंगे। (२) या सीयक द्वारा इस दुर्ग का जीर्णोद्धार होकर वहाँ श्री नेमिजिन-चैत्यालय की स्थापना करने से सीयक को उस दुर्ग को विभूषित करनेवाला कहा है। इसकी पुष्टि आज भी किले के दिगम्बर जैन मदिर तथा मूर्तिलेखो से होती है। यथा–

(१) पच परमेष्ठी-पाषण- सफेद-"सवत् ११४१ स्राविका जेजा (जीजा)" लगता है, यह सीयक की माता मह (दादी) का नाम हो जिसने विधवा होने पर ब्रह्मचर्य या क्षुलिकादीक्षा धारण की हो और कर्मशाति के लिये यह मूर्तिप्रतिष्ठा की हो या माता मह के आदेशानुसार ही सीयक ने वहाँ मदिर तथा मूर्ति प्रतिष्ठा की हो।

प्रश्न– क्या स. ज्ञान का मात्र सम्यग्दर्शन के साथ ही अविनाभावी संबंध है या स. चारित्र के साथ भी है ?

उत्तर– ज्ञान जैसा सम्यक्त्व का सहचारी है वैसा स. चारित्र का भी सहचारी जानना। यथा- "अत्र सम्यक्त्व सहचारिज्ञानं च चारित्र सहचारिज्ञानं सूत्रकारेणोपवर्णित मवंसेयम्।" (अन. ध. ज्ञा. टीका ६४६)

तथैव अन. ध. चतुर्थ अध्याय के चारित्राराधना में स्पष्ट कहते हैं कि, जैसे सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान अज्ञान ही होता है वैसा स. ज्ञान के बिना चारित्र भी अचारित्र ही होता है। यथा–

ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सद्दर्शनं यथा।
चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा॥३॥

शंका– चारित्राराधना में सयमाचरण चारित्र का प्ररूपण है। अत: जो सयम सम्यग्ज्ञान के बिना होता है वह असंयम या मिथ्यासयम ही है, और सम्यग्ज्ञान के साथ जो सयम होता है उसे स. चारित्र जानना, ऐसा भाव यहाँ सूचित होता है। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के समय ही स. चारित्र की उत्पत्ति का नियम नही कहा है। इसीलिए तो ऊपर सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान का ही अविनाभावी संबंध बताया है।

समाधान– ऊपर जो कथन है वह दो आराधना में चारों आराधना का अतर्भाव कैसे होता है, उसका मात्र सूचक है। इससे रत्नत्रय के युगपत् उत्पत्ति मे कालभेद की शंका नही लेना। अथवा तप के साथ जो चारित्र लिया है वह संयमाचरण ही है। इस सयमाचरण की उत्पत्ति स. ज्ञान के साथ युगपत् होने पर भी क्रम से मानी जाती है। यथा–

सम्यक्त्वस्यावलंबेन स्वयमुत्पद्य यत् क्रमात्।
उत्पादयति चारित्रं तदहं ज्ञानमाश्रये ॥ ५ चा. र. त्र. वि.

सम्यक्त्व के अवलंबसे जो स्वय उत्पन्न होता है और क्रम से चारित्र को भी उत्पन्न कराता है उस ज्ञान का मैं आश्रय लेता हूँ।

शंका- पंडितजी भी दर्शन- ज्ञान की उत्पत्ति तो एक साथ ही मानते हैं किन्तु स. चारित्र की उत्पत्ति क्रम से होती है, ऐसा मानते हैं। इसीलिये यहाँ 'क्रमात्' यह स्पष्ट निर्देश किया है।

समाधान- ऐसा नहीं है। उसका सामान्य अर्थ यही है कि, 'जिस क्रम से ज्ञान में सम्यकता आती है उसी क्रम से चारित्र में भी सम्यकता आती है।' अथवा - जैसे सम्यग्ज्ञानरूप कार्य का कारण सम्यग्दर्शन है वैसे सम्यक्चारित्ररूप कार्य का कारण सम्यग्ज्ञान है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ अनन्तर उत्तर समय उत्पन्न होने वाली चारित्रगुण की पर्याय सम्यक्चारित्र के रूप ही होती है। इस अर्थ में कारण कार्य की अपेक्षा पूर्व उत्तरवर्ती ऐसा क्रम माने तो बाधा नही आती है। राजवार्तिककार अकलंकदेव भी ऐसा आशुकालभेद स्वीकार करते ही हैं।

अथवा- क्रम शब्द का अर्थ पद याने चरण भी होता है, इस अर्थ में क्रमात् = चरणात् ऐसा अर्थ करने पर 'स्वरूपे चरणं चारित्रं। इस रूप में "ज्ञान जब सम्यक्त्व का अवलंब लेता है तब स्वय जो सम्यग्ज्ञान रूप में उत्पन्न होता है वह स्वरूप में अर्थात् ज्ञान का ज्ञान में रमण रूप जो स्वरूपाचरण = सम्यक्त्वाचरण चारित्र को उत्पन्न करता है, उस ज्ञान का मैं आश्रय लेता हूँ। ऐसा पंडितजी का आशय समझना।"

अन. ध. के द्वितीय अध्याय के श्लोक ९५ में पंडितजी कहते हैं कि, "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता को जो मोक्षमार्ग न मानकर विकलता को मोक्षमार्ग मानते हैं वे सात प्रकार के मिथ्या दृष्टि हैं।"

प्रश्न- सम्यग्दर्शनादि में एकता तो पांचवें गुण स्थान से आती है इसी कारण देशव्रती-सकलव्रती को मोक्षमार्गी कहा है। अतः चतुर्थ गुण स्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ स. चारित्र की एकता कैसी मानना ?

उत्तर- सभी अंतरात्मा मोक्षमार्गी ही है, तथा अविरतसम्यग्दृष्टि को चाहे जघन्य कहें किंतु अंतरात्मा ही कहते हैं। इसी कारण छहढालाकारने 'जघन कहे अविरत समदृष्टि तीनों शिवमगचारि।' ऐसा स्पष्ट कहा है। चौथे गुण स्थान से

ही संवर का प्रारंभ माना है, अत: वहाँ से शुद्धात्म परिणतिरूप चारित्र को मानना युक्त ही है। पंडितजी त. श्लो. १-५४ की कारिका उध्दृत कर स्पष्ट करते हैं कि 'चर्यात्वं कर्महन्तृता।' कर्मों का अभाव ही सम्यक्चारित्रका द्योतक है। अत: जहाँ संवर है वहाँ स. चारित्र है।

आराधना, भक्ति, स. चारित्र, प्रवृत्ति आदि एकार्थवाचक है। यथा—

वृत्तिर्जातसुदृष्ट्यादेस्तद्गतातिशयेषु वा।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिरा राधनोच्यते॥ ९८/१ अन.ध.

उत्पन्न सम्यग्दर्शन आदि के उद्योतन (प्रकाशन - अनुभवन) में तथा तत्संबंधी अतिशयों में जो प्रवृत्ति है उसी का नाम भक्ति या आराधना है।

जहाँ 'चारित्रं खलु धम्मो' ऐसा कहा है वहाँ भी सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त चारित्र को ही धर्म कहा है। ऐसी एकता को ही शुद्धोपयोग कहते हैं। यथा— "धर्मे, सम्यग्दर्शनादि यौगपद्य प्रवृत्तैकाग्रत्व लक्षणे शुद्धात्मपरिणामे." (अन. ध. २४/१ टीका)

यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत्प्रवृत्ति का नाम ही धर्म, शुद्धात्म परिणाम है, ऐसा स्पष्ट किया है।

तथैव— धर्म का अर्थ विशुद्धि ऐसा भी होता है, वह विशुद्धि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ही होती है; जो कि स्व के आश्रय से ही होती है। यथा - "धर्मः पुसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्र रूपा, स च स्वां सामग्री प्राप्य भवति।" (अन. ध. ९०/१)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों से ही मोक्ष तत्व की याने इष्टार्थ की सिद्धि होती है। जैसे रोग से मुक्ति पाने के लिये औषधीका श्रद्धा ज्ञान और सेवन यह तीनों ही आवश्यक है। यथा—

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्वमिष्टार्थ सिद्धिकृत्।
समस्तैरेव न व्यस्तै रसायन मिवौषधम्॥ ९४/१ अन. ध.

शंका— अविरत सम्यग्दृष्टि को यदि सम्यक्चारित्र का सद्भाव माना जाय तो विरति रूप सम्यक्चारित्रका महत्व कम हो जायेगा, और उसके स्वीकार में रुचि भी नहीं होगी।

समाधान– सम्यक्चारित्र के जघन्य-मध्यम- उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य स. चारित्र, देशवती को मध्यम तथा सकल व्रती को उत्कृष्ट चारित्र का सद्भाव मानने में कोई बाधा नही है। चारित्र के इस तरतमसद्भाव के कारण ही इनको जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र कहा है। जहाँ मोक्ष के तीनों गुणों का संयोग होता है उनको ही पात्र कहा है। यथा–

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारण गुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टिः विरताविरतश्च सकल विरतश्च ॥ पु. सि.

अत: जहाँ स. चारित्रगुण का सद्भाव है वहाँ उसके उत्कृष्टता का आदर होगा ही होगा। उस तरतम भाव को वे उपादेय ही मानकर अग्रसर होंगे। तथा स्वरूपाचरण चारित्रवाला सयमाचरण को धारण करने की भावना में तत्पर होता ही है। यथा– तत्रादौ सम्यक्ताराधना प्रक्र में मुमुक्षुणा स्वसामग्रीतः समुभ्दूतमपि सम्यग्दर्शन मासन्नभव्यस्य सिद्धिसपादनार्थं आरोहत्प्रकर्षचारित्र अपेक्षत इत्याह - सिद्धौ कस्यचि दुच्छ्रयत् स्वमहसा वृत्त सुहन्मृग्यते।" इसका तात्पर्य यह है कि, आसन्नभव्य ऐसे मुमुक्षु जीवो को अपने ही निमित्त से उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन भी उत्तरोत्तर उन्नतिशील चारित्र की अपेक्षा करता है। क्योकि मोक्ष मार्ग मे ऊपर चढ़ने के लिए स. दर्शन का चारित्र ही मित्र है। चारित्र के आधार बिना मोक्ष मार्ग में वृद्धि नही है।

इसी कारण चारित्र की महिमा का वर्णन करते हुये पडितजी लिखते हैं–

अहो - व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम्।
उद्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक् ॥ २०/४ अन. ध.-

अहो, सयमाचरण चारित्र की महिमा का क्या वर्णन करे ? सम्यक्दर्शनको भी उत्पन्न होते समय, उत्पन्न होने पर सातिशयता लाने के लिये और उसका फल प्राप्त करने के लिये जिसके मुख के तरफ अधीरता से देखना पड़ता है, उसका ही नाम विरति है।

सा. ध. के मंगलाचरण मे ही पंडितजी प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि उत्कृष्ट सयमाचरण के धारी ऐसे यतिधर्म के जो अनुरागी है उनके धर्म को अर्थात् श्रावक धर्म को सविस्तार कहता हूँ।

इस तरह सम्यग्दर्शन के साथ सद्ज्ञान और सच्चारित्र की भी उत्पत्ति युगपत् जानकर उसके वृद्धि के लिये तपाचरण करने की प्रेरणा पंडितजी देते हैं–

श्रद्धानं पुरुषादितत्वविषयं सद्दर्शनं बोधनं।
सज्ज्ञानं कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम्॥
तत्पूर्वं व्यवहारतः सुचरितं तान्येव रत्नत्रयं।
तस्याविर्भवनार्थमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः॥ अन. ध. ९३/१

जीवादि सात तत्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, उन तत्वों को समझना ही सम्यग्ज्ञान है, तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक कृतकारित अनुमोदना से हिंसादि पापों से दूर होना ही व्यवहार सुचारित्र है, (निश्चय चारित्र तो स्वरूपाचरण ज्ञानदर्शनरूप ही है), इनको ही रत्नत्रय कहते हैं। इसके अभिवृद्धि के लिये किये ही तप का आविर्भाव कहा है।

प्रश्न– हिंसादि से दूर होना तो संयमाचरण में अंतर्भूत है। विरति के बिना हिंसा का त्याग नही और हिंसा के त्याग बिना सुचरित्र नही । अतः अविरतसम्यग्दृष्टि को सुचरित्र कैसे सभव है ?

उत्तर– हिंसा दो प्रकार से होती है। एक हिंसा परिणमन रूप और दूसरी हिंसा से अविरमण रूप। यहा चौथे गुण स्थान मे संकल्पी हिंसा रूप परिणमन का अभाव है। इस अपेक्षा से सुचरित्र ही है। यथा–

"अथ, हिंसाया· परिणतिरिव अविरतिरपि हिंसात्वात् तत्फलप्रदा इति, हिंसा न करोमीति स्वस्थंमन्यो भवान्माभूदिति ज्ञानलवदुर्विदग्ध बोधयति–

स्यान्न हिंस्यां न नो हिंस्यामित्ये व स्यां सुखीति मा।
अविरामोऽपि यद्वामो हिंसायाः परिणामवत् ॥३२/४ अन. ध.

हे सुख की इच्छा करने वाले आत्मन्। 'मैं यदि अहिंसा का पालन नही करता तो हिंसा भी नही करता, अतः मुझे अवश्य सुख प्राप्त होगा' ऐसा मानकर मत बैठ क्योंकि हिंसा के परिणाम की तरह 'मैं प्राणी के प्राणों का घात नही करूगा' इस प्रकार के संकल्प का न करने रूप अविरति भी दुःखकारी है।

अमृतचंद्राचार्य ने पु. सि. उ श्लोक ४८ में इसी भाव को स्पष्ट किया है— "हिंसाया: अविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।"

अत: संकल्पी हिंसा का जहाँ अभाव ही है, वहाँ सुचरित्र मानना युक्त ही है। तथा पूर्व के प्रकरण में स्पष्ट किया है कि सातिचार व्रताचरण भी पाक्षिकाचार याने अविरतसम्यग्दृष्टि के सदाचार रूप ही है। रत्नत्रयव्रतविधान में पं. जी लिखते हैं कि 'समस्त पापों के अभाव रूप संवेग परिणाम से अलंकृत सम्यग्दर्शन होता है।' यथा—

संवेग मुख्यै: परमै: गुणौघैरलंकृतं ध्वस्तसमस्त पापं।
साष्टागमर्चामि सुदर्शनं तत्..... ॥५३ (दर्शनाधिकार)

अरे, मिथ्यात्व जैसा महापाप जहाँ नष्ट होता है वहाँ अन्य पापों की क्या कथा ? ऐसे सम्यग्दर्शन से संपन्न सुचरित को हमारा वन्दन हो। यथा— 'वन्दे दर्शनगोचर सुचरितं मूर्ध्ना नमन्नादरात्।' र. व्र. वि.

जहाँ मिथ्यात्व के सद्भाव मे ज्ञान के साथ चारित्र भी मिथ्या कहलाता है, वहाँ सम्यक्त्व के सद्भाव में सम्यग्ज्ञान के साथ सुचरित्र की उत्पत्ति जानना और मानना यही सही बोधि दुर्लभ भावना है।

१० - सम्यक् रत्नत्रय का स्वरूप तथा कार्य एकरूप

पिछले प्रकरण में रत्नत्रयकी उत्पत्ति युगपत ही होती है, यह समझाया। यहाँ दर्शन-ज्ञान और चारित्र का कार्य भी एक है इसको समझाते हैं।

प्रश्न– पापो का नाश तो सम्यक् चारित्र से ही होता है। उसे धारण करे बिना उसकी उत्पत्ति युगवत् कैसी ?

उत्तर– सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की भी उत्पत्ति होती है। सम्यग्दर्शन के कारण विद्यमान ज्ञानगुण जैसा सम्यक् होता है वैसा चारित्रगुण भी सम्यक् चारित्र हो जाता है। रत्नत्रय से पाप का नाश होता ही है, और मात्र सम्यग्दर्शन का वह कार्य है ऐसा भी कहा जाता है। यह अविनाभाव संबंध के कारण एक गुण का दूसरे गुण पर आरोप ही है। यथा—

संवेगमुख्यैः परमैः गुणौघैरलंकृतं ध्वस्त समस्त पापम्।
अष्टांगमर्चामि सुदर्शनं तद् धूपैः सुगंधीकृतदिग्विभागैः ॥ ५३ ॥ र. त्र. वि.

अर्थ– संवेग प्रधान गुणों से सुशोभित तथा समस्त पापों से रहित ऐसे अष्टांग सम्यग्दर्शन की जिनसे सब दिशाएं सुगंधित होती हैं ऐसे दशांग धूपों से पूजा करता हूँ।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन की बाह्य पहिचान जिन चार लक्षणों से होती है, उन प्रशम-संवेग-अनुकंपा और आस्तिक्य में मात्र आस्तिक्य ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान का दर्शक है। तथा प्रशम-संवेग-अनुकंपा सम्यक् चारित्र के ही अंग हैं। यथा–

यो रागादिरिपून्निरस्य रभसा निर्दोषभावं गतः।
संवेगच्छल मास्थितो विकचयन् विश्वक् कृपांभोजिनीं ॥
व्यक्तास्तिक्य पथ स्त्रिलोक महितः पंथा शिवश्रीजुषा-
माराद्धुं प्रणतीक्षितैः स भवतः सम्यक्त्व सूर्योऽवतात् ॥ ८३ ॥ र. त्र. वि.
तथा ६५/२ अन. ध.

जो रागादि शत्रुको तत्काल दूर कर निर्दोषता को प्राप्त हुआ है (ऐसा प्रशम) जो संवेग भाव से युक्त है, जिसने संपूर्ण तथा कृपारूपी कलिका को विकसित किया है, तथा जो त्रिलोक पूज्य ऐसा मुक्ति पंथ (सप्त तत्वों का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान रूप) जिनसे निर्णीत किया है ऐसा सम्यक्त्वसूर्य आप सभी का कल्याण करे।

यहां विशेष इतना समझना की, जैसे रागद्वेष आदि कषाय, नो कषाय चारित्र के ही घातक हैं, वैसे इंद्रिय विषय भोग (असंवेग) और हिंसादि पाप रूप प्रवृत्ति (अविरति या अनुकंपा अभाव) सम्यक् चारित्र का ही घात करने वाली है। अतः जहां प्रशम, संवेग और दया का एकदेश प्रादुर्भाव होता है, वहां सम्यक् चारित्र का सद्भाव ही समझना चाहिए।

अष्टांग सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते समय पंडितजी कहते हैं कि सम्यग्दर्शनाराधना रूप, सम्यग्दर्शनाचार ही सम्यक् चारित्र है। यथा–

यो कस्मादपि नो बिभेति , न किमप्याशंसति क्वाप्युप-
क्रोशं नाश्रयते, न मुह्यति, निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा।
मार्गान्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते,
माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदा साष्टांग- सद्दर्शनम् ॥ ८१ ॥ र. व्र. वि.

(१) जिसको किसी भी प्रकार का भय नही है, (२) जो किसी की भी (पुण्य की व मोक्ष की) अभिलाषा (राग) नही करता, (३) जो किसी पर भी द्वेष-ग्लानि नही करता, (४) जो मूढ़ता (मोह) मूर्छारूप परिणाम नही करता, (५) आत्मगुणों का ही गुणगान करता है या पर दोषकथन न करके वचनगुप्ति-भाषासमिति का पालन करता है, (६) जो मोक्ष मार्ग में ही अपने को (तथा परको भी) देखता है याने लगाता है, (७) जो अपने समान सभी को शक्ति संपन्न करता है, और (८) जो मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिये सदा सभी के विकास की ही भावना भाता है वही साष्टांग सम्यग्दृष्टी जानना।

इससे स्पष्ट होता है कि पंडितजी दर्शनाचार, ज्ञानाचार तथा चारित्राचार ऐसी तीन धाराएं युगपत् मानते थे। जहां आगम प्रामाण्य याने आप्तवचन प्रमाणरूप ज्ञानधारा उत्पन्न होती है वहां आज्ञा सम्यक्त्व रूप दर्शनाचार तथा आज्ञाविचयरूप धर्मध्यान (चारित्राचार) का अस्तित्व स्वयंमेव होता ही है।

यहां इतना विशेष समझना कि, (१) जहां संशयरहित सत् ज्ञान होता है वहां निशंकित दर्शनाचार तथा निर्भय चारित्र होता है, (२) जहां शंकारहित सम्यग्ज्ञान होता है वहां निःकांक्षित दर्शनांग तथा हास्य-रति नोकषाय और रागरूप मायालोभ कषायका यथा संभव अभाव से सम्यक् चारित्र होता है। (३) जहां विभ्रमरहित सज्ज्ञानाचार होता है वहां भी निर्विचिकित्सा ये दर्शनाचार तथा शोक अरति जुगुप्सा ये नोकषाय और द्वेषरूप क्रोधमान कषाय के अभाव के कारण भी सम्यक् चारित्र होता ही है। (४) जहां विपरीत (मोह) रहित सज्ज्ञान होता है वहां अमूढदृष्टि दर्शनाचार तथा षडायतन भक्ति रूप चारित्राचार होता ही है। (४) जहां उपधान समृद्धि रूप ज्ञानाचार होता है वहां उपबृहण दर्शनाचार तथा स्वग्रहण-(पर ग्रहण का अभाव) रूप (स्व पर भेद विज्ञान से उत्पन्न) मनोगुप्ति, संकल्पविकल्प रहित अहिंसारूप चारित्र होता ही है। अथवा जहां उपगूहण दर्शनाचार होता है वहां वचनगुप्ति, भाषासमिति, सत्यव्रतरूप चारित्र

रहता ही है। (६) जहां विनयमहात्म्य रूप ज्ञानाचार होता है वहां सुस्थितिकरण रूप विनयदर्शनाचार तथा विनय रूप चारित्राचार, तपाचार, उपचाराचार होता ही है। (७) जहां बहुमानसमृद्धिरूप ज्ञानाचार होता है, वहां वात्सल्य रूप दर्शनाचार तथा निर्व्याज प्रेम-आर्जवधर्मरूप चारित्र होता है। और (८) गुर्वाद्यनपन्हवरूप ज्ञानाचार होता है, वहां प्रभावनारूप दर्शनाचार तथा प्रथमादि चारों अनुयोग प्रकाशन, सभी जीवों के जीवन विकास के लिए सदाचार पालना या पालन कराना रूप चारित्राचार होता ही है।

इससे सिद्ध होता है कि सभी दर्शनाचार या चारित्राचार से पाप का अभाव अपेक्षित है। उदाहरण रूप में पं. जी उपबृहण अंग में सभी पापों का अभाव बताते हैं। उनका कहना है कि हिंसादि पंचपाप से विरति यदि सज्ज्ञानपूर्वक है तो सत् रूप ही है। उससे दर्शन तथा चारित्रका बृहण ही होता है। उपबृहण या उपगूहण में ऊपर हिंसा तथा असत्य का अभाव बताया ही है। तथा जहा, पर ग्रहण ही नही है, वहां चोरी कैसी ? जहां, पर का सेवन ही नही वहा अब्रह्म सेवन कैसा, तथा जहां, पर में मूर्छा नही, वहां परिग्रह पाप कैसा ? यथा—

हिंसाऽनृतचुरा ब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृहणात्॥ ११/४ अन. ध.

इसका ऐसा अर्थ नही करना कि, अविरत सम्यग्दृष्टि को सभी पापों का सपूर्ण अभाव होता है। जहां जो जितना अभाव होगा वहां वह उतना मानना जरूरी है।

पंडितजी कहते हैं कि, सिद्धान्तग्रन्थों में सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने वाले चार ही गुण सुने-देखे जाते हैं। यथा - "सिद्धान्ते तु चत्वारः एव दृग्विशुद्धर्थाः गुणाः श्रूयंते।" (अन. ध. १०३/२ टीका) तथैव आगे और भी समझाते है कि, 'विपरीत ज्ञान से ही मूढदृष्टि तथा आगे के चार दृष्टि दोष उत्पन्न होते हैं। यथा- "एतद् विपर्ययाश्चान्येऽनूपगूहनादयश्चत्वारो दर्शनदोषाः संभवंति।" (अन.ध. १०३/२ टीका)

अर्थात संशय, विभ्रम और मोह (विपरीत) के कारण ही ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता था, वैसा दर्शन और चारित्र भी मिथ्या ही होता था। इनके अभाव में ज्ञान के साथ दर्शन और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं।

उपर के कथन का यह अर्थ नहीं करना कि पंडितजी दर्शन के सिर्फ चार ही अग मानते थे। प्रथम चार अंगों में शेष चार गुणों का अंतर्भाव सहज ही होता है। क्योंकि दर्शन के प्रथम चार अंग निश्चय रूप अंतरंग निर्मलता के दर्शक हैं तो शेष चार अंग व्यवहार (बाह्य) चारित्र के (दर्शनाचार के) दर्शक है।

प्रश्न– प्रथम चार अंगों में शेष चार अंगों का अंतर्भाव किस प्रकार होता है ?

उत्तर– (१) नि:शंकित अंग में - सुस्थितिकरण का

(२) नि:कांक्षित में - निरपेक्ष प्रेम = वात्सल्य का

(३) निर्विचिकित्सा में - दोषवादे च मौन, या परदोषनिगूहनमपि रूप उपगूहण का, तथा

(४) अमूढदृष्टि में प्रभावना अंग का अंतर्भाव हो सकता है।

अत: मिथ्यात्व जैसे महापाप का जहां अभाव होता है वहां हिंसादि रूप पंच पापों का यथा संभव अभाव मानना चाहिये।

प्रश्न– हिंसादि पच पापों के त्याग का तो संयमाचरण चारित्र में अंतर्भाव किया है। वह सयम पंचम गुणस्थान से ही प्रगट होता है ऐसा कहा- माना जाता है। और आप अविरत सम्यग्दृष्टि को ही समस्त पापों का यथासंभव अभाव बता रहे हैं। सो कैसे ?

उत्तर– यद्यपि व्यवहाररूपी बाह्य देशसंयम पंचम गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है, तथापि निश्चय रूप एकदेश सयम का प्रारंभ चतुर्थ गुणस्थान से ही मानना शास्त्र सम्मत है। क्योंकि अनंतानुबंधी कषाय को संयम का भी घातक

कहा है। यथा– "असंयम स्त्रिविधः। अनंतानुबंध्य प्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयविकल्पात्। तत्प्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरोऽवसेयः।" (सर्वार्थसिद्धि तथा रा.वा.) अतः जहां जिस कारण का अभाव है वहां उसके अभावरूप संवर (चारित्र) मानना चाहिये। इसी कारण अनंतानुबंधि कषाय के अभाव के कारण चतुर्थी गुणस्थान में निश्चय से अंशतः संयम की उपलब्धि मानी गयी है। (२) धर्म के दशलक्षण में भी असंयत् सम्यग्दृष्टि को संयमधर्म का अस्तित्व माना है। (३) निःशल्यो व्रती ऐसा सूत्रकार कहते ही है।

प्रश्न– यदि ऐसा है तो फिर चौथे गुणस्थान को असंयत् क्यों कहा ?

उत्तर– जैसे देवायु से च्युत होने पर जीव मनुष्यायु को तो धारण करता है किंतु जब तक वह गर्भ से बाहर नहीं आता तब तक उसका 'जन्म हुआ' ऐसा कहा नही जाता। उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि संयम को उपादेय मानता है तथा संयम की विराधना भी नही करता है किंतु जब तक वह द्रव्यतः संयम को स्वीकार नही करता तब तक उसको असंयत ही कहते हैं। इसका ऐसा अर्थ नही करना कि जैसा प्रथम गुणस्थान में जीव असंयत होता है, वैसा ही चतुर्थ गुण स्थान में होगा। क्योंकि असंयत के भी असंख्यात भेद होते हैं। अतः असंयत परिणाम में तरतमभाव समझना योग्य है।

पहले गुणस्थान से यहा च. गुणस्थान के असंयम में अधिक विशुद्धि होती ही है।

प्रवचनसार टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्य कहते हैं कि - "संयमः सम्यग्दर्शनज्ञान पुरस्सरं चारित्रम्।" सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने वाला चारित्र ही संयम है। इसी प्रकार धवला में कहा है - "सो संजमो जो सम्मत्ताविणाभावी।" अर्थ- संयम उसे कहते हैं जो सम्यक्त्व से अविनाभावी होता है।

प्रश्न– संयम का गुप्ति और समिति से भी संबंध बताया जाता है। तो क्या गुप्ति और समिति का भी अस्तित्व चतुर्थ गुण स्थान में होगा ? यदि हां तो उनका स्वरूप और कार्य का स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर– मन-वचन-काय के दुष्प्रवृत्ति से निवृत्ति को गुप्ति कहते हैं। निश्चय गुप्ति तो स्वरूपाचरण चारित्र ही है। निवृत्ति सापेक्ष ऐसे सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। यह समिति वस्तुत: पंचेंद्रिय के तथा मन के विषय से निवृत्ति रूप होती है। अत: इसे भाव संयम भी कहते हैं। यह संयम निश्चय गुप्ति का याने स्वरूपाचरण का पूरक ही होता है। इस समय जो बाह्य आचरण (प्रवृत्ति) होता है उसे द्रव्य संयम कहते हैं, तथा पच पापों से निवृत्ति को या पंचस्थावर और त्रसकी हिंसा से निवृत्ति को विरति कहते हैं।

यद्यपि अविरति के बारह भेदों में असंयम को गिनाया है तथापि जो त्याग इंद्रियों के तथा मन के विषय को रोकता है उसे संयम कहते हैं, और जो पापों का अभेदरूप या भेदरूप त्याग होता है उसे विरति कहते है। विषय सेवन में अभिलाषा मूल है और हिंसा में प्रमाद परिणति मूल है।

मन के विकार वचन तथा कायसे व्यक्त होते हैं। अत: दुर्वचन को रोकने के लिए वाग्गुप्ति या भाषा समिति कही है। तथा कायके दुश्चेष्टा को रोकने के लिये कायगुप्ति या ईर्याएषणा-आदान निक्षेपण और उत्सर्ग समिति का विधान है। इसी कारण सिद्धान्त मे समिति विरति को ही संयम कहा है।

तथैव सम्यग्दर्शन के जो पाच अतिचार कहे हैं उसका अभाव होना ही निश्चयगुप्ति है। यथा-शंका तथा कांक्षा-मन में ही उत्पन्न होती है।

अत· उनका अभाव ही मनोगुप्ति है। विचिकित्सा और परप्रशसा यह वचन के दोष है, अत· इनका अभाव ही वचनगुप्ति है। तथा अनायतन सेवा का अभाव ही सही कायगुप्ति है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तथा उनके धारक इनका ही वैयावृत्य करना सही भक्ति या आराधना है, याने सम्यक् चारित्र का ही अनुसरण है।

प्रश्न– सयमाचरण चारित्र के सामायिकादि भेद कहे हैं, तो क्या सामायिक चारित्रका अंशत: सद्भाव चतुर्थ गुण स्थान में मानना ?

उत्तर– "आर्तरौद्रपरित्याग स्तद्धि सामायिकव्रतम्।"ऐसा श्रुत वचन है। अत: धर्म ध्यान का प्रारंभ ही आर्तरौद्रध्यान का अभाव दर्शाता है। वह ही

निश्चय से सामायिक है। यहां इतना विशेष समझना कि, यद्यपि पंचम-षष्ठम गुण स्थान में भी आर्तरौद्रध्यान का यथा स्थान सद्भाव कभी-कभी पाया जाता है, तथापि जब जहां उसका अभाव होता है तब वहां धर्म ध्यान का सद्भाव माना ही गया है। अतः धर्मध्यानरूप सामायिक चारित्र का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान में मानने में बाधा नही है। तथाहि–

(१) समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम्।
स्यात्समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा॥ २०/८

(२) साम्यागमज्ञतद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद् ग्रहः॥

(३) मैत्री मे सर्व भूतेषु वैरं मम न केनचित्।
सर्वसावद्य विरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत्॥

अर्थ– (१) दर्शन-ज्ञान-तप-यम-नियमादि में सम्यक् जानना-मानना और रमना ही समय है। तथा समय ही सामायिक है।

(२) साम्य-समता ही सामायिक है। कर्म, नो कर्म तथा विपक्षीभूत भाव कर्म जो जैसे होगे वैसे हो, उनमे स्वद्रव्यवत् मेरा ग्रहण कैसा ? यहा बाह्य परिणमन का मात्र ज्ञाता या स्वग्रहण रूप स्वानुभूति ही सामायिक चारित्र बताया।

(३) संपूर्ण जीवो से मेरी मैत्री रहे, किसी से भी वैर न हो। तथा मैं सर्व पापो से विरत होता हूँ ऐसी भावना ही सामायिक है।

इसमें स्पष्ट किया गया है कि, जहां दर्शन-ज्ञान भावना होती है वहां तप-यम-नियम रूप चारित्राराधना रहती है।

प्रश्न– जिस समय यह सम्यग्दृष्टि जीव आर्तरौद्ररूप परिणमता है, उस समय सम्यक् चारित्र का अभाव तो होता ही होगा ?

उत्तर– चारित्र गुण की दो अवस्थाए होती है एक लब्धि रूप और दूसरी प्रवृत्ति रूप। जब यह सम्यग्दृष्टि जीव आर्तरौद्ररूप परिणमता है तब प्रवृत्तिरूप चारित्र मे ही दोष लगाता है। इसे अतिचार भी कहते हैं। यह सयमाचरण

चारित्र का ही परिणमन है। किंतु इसी समय लब्धिरूप याने श्रद्धा-ज्ञान में रमणरूप जो स्वरूपाचरण है वह तो रहता ही है। अतः सम्यग्दृष्टि के आर्तरौद्ररूप परिणति के समय भी उसको सम्यक् चारित्र का सद्‌भाव माना गया है। यथा–

दंसणभट्ठा भट्ठा दंसणभट्ठस्सणत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरिय भट्ठा दंसणभट्ठा ण सिज्झंति॥ द. पा.

तात्पर्य यह है कि, दर्शन भ्रष्ट ही भ्रष्ट है उसको निर्वाण प्राप्ति नही है। किंतु (सयम) चारित्र से भ्रष्ट होने पर भी यदि वह दर्शन से भ्रष्ट नही है तो वह सिद्ध हो सकता है। क्योंकि वह मिथ्या चारित्रवाला नही है। और निर्वाण का भागीदार (मुमुक्षु) ही है। अत: वह संयम को सुधार कर मोक्ष पा सकता है। दर्शन भ्रष्ट तो सर्वतो भ्रष्ट ही है। उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। इसी लिए सम्यग्दृष्टि के दोष लगने पर उसका उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, आदि द्वारा प्रभावना ही करने को कहा है।

प्रश्न– यदि वे न सुधरे तो ?

उत्तर– उनका जैसा होनहार होगा वैसा होगा। किंतु उनका निमित्त पाकर सम्यग्दृष्टि स्वकी वचनगुप्ति क्यों बिगाड़े ? जुगुप्सा द्वेष मे क्यों प्रवर्ते ? विनयाचार या वात्सल्य को क्यों दूषित करे ? तथा विकारी बनकर अपना घात क्यो करे ? अतएव पंडितजी कहते हैं कि, "हे आत्मन्। पर पदार्थ के निमित से उत्पन्न होने वाले रागद्वेष को उत्पन्न होने नही देना ही तत्वज्ञान का सही ग्रहण (फल) है। तू गुणों का पुन: पुन: स्मरण कर तथा निर्विकल्प आनंद का अनुभव ले।"

पडितजी पुन. कहते हैं कि, "सक्षेप से कहता हूँ कि सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही या सम्यक् चारित्र एक ही आराध्य है। क्योंकि वही फल है। यथा– "एतेन सक्षेपत सम्यक्त्व चारित्रे द्वे एवाराध्ये, सम्यक् चारित्रमेकमेव चेत् फलं स्यात्।" (अन. ध. २०/८ टीका)

११ - मोक्ष मार्ग में पाप के समान पुण्य की हेयता

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में जिन सात तत्वों को यथार्थ ज्ञान श्रद्धान अभिप्रेत है उसके आस्रव तत्व में पाप पुण्य का भी अंतर्भाव हो ही जाता है। कहीं कहीं पाप पुण्य का अलग से भी वर्णन मिलता है, वह इसलिए कि उनके स्वरूप के धारणा में कहीं गलती न रह जाय। इसीलिये पाप पुण्य के संबंध में पं. आशाधर जी की क्या मान्यता थी ? इस प्रश्न का जवाब आगे के विवेचन में स्पष्ट हो रहा है।

अथ निश्चयरत्नत्रय लक्षण निर्देश पुरस्सरं मोक्षस्य, संवरनिर्जरयोः बन्धस्य च कारणं निरुपयति—

> मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवत् संदेहमोहभ्रमं,
> वांताशेष कषाय कर्म भिदुदासीनं च रूपं चितः।
> तत्वं सदृगवाय वृत्तमयनं पूर्णं शिवस्यैव तत्,
> रुंद्धे निर्जरयत्यपीतर दघं बंधस्तु तद्व्यत्ययात्॥९१/१ (अन. ध.)

विपरीत तथा एकान्त रूप पदार्थ के ग्रहण से रहित स. दर्शन, संदेह-मोह-भ्रम से रहित स. ज्ञान तथा संपूर्ण कषाय- नोकषाय से रहित और कर्मों का अभाव करने वाला ऐसा जो आत्मा का उदासीनरूप स्वरूप है वही स. चरित्र तत्व उपादेय (उपासनीय) है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र रूप परिणाम की पूर्णता तो साक्षात मोक्ष के लिए ही कारण है। तथा रत्नत्रय की अपूर्णता भी पाप रूप कर्मों के सवर निर्जराका कारण है। किंतु जीवको होने वाला जो कर्मबंध है वह सर्वथा मोक्ष में व्यत्यय करने वाले मिथ्यात्व-अज्ञान-अचारित्र से ही होता है। चौथे गुण स्थान के आगे मिथ्यात्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान तो होता है किंतु जो अचारित्र शेष रहता है उससे ही कर्मबंध होता है। वह अविरति- प्रमाद- कषाय-योगरूप यथा स्थान समझना।

प्रश्न– यहाँ अघरूप (पापरूप) कर्मों की ही संवरनिर्जरा होती है ऐसा कहा है। इससे अपूर्ण रत्नत्रय से पुण्य बंध होता है ऐसा भाव प्रतीत होता है। तो क्या यह बराबर है ?

उत्तर– नही, यहाँ अघ अर्थात् पुण्य पाप रूप दोनों कर्मों की संवर-निर्जरा अपेक्षित है। क्योंकि दोनों भी कर्म जीवका अपकार करने रूप होने से अशुभ ही है। यथा- "अघम् =अशुभकर्म, पुण्य पापद्वयं वा। सर्वस्य कर्मणो जीवोपकारकत्वेन अशुभत्वात्।"

प्रश्न– संपूर्ण जिनागम पाप को अशुभ और पुण्य को शुभ मानता है और आप यहा पुण्य को भी अशुभ कहते हैं सो कैसे ?

उत्तर– समय सार पुण्य पापाधिकार के प्रारंभ मे ही कहा है कि, 'संपूर्ण कर्म अशुभ होने से कुशील ही है। इस पर शिष्य पूछता है कि 'शुभकर्मों को तो सुशील कहना चाहिये ?' इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो ससार में प्रवेश कराता हो उसको सुशील कैसे कहना ? यथा–

कम्मं असुहं कुशीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होई सुशीलं जो संसारं पवेसेदि ॥ स. सार

इसी कारण पुण्य और पाप दोनों कर्मों को अशुभ तथा कुशील ही समझना चाहिये।

इसका आगे चलकर अधिक खुलासा करते हुए पडितजी लिखते हैं "आस्तिक्यमखिलतत्वमतिः। हेयस्य परद्रव्यादेर्हेयत्वेन, उपादेयस्य च स्वशुद्धात्मस्वरुपस्य उपादेयत्वेन प्रतिपत्तिः। अखिलाना स्व पर द्रव्याना तत्वेन हेयोपादेयत्वेन मति प्रतिपत्तिरिति विग्रहः।" पर द्रव्य का हेयरूप और स्वशुद्धात्मस्वरूप का उपादेयरूप जो श्रद्धान-ज्ञान है उसका नाम आस्तिक्य है। इसमें सातो तत्वों का ज्ञान अतर्भूत है।

इसका तात्पर्य यह है कि, सपूर्ण पर द्रव्यो का तत्व से ही हेयरूप और स्व से उपादेय रूप बुद्धि और श्रद्धा होना श्रेयस्कर है। द्रव्यकर्म तो पर द्रव्य ही है, अत. सारे कर्म भी हेय ही ठहरें, इसमें पुण्य शुभ और पाप अशुभ ऐसा विकल्प करने से क्या लाभ ?

इस नागश्री के पौत्र पुनसिंह ने कीर्तिस्तंभ की प्रतिष्ठा जिस धर्मचंद्र भट्टारक के हाथों की उनका काल सं. १२८१ से १२९५ है। तथा पुनाजी का भ. विशालकीर्ति तथा भ. शुभकीर्ति का भी सबंध आने का उसी शिलालेख में उल्लेख है। भ. विशालकीर्ति का ज्ञात काल सं. १२६६ प्रसिद्ध है। अतः इसके पूर्व ही साह जिजाने चंद्रप्रभ जिनालय की प्रतिष्ठा की होगी और उस समय उनकी आयु ३० वर्ष की होगी तो माता नागश्री की आयु भी ४९-५० वर्ष की होगी। अतः नागश्री का पुनर्जन्म काल वि. सं. १२१५ से १२२० तक का निश्चित हो सकता है।

इसमें उनका वंशवृक्ष काल इस प्रकार बताया जा सकता है—

नागश्री का जन्म	संवत् १२१५-२०
नागश्री का विवाह	संवत् १२३०-३५
नागश्री के पुत्र जीजा	संवत् १२३७-३८
	(इनके अन्य पाँच भाई थे)
जीजा का विवाह	सवत् १२५३-५५
पुनसिह का जन्म	संवत् १२५५-५८
जीजा के द्वारा कीर्तिस्तंभ प्रारम्भ	संवत् १२६०
पुनसिह के द्वारा कीर्तिस्तंभ की पूर्णता	संवत् १२८५-९५

इस प्रकार तेरहवी सदी के अन्तिम चरण में कीर्तिस्तंभ की पूर्णता नजर आती है। सवत् १३५७ में एक चित्तौड़ के शिलालेख में कीर्तिस्तंभ का तथा साह पुनसिंह का उल्लेख आता है। इससे वह काल कीर्तिस्तंभ की प्रतिष्ठा का काल होने की आशका व्यक्त की जाती है। किन्तु यह सं. १३५७ का शिलालेख अभी तक पूरा पढ़ा ही नही गया है। तो उस पर भाष्य करना युक्ति संगत नही है। हो सकता है उसमें पुनसिंह तथा उनके आगे की पीढ़ी का वर्णन किया हो।

४ - जीवन वृत्त और कार्य

आशाधर उवाच—

मैं कौण हूँ ,इस विचार से ही मैं नित्य रमा ज्ञप्ति वैभव में।
आत्मानुभूति से प्राप्त तत्त्व को , क्या दिखाना पड़ेगा करतल में॥ १ ॥
ऐसा कौण है जो सेवा करके , न व्याकरणाब्धि से पार हुआ।
वे कौन है जो तर्क ग्रन्थ अरु , नयज्ञान से वादीन्द्र न हुआ॥
वे कौन है जिनवाग्दीपक से , निरतिचार चरित्त न किया।
वो कौन है जो काव्यसुधा पीकर , राजमान्य न कवीन्द्र हुआ॥ २ ॥
सेवक से वैयाकरणीं बने पंडित देवचंद्रादिक गण।
षट् तर्कों के ज्ञाता हैं वे , वादींद्र विशाल कीर्त्यादि जण॥
अर्हत्प्रवचण के बन श्रोता, भट्टारक देव विनयचंद्र।
काव्यसुधा के रसिक जण है , बाल सरस्वती मदन कवींद्र॥ ३ ॥

यह गर्जना है आशाधर की। यह दर्पोक्ति नही, वस्तुस्थिति है। इतना दृढ़ आत्मविश्वास जिनमें था वे पं. आशाधर कौन और कैसे थे ? इसका मूल्यांकन शब्दो से नही हो सकता। संख्यात शब्द की रासी , अनंतगुणों के पिण्ड को कैसे स्पर्श कर सकती है ? यद्यपि यह असंभव ही है, तथापि आइये जितना सभव है, उतना सुनिये उनकी जीवन गाथा।

प. आशाधरजी का अंतरआत्मा यद्यपि परमात्म सदृश ही था, तथापि पर्याय दृष्टिवाले इनको मध्यम अंतरात्मा ही समझते थे। पंडितजी का स्वयं का चितन तो इसप्रकार था—

निर्विकल्पं निराबाधं शाश्वतानंद मंदिरम्।
तोष्टुवीमि चिदात्मानं स्व-स्वरूपोलब्धये॥ १ (३)
विषयेषु विषाभेषु श्वभ्रपातैकहेतुषु।
मनः पराङ्मुखीभूय लीयतां परमात्मनि॥ २ (०)
अनंत दर्शनज्ञान-वीर्यानंदैकमूर्तये।
सदा समयसाराय नमोस्तु परमात्मने॥ ३ (१०)
स्वसंवेदनमव्यक्तं यत्तत्वं सत्त्वशांतिदम्।

नमस्तस्मै विशुद्धाय चिद्रूपाय परात्मने ॥ ४ (११)
यः स्वानुभव संगम्योऽप्यवाङ्मानसगोचरः।
नमस्तस्मै विशुद्धाय चिद्रूपाय परात्मने ॥ ५ (१४)
प्रतिदिनं खलु यत्र वितन्वयते, कृतमुदा वसतिं शिवसंपदा।
समयसार रसं मम मानसे तदवतारमुपैतु दृगम्बुजम् ॥ ६ (४४)
सम्यक्त्वस्यावलंबेन स्वयभुत्पद्य यत्क्रमात।
उत्पादयति चारित्रं तदहं ज्ञानमाश्रये ॥ ७ (५ ज्ञा.)
शुद्धोपयोग उपलब्धमनंत-सौख्यं,
सिद्धान्तसारमुररीकृतमात्मविद्भिः।
तन्मुक्ति संवरणमद्भुतमादरेण,
तद्वृत्तमत्र कुसुमांजलिना ह्युनोमि ॥ ८ (२३ चा)
अनन्यशरणीभूय तद्गुणग्रामलब्धये।
स्फुरत्समरसी भावमितो ऽहं चिद्घनं स्तुवे ॥ ९ (६५) (र. ग्र. वि.)

अर्थ- मैं निर्विकल्प हूँ, निराबाध हूँ, शाश्वत हूँ, आनन्दकंद हूँ, पर्याय में भी ऐसी उपलब्धि होने के लिए मैं चित् आत्मा का चिन्तन करता हूँ ॥ १ ॥ नरकादिक दुर्गतियों के ही कारण ऐसे विषस्वरूप विषयों से हे मन ! तू दूर हो, तथा परमात्मा में लीन हो ॥ २ ॥ अनंत दर्शन-ज्ञान-वीर्य तथा सुख का पिण्ड और त्रैकालिक शुद्ध ऐसे समयसार परमात्मा को नमस्कार हो ॥ ३ ॥ जो तत्व जीवों को सही शांति देनेवाला है इन्द्रियों से अव्यक्त होने पर भी स्वसंवेदनीय है, उस विशुद्ध चिद्रूप परमात्मा को नमस्कार हो ॥ ४ ॥ भाषा और मन से अगोचर होने पर भी जो स्वानुभवगम्य है, उस विशुद्ध, चिद्रूप परमात्मा को नमस्कार हो ॥ ५ ॥

अब कहते हैं कि मुमुक्षु आत्मा रत्नत्रय संपन्न है। प्रतिदिन जहाँ शिवसंपदा (मुक्ति का ही विचार) सहज ही निवास करते हैं, उस समयसारमय मेरे मानस में सम्यग्दर्शनरूपी कमल का अवतार हो ॥ ६ ॥ सम्यक्त्व के अवलंबन से (साहचर्य से) जिसको समीचीनता प्राप्त होती है और जिसके चिंतन-ध्यान से ही स्वरूपाचरण चारित्र प्रगट होता है उस ज्ञान का मैं आश्रय लेता हूँ ॥ ७ ॥

शुद्धोपयोग से ही अनंत सौख्यादिकी उपलब्धि होती है, ऐसा सिद्धांतसार जिन आत्मज्ञानियों ने शिरोधार्य माना है और (शुद्धोपयोग स्वीकार कर) अद्भुत आदर के साथ संवर के द्वारा मुक्ति प्राप्त की जाती है उस शुद्धोपयोग-चारित्र को मैं कुसुमांजलि समर्पित करता हूँ ॥ ८ ॥

अनन्य याने स्व आत्मा को ही शरण जाकर उसके गुणसमूह के सम्पूर्ण विकास के लिए जिसका साम्यभाव स्फुरायमान हो रहा है उस चिद्घन आत्माकी मैं स्तुति करता हूँ ॥ ९ ॥

इस प्रकार बोधिलाभ होने की भावना पंडितजी प्रतिदिन भाते थे तथा दूसरों को भी इसी का उपदेश देते थे कि , सवेरे उठकर , पंच परमेष्ठी का ध्यान कर , मैं कौन हूँ , मेरा क्या धर्म है तथा चारित्र क्या है ? इसका सदैव ध्यान रखना चाहिए। यथा--

ब्राह्मे मुहूर्ते उत्थाय वृत्त पंचनमस्कृतिः ।
कोऽहं को मम धर्मः किं वृत्तं चेति परामृशेत् ॥ १-६ सा. ध.

ऐसा पंडितजी का सही स्वरूप चिच्चरित्ररूप था। किन्तु उनकी यह सम्यक् अतर्नाद की आवाज सामान्य जनता सुन नही सकती, न उनको कुछ समझ में आता। अत: सामान्य जनता को समझ में आने जैसा पडितजी का बाहरी जीवन इस प्रकार है--

राजस्थान में सपादलक्ष नाम का एक प्रदेश था। उस प्रदेश की शोभा बढ़ाने वाला शाकभरी नाम का एक लवण सरोवर है। उसके नजदीक मडलकर नाम का एक सीमावर्ती गांव है। वहाँ संरक्षणार्थ एक महान दुर्ग की रचना की गयी थी। अनेक राजमान्य श्रेष्ठी (जैन लोग) वहाँ रहते थे। इससे मानो वह स्थान लक्ष्मी का विलासगृह ही बना हुआ था। वह लष्कर के साथ व्यापार का भी केन्द्र था। राजश्रेष्ठी सीयक ने उस दुर्ग का जीर्णोद्धार कर वहाँ श्री नेमिजिन चैत्यालय का निर्माण तथा प्रतिष्ठा कार्य सं. ११४१ में किया था। इससे उस महादुर्ग की कीर्ति अधिक ही बढ़ी थी।

वि सं. १२२५ के समय उस किले के अधिकारी उज्वल नाम के एक बघेरवाल जातिभूषण व्यक्ति थे। अजमेर के पृथ्वीराज चौहान के पिता सोमेश्वर के अनुग्रह से ही वे वहाँ रहते थे। उनको दुर्लभ और लक्ष्मण नाम के दो पुत्र थे, जिनका यश उस भू मंडल पर प्रकाशित था। (उज्वलस्यांग जन्मानौ श्रीमदुर्लभलक्ष्यणौ। अभूता भुवनोप्दासियशो दुर्लभलक्ष्मणौ ॥ ५० ॥)

लक्ष्मण को सलखण भी कहते थे। इनकी पत्नि का नाम श्री-रतनी था। इनको सं. १२३० के दरम्यान उस मंडलकर दुर्ग पर आशाधर नाम का पुत्र हुआ। आशाधर को जब बोलना और चलना अस्खलित आने लगा, तब ये मां के साथ प्रतिदिन सुबह शाम जिनमदिर जाया करते थे। सबके साथ दर्शन, पूजन, स्तोत्र आदि पाठों का पठन उच्चारण करते थे। वि. सं. १२३४ में इनकी पढ़ाई प्रारम्भ हुई। जो भी पाठ इनको पढ़ाया जाता था, उसे वे रात में ही पूरा का पूरा कह सुनाते थे। सं. १२३९-४० तक इनके संस्कृत भाषा के अनेक स्तोत्र, सूत्रजी, भक्ति पाठ आदि मुखोद्‌गत हो गये थे।

डा विद्याधरजी जोहारापुरकर के कथनानुसार इनके वासाधर नाम के एक बड़े भाई थे। उन पर प. नरेन्द्रसेन का प्रभाव था। नरेन्द्रसेन वासाधर को काष्ठासघ मे परिवर्तित करना चाहते थे। तब आशाधर के बुद्धि वैभव को देख, वे आश्चर्यचकित हुये थे। उनका भविष्य था कि, यदि आशाधर को अच्छी तरह पढ़ाया जाये तो आशाधर अद्वितीय विद्वान हो सकते हैं। इस भविष्यवाणी को जानकर आशाधर स्वय प्रभावित हुये और उन्होने लौकिक पढ़ाई के साथ-साथ स्वतत्र चारो अनुयोगो का अध्ययन चालू किया। जो भी साधु, मुनि, पंडित उन दिनो मंडलकर आते उनसे आशाधर शिक्षा ग्रहण करता था। मुनि उदयसेन (उदयकीर्ति) तथा आचार्य मदनकीर्ति से आशाधर ने शिक्षा पायी थी। आशाधर भी बड़ी विनय के साथ उनसे शिक्षा ग्रहण करते थे। आशाधर को वे सभी पाठ पूर्वजन्म के यादगिरी के रूप मे स्मृत हुये। अत: आशाधर का सबको आकर्षण रहता था। कभी-कभी पिताजी के साथ अजमेर जाते तब उनको वहाँ के विद्यापीठ का भी लाभ मिलता था। संवत् १२४६-४८ मे आशाधर सामूहिक स्वाध्याय मे भाग लेने लगे। सस्कृत प्राकृत शब्द का सही सही अर्थ तथा रूढ अर्थ भी बताने लगे। किसी प्रासंगिक समय में आशाधर का भी प्रवचन रखा

जाता था। तब इनके तत्त्वज्ञान की सूक्ष्म पकड़ तथा कथन शैली का प्रभाव नजर आता था।

संवत १२४९ में शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज चौहान को पकड़कर उसका अंत कर दिया और अजमेर तथा मंडलकर आदि पर शासन किया। तब, देश सेवा और धर्मसाधना कठिन जानकर लक्ष्मण ने कुछ परिवारों से विचार विमर्श कर धारानगरी के परमार नृपति विंध्य वर्मा से सम्पर्क साधा। उनकी स्वीकृति आते ही सलखण कुछ परिवारों के साथ धारानगरी मे आये और विशिष्ट राजपद संभालने लगे।

सवत १२५० के दरम्यान आशाधर को वहाँ के विद्यापीठ में प्रवेश दिया गया। पढ़ाये गये पाठ को आशाधर दूसरे दिन जैसा का तैसा शुद्ध सुना देते। उस विद्यापीठ में आशाधर जैसा कोई मेधावी बच्चा नही था। जब राजा को इस बात का पता चला तो राज दरबार में उसका सम्मान किया गया।

उस समय विध्य वर्मा के महासंधि विग्रह (पर राष्ट्र) मत्री विल्हण ने कहा था— "हे आर्य आशाधर , मैं आपके निसर्ग-सुन्दर (स्वाभाविक) बुद्धिवैभव को जानकर मैत्री जुड़ानें में गौरव का अनुभव करता हूँ। सचमुच तू सरस्वती पुत्र होने से तेरे और मेरे में भाईचारे का नाता मान रहा हूँ।"

ऐसे राज सम्मानित पुत्र के विवाह की बात उठायी गयी और सरस्वती नाम की कन्या के साथ आशाधर का विवाह सम्पन्न हुआ। अब आशाधर सरस्वती पुत्र ही नही सरस्वती पति भी बन गये थे। किन्तु इस सरस्वती से भी वे अतरग सरस्वती के साथ ज्यादा रमते थे। सवत १२५०-५१ में धारा मे वादिराज पडित धरसेन के शिष्य महावीर ने आशाधर को जैनेन्द्र तथा कातत्र व्याकरण के पाठ पढ़ाये। सं १२५२ -५३ में आशाधर ने जैन तर्क न्याय शास्त्र का अध्ययन किया। स. १२५४ में काव्य शास्त्र का अध्ययन करते समय रौद्रट के काव्यालंकार पर आशाधर ने एक टिप्पणी भी लिखी थी। सं. १२५५ में अमरकोश का अध्ययन करते समय उस पर भी एक टिप्पणी लिखी थी।

अब आशाधर का अध्ययन पूरा हो गया था। अमरकोश, व्याकरण, न्याय, शास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक विषयों में वे पारंगत हो गये थे। पूजा विधान के नैमित्तिक प्रसंग पर गुरु के साथ या यात्रा के निमित्त परिवारों के साथ आशाधर बाहर जाने लगे।

कोणीजी जिला दमोह (म. प्र.) में एक सहस्त्रबिंब प्रतिष्ठा थी। उस समय आशाधरजी वहाँ गये थे। सहस्त्रबिंब को देखकर उनकी काव्य प्रतिभा जाग उठी और सहज ही स्वतंत्र सहस्त्रनाम की रचना बन गयी। इसी सहस्त्र नाम को वहाँ फ्रेम में लिपिबद्ध किया है तथा प्रसंग विशेष में वहाँ यह ही सहस्त्र नाम बोला जाता है। इस अनूठी रचना की अनेक प्रतियाँ बनकर जगह-जगह भेजी गयी। मुनि उदयसेन आदि ने उसका स्वागत ही किया, किन्तु अज्ञानवश कुछ मिथ्याचेतना ने उसकी विचिकित्सा भी की। उन पर आक्षेप था कि, उस सहस्त्रनाम मे 'सर्वदेवता सम्मेलन भर दिया है। विनयमिथ्यात्व का पोषण किया है, कौण जिन , कौन बुद्ध और कौन विष्णु? इसमें सभी की समान रूप से स्तुति की है।' इत्यादि। प्रसंग पाकर आशाधर को उस पर स्वोपज्ञ टीका लिखकर खुलासा करना पड़ा। इसके प्रशस्ति में आशाधर स्वयं को महाकवि सबोधते हैं। उसको पढ़कर टीका करनेवाले शान्त हुये।

इसी समय मुनि उदयसेन आशाधर का उत्साह बढ़ाने के लिये धारा आये। ज्ञान गोष्ठी के अनतर भरी सभा में उन्होंने होनहार वीरवान आशाधर की सराहना की। उनके प्रवचन के अनंतर आशाधर ने भी एक गीत गाकर काव्य प्रतिभा का परिचय दिया। वह गीत यह है—

भज भगवंतं प्रथमार्हन्तं वृषभवरं तं मोक्षमते।
मोहलघीष्टे भुक्तोच्छ्रीष्टे जगति निकृष्टे को रमते? ॥ १ ॥
जहीहि वित्तं क्लेशनिमित्तं , वीतरागभुवि योजय चित्तं।
रत्नं काकोड्डयने क्षिप्त्वा , को मतिमान् गुंजां वृणुते ॥ २ ॥
दुर्वारो विषयाभिनिवेशः , मोहमानमायापरिवेशः।
हन्त क्लेश संश्लेषोद्देशः , समयपरसमयेष्वयते ॥ ३ ॥
रुध्वा स्रोतानास्रवप्रोतान् , संवरमाश्रय निर्जरयैतान्।
विद्यातैष्णो किस्वीत्पाकः लोकाभानी चेतयते ॥ ४ ॥

अर्थ– "हे मुमुक्षु , तू पहले अर्हन्त भगवान वृषभनाथ को भज उस पद के बिना इस दुनिया में सारे पद निकृष्ट हैं, मोह से लघु बने हैं, तथा अनेक बार भोगने से उच्छ्रीष्ट हुये हैं, ऐसे भोगों में कौन रममान होगा ? ॥ १ ॥ दुःख के ही कारण ऐसे वित्त को छोड़कर वीतराग धारणा में ही चित्त को लगा। ऐसा कौन बुद्धिमान है कि काक को उड़ाने में लाल रत्न को फेंकेगा और उसके बदले गुंजों को संगृहित करेगा ? ॥ २ ॥ यह विषयाभिलाषा दुर्निवार है, वह मोह, मान, माया आदि कषायों से संयुक्त है तथा उसके संयोग से ही यह आत्मा दुःखी हुआ है। अतः खेद है कि ऐसा होने पर भी यह आत्मा परपदार्थ में ही रमता है ॥ ३ ॥ इस कारण हे मुमुक्षु तू , कर्मास्त्रव के अखंड वेग को रोक , संवर का आश्रय कर तथा ज्ञान साधना के द्वारा कर्मों की निर्जरा करके उसका अखंड फल भोग और लोक को भी इसका ही (संवर-निर्जरा- करने का ही) उपदेश दे ॥ ४ ॥

इस भजन के उपरान्त भट्टारक उदयसेन ने आशाधर को 'कवि कालिदास' यह उपाधि देकर होनहार युवा का गौरव बढ़ाया। स. १२५७-५८ मे आशाधर ने प्रमेय रत्नाकर , तर्कामृत , न्यायामृत लिखना प्रारम्भ किया तथा शांतिजिन स्तव टीका और सिद्धि प्रियस्तोत्र टीका बनायी। जिसे देखकर भट्टारक उदयसेन ने आशाधर को 'नयविश्वचक्षु' इस पदवी से विभूषित किया।

सं. १२५९-६० में सागरचद्र मुनि के शिष्य विनयचंद्र की प्रेरणा से भूपालचतुर्विंशतिस्तव टीका तथा इष्टोपदेश टीका बनायी। स. १२६१ में इसी विनयचंद्र मुनि के लिये आराधना सार की वृत्ति लिखी इसके प्रशस्ति में आशाधर स्वयं को 'कवीश्वर' लिखते हैं।

इसी दरम्यान आशाधर के सहायता के लिये सेवक के रूप में देवचंद्र नाम के व्यक्ति की नियुक्ति हुयी। वह आशाधर के लिखाणकी प्रतिलिपि करता था। लिखाण शुद्ध होने के लिये आशाधर उसको व्याकरण के पाठ पढ़ाते थे तथा कहते थे– "यद्यपि बहु नाधीशे तथापि पठ पुत्र व्याकरणम् ।" (अच्छा पढ़ा लिखा नहीं हुआ तो भी कम से कम व्याकरण का अभ्यास कर ।) वह भी मन

से व्याकरण के पाठ पढ़ता गया। आश्चर्य यह कि वह अंत में पंडित तथा वैयाकरणी हो गया।

सं. १२६२-६३ में भगवती आराधना पर 'मूलाराधनादर्पण' नाम की टीका बनायी। तथा भट्टारक देव (चंद्र) और विनयचंद्र के साथ स्वाध्याय कर उनको सही अर्थ मे चरित्रसम्पन्न बनाया। उसी समय एक स्वतंत्र आराधना स्तव की भी रचना बनायी।

सं. १२६४-६५ में अनगार धर्मामृत सूक्ति की रचना की तथा मंडपदुर्ग (माडवगढ़ म. प्र.) में भट्टारक वसंतकीर्ति के हाथों जैन विद्यापीठ निर्माण में सहायता की। इसी दरम्यान पिता सलखण को राजा अर्जुन वर्मा ने संधि विग्रह मन्त्री पद दिया।

सं. १२६६ में क्रियाकलाप का उद्धार किया तथा विशालकीर्ति के माध्यम से मुनि मदनकीर्ति को दक्षिण से बुलाया और उनका उपगूहण के साथ स्थितिकरण किया। इस समय मदनकीर्ति ने भी "शिष्यादिच्छेत्पराजयः।' इस नीति को स्वीकार कर आशाधर को 'प्रज्ञापुंज' यह उपाधि देकर गौरव किया। तथा वादीद्र विशालकीर्ति को मंडपदुर्ग के विद्यापीठ में पीठाधिपति बनाया।

सं. १२६७ के समय सलखण की प्रेरणा से मालु पुत्र नागदेव को अर्जुन वर्मा ने शुल्काधिकारी बनाकर सलखनपुर जिला टीकमगढ़ (म. प्र.) मे नियुक्त किया।

स. १२६७-६८ में सागारधर्मामृत सूक्ति की रचना की तथा चित्तौड़ आदि जगह भ्रमण किया।

स १२६९ में प्रमेय रत्नाकर, तर्कामृत आदि की रचना पूर्ण कर वादीन्द्र विशालकीर्ति के साथ नय तथा न्यायशास्त्रों का स्वाध्याय किया। न्यायशास्त्र उनको पढ़ाये।

अब आशाधर पं. आशाधर कहलाने लगे। उनका जनसंपर्क बढ़ा। उनको नैमित्तिक प्रसंगों में निमत्रण आने लगा। सत्कार के रूप में उन्हें जो मिलता, वे उसे स्थानीय पाठशाला या स्वाध्यायशाला को समर्पित कर देते थे। अतः

जनमानस में उनके प्रति आदर और कार्य के प्रति आकर्षण उत्पन्न होता रहा। उनकी ज्यादा प्रसिद्धि विधान पंडित के रूप में हुई थी। विधान के निमित्त जहाँ भी जाना होता वहाँ युवा वर्ग को एकत्रित कर पाठशाला का आयोजन करते थे और बुजुर्गों के लिये स्वाध्यायशाला, भेषजशाला तथा यात्रियों के लिये भोजनशाला भी निर्माण कराते थे।

स. १२७०-७१ में इसी कारण नित्योपयोगी स्फुट रचना की ओर ध्यान गया, और सहज ही अभिषेक क्रम, पंचपूजा, नित्य महोदय, नांदि मंगल, श्रुतस्कंध विधान, गणधर वलयपूजा, वास्तुविधान आदि की रचना बन गयी। साथ में 'भरतेश्वराभ्युदय' जैसे उत्कृष्ट काव्य की भी रचना चलती रही। तथा मंत्री बिल्हण के पुत्र मदन को काव्यशास्त्र पढ़ाकर उसे 'बाल सरस्वती मदनकवीन्द्र' बनाया।

सं. १२७२ में पिता सलखण की प्रकृति कुछ अस्वस्थ ही हुयी थी। उनके वैयावृत्य के समय जो सागारधर्मामृत का पठण चलता था तब कठिन शब्द का खुलासा करने वाली यह विशेष शब्दार्थ रूप विजयाटीका-पंजिका सहज बन गयी। उसका शब्दाकन भी होता गया। जब यह पिताश्री की अतिम अवस्था है ऐसा जाना गया तब सागारधर्मामृत के सल्लेखनाधिकार का वाचन किया गया। उसे सुनकर जैनतत्त्व ज्ञान जानने की अभिलाषा सलखण ने प्रगट की और उनके आदेश से ही मानो "अध्यात्म रहस्य' ग्रंथ की रचना हुयी।

आत्मा के लिये अध्यात्म का उपदेश और शरीर के लिये अष्टाग हृदय के आधार से चिकित्सा की जाती थी। तब अष्टांग हृदय के श्लोकों पर जो भाष्य होता था उसे शिष्यगण अष्टांग हृदयोद्योत या अष्टाग हृदयसहिता के रूप में शब्दाकित करते थे।

इसी प्रकार अन्तर और बाह्य दोनों चिकित्सा के कारण सलखन का समाधिमरण सुलभता से साधा गया। इसमें एक पंथ दो काज हुये। पुत्र कर्त्तव्य का पालन हुआ और आदर्श निर्यापक (निर्यापकाचार्य) के नाम से भी आशाधर की प्रसिद्धि हुई।पिताश्री के स्वर्गवास के कारण तीर्थाटन करने के भाव जाग उठे। उसी समय भट्टारक धर्मचंद्र ने रणथंभौर गढ़ में मूर्ति प्रतिष्ठा का विशाल पचकल्याणक महोत्सव आयोजित किया था। उसमें हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा

हो रही थी और राजस्थान, बूंदी, मालवा, महाराष्ट्र भर में जहाँ-जहाँ जैनसमुदाय था वहाँ-वहाँ उसे भेजने का निश्चित हुआ था। ऐसे समय में वहाँ आशाधर न पहुँचते तो आश्चर्य ही लगता। वह प्रतिष्ठा सं. १२७२ माघ सुद ५ मीके दिन संपन्न हुयी। उसमें की कुछ मूर्ति आज भी महाराष्ट्र में कारंजा, देउलगांव राजा, नवागढ़ (उखलद) आदि जगह विपुल मात्रा में देखी जाती है।

इसके बाद महाराष्ट्र में मेघंकर (मेहेकर) जिला बुलढाणा में भी एक मूर्ति प्रतिष्ठा का आयोजन आचार्य यशकीर्ति ने किया। बताया जाता है कि प्राचीन काल में मेघंकर एक मंडल (जिला) था और अंतरिक्ष पार्श्वनाथ क्षेत्र उसके अन्तर्गत आता था। अंतरीक्ष पार्श्वनाथ की अद्भुत महिमा मुनि मदनकीर्ति से आशाधर ने सुनी ही थी। उसके वदना हेतु जब आशाधर दक्षिण में आये तब वैशाख बदी ५ सोमवार को आशाधर की पत्नि ने एक मूर्ति की प्रतिष्ठा की थी। लगता है आशाधर का सारा परिवार इस समय यात्रार्थ पधारा हो। उस लेख में आशाधर की पत्नी का नाम पद्मावती दिया है। हो सकता है वह नाम मायके का हो और उसे शादी के समय सरस्वती के रूप में परिवर्तित किया हो।

सलखन के स्वर्गवास के कारण रिक्त हुआ उनका पद संभालने की सूचना पंडितजी को मालवाधिपति अर्जुनवर्मा ने की। किन्तु आशाधर उस राजपद से अलिप्त रहकर देश-समाज तथा साहित्य सेवा करना चाहते थे। अतः अर्जुन वर्मा की सूचना को अस्वीकार्य बताकर संवत् १२७३ में पुत्र छाहड को उस पद पर नियुक्त करने की सूचना स्वीकृत की। छाहड़ ने भी उस पदभार को उचित प्रकार से ही निभाया। (रंजितार्जुनभूपतिः।)

पुत्र छाहड़ का चरितार्थ सुयोग्य रीति से चलते देखकर तथा उसकी उधर ही रुचि जानकर आशाधर 'जगत्कायस्वभावौ वा संवेगवैराग्यार्थम्।' इस सूत्र का चिंतन कर संसार से उदास रहने लगे। अर्जुन वर्मा के समय ही उन्होंने नलकच्छपुर (नालछा) गमन किया तथा ब्रह्मचर्य स्वीकार कर जिनमंदिर में रहने लगे। सं. १२७४ में अष्टांग हृदयोद्योत की अधूरी रचना पूरी की गयी, तथा सं. १२७६ तक वहाँ पाठशाला, स्वाध्यायशाला का निर्माण किया। अर्हद्भक्ति,

सिद्धभक्ति आदि भक्ति की रचना कर उनपर सुबह शाम प्रवचन देते। उनका शब्दांकन ही उनकी स्वोपज्ञ टीका बन गयी; तथा सागारधर्मामृत की पंजिका भी पूरी की गयी।

सं. १२७७ में गुरु भक्ति (स्वसत्यनस्तोत्र), शांतिक आदि स्फुट रचना का निर्माण तथा सं. १२७९ में गिरनार के लिये विशाल यात्रासंघ का आयोजन किया गया। यात्रा समय जो राजामती-नेमिनाथ का जीवन बताया जाता था तब उस निमित्त 'राजीमती विप्रलभ' इस स्फुट काव्य की सहज रचना हुयी।

संवत् १२७९-८० में व्रत प्रकाश या वृत्त प्रकाश, पचनमस्कार दीपक, नित्य महोद्योत (अर्हन्महाभिषेकार्च्याविधि), जिनपूजा विधान आदि की रचना हुयी। इसी दरम्यान किसी व्रत उद्यापन या पूजा विधान प्रसग में काष्टासंघ के भट्टारक पद्मसेन के शिष्य पंडिताचार्य नरेन्द्रसेन पधारे। भिन्न पूजापद्धति और बाह्य आडम्बर से वे पं. आशाधर जी पर प्रभाव डालना या पडितजी को अपने अधीन करना चाहते थे। किन्तु पडितजी शात-निराकुल तथा माध्यस्थ रहे। प्रतिवाद करने के बदले दूर होना अच्छा, इस न्याय से पंडितजी नागदेव के पास सलखनपुर (अहारजी क्षेत्र के समीप) चले गये।

विधायक कार्य के समर्थक जैसे कुछ लोग समाज में रहते हैं, वैसे कुछ विरोधक भी रहते ही हैं। हर समय की यह बात है। इसी कारण पडितजी का उत्कर्ष या उनके समर्थकों का सामाजिक कार्य मे जिन्हें खास सन्मान आदि नही मिला होगा वे इनके सहज विरोध मे गये हो और उस कारण उन्होंने पंडिताचार्य नरेन्द्रसेन को बुलाकर कुछ विरोध प्रकट किया हो तो आश्चर्य नही। इस वाद विरोध को स्वयं पडितजी ने कही कुछ भी सूचित नही किया। किन्तु परिस्थिति ही ऐसी होती है कि उसका जवाब दिया ही जाता है या अतःकरण में करुणा के भाव आये बिना रहते नही है और वे अन्यरूप से प्रगट भी होते हैं।

तब सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज को साधने वाला कोई राजा रहा नही था। राजशासन में जो लोग थे उनको समाज प्रबोधन को समय नही था समाज को जोड़ने के बदले तोड़ा जा रहा था। भट्टारक साधुत्त्व से हटकर शासकत्व की ओर झुक गये थे।

वे अपने को राजगुरु कहते थे और राजा के समान ही पालखीं, छत्र, चंवर आदि का उपयोग करते थे। (भ. सं. ले. ७२५)।

संख्या में अल्प होने पर भी एक सूत्रता के कारण श्वेताम्बर जैन समाज दिगम्बर समाज से राजकाज या व्यापार आदि में आगे ही जा रहा था। इससे पंडितजी को करुणा आयी थी और उनके मुख से, लेखनी से सहज ही निकल गया– "शरीर में प्रविष्ट हुये कांटे की तरह जीवन का अंतर्जलन (स्पर्धा) स्व का ही घात करती है उन श्वेताम्बरों के भाग्य से ही समाज का विवेक दिनों-दिन नष्ट हो रहा है। मानों यह कलि काल का ही प्रभाव है।" यथा–

अन्तस्खलच्छल्यमिव प्रविष्टं रूपं स्वमेव स्ववधाय येषां ।
तेषां हि भाग्यैः कलिरेव नूनं तपत्यलं लोकविवेकमश्नन् ॥अन. ध.

इससे धर्मायतनों की रक्षा में परस्पर सहकार्य की बात तो दूर किन्तु धर्मायतनो को बाधा पहुँचाने या नष्ट करने की प्रवृत्ति का उद्‌गम हुआ। धर्मायन्नो के लिये या धर्मायतनों में ही झगड़े होने लगे। यथा–

अज्ञानतत्त्व चेतोभिर्दुराग्रहमलीमसैः ।
युद्धमेव भवेद् गोष्ठ्यां दण्डादण्डी कचाकची ॥ (ज्ञा. अन. ध. १९२)

इधर राजगुरु कहलाने वाले दिगम्बर जैन भट्टारक भी काष्टासघ और मूलसघ के रूप मे विभक्त हो गये थे। तथा अपने ही आम्नाय का समर्थन कर अपने भक्तों को आपस में लड़ा रहे थे। मूलसघी को काष्टासघी या काष्टासघी को मूलसघी परिवर्तन कराने मे ही धर्म प्रभावना मान बैठे थे। सामान्य समाज को क्या, प. आशाधरजी को भी इनके चक्कर मे फँसाने का प्रयत्न हुआ था। यथा– "दारु सघ सशयतमोनिर्मग्नाशाधर श्रीमूलसघोपदेशक - **"पितृवनस्वर्यात- कमलभद्रभट्टार का नाम् ॥"** ३३ (सेनगण प.) अथवा – "दारु सघीयाशाधर- मूलसघोपदेशक कमलभद्रभट्टारकाना ॥" २९ (लघु से. प.)

इससे धर्म का मूल आधार नष्ट हो रहा था और मात्र क्रियाकाण्ड को धर्म माना या मनाया जा रहा था। धार्मिक मान्यताओं में विकृति आ रही थी तथा प्रवृत्ति मे शिथिलाचार उत्तरोत्तर बढ़ रहा था। साधना के स्थान आराधना

के नाम पर आडम्बर और बाहरी क्रियाकाण्ड के स्थलमात्र बन रहे थे। अन्त में वहाँ एक प्रकार से धार्मिक दुकानदारी चालू हो गयी थी।

किसी में उनका विरोध करने की हिम्मत नही थी। कोई कुछ कहने की हिम्मत करता तो, मंदिरों में से निकाल दिया जाता, समाज से भी बहिष्कृत कर दिया जाता था। आचार्यकल्प प. आशाधर जैसे मुमुक्षु , ज्ञानी तथा ब्रह्मचारी व्यक्ति को इसी कारण समाज से बहिष्कृत करने की चर्चा काष्टासंघ पट्टावली में आयी है। यथा—"तदन्वये श्रीमल्लाटवर्गटप्रभाव श्री पद्मसेन देवाना। तस्य शिष्य श्री नरेन्द्रसेन देवैः किंचिद्विद्यागर्वतः असूत्रप्ररूपणादाशाधरः स्वगच्छान्निःसारितः, कदाग्रहग्रस्तं श्रेणिगच्छमशिश्रयत्॥" (भ. सं. ले. ६३२) **अर्थ**– 'उनके अन्वय मे श्रीलाडबागडगच्छ में प्रभावशाली श्री पद्मसेन देव हुये। उनके शिष्य श्री नरेन्द्रसेनदेव ने किचित् अविद्यागर्व के कारण तथा असूत्र प्ररूपणा के कारण आशाधर को अपने गच्छ से बहिष्कृत किया। उनको अपने हठ् के कारण श्रेणिगच्छ (उत्तरीय वणिक समाज) का आश्रय लेना पड़ा॥'

लगता है यहाँ सेन गच्छ का श्रेणिगच्छ ऐसा परिवर्तन हो गया है। सेनगण के भट्टारक कमलभद्र ने इनको आश्रय दिया था यह प्रसिद्ध है।

उस समय परस्पर विरोधी दो समाज के नेताओ ने (राजगुरुओं ने) आशाधर सबधी जो लिखाण कर उसमे अपनी आत्म प्रभावना मानी है उससे पडितजी के जीवन मे कुछ अघटित घटना का घटना प्रमाणित होता है।

इससे पडितजी के तीन विशेष गुण प्रतिभासित होते हैं। (१) पंडितजी भद्र परिणामी थे, (२) तत्त्वप्ररूपणा में आग्रही याने तऽजोड मान्य न करनेवाले तथा (३) स्पष्ट वक्ता थे।

(१) भद्र परिणामी– अपने को या समाज को बहिष्कृत करने की घटना का उल्लेख स्वयं आशाधरजी ने क्यों नही किया? इसका समाधान— वे भद्र परिणामी थे। जैनधर्म में जैसी व्यक्ति पूजा मान्य नही है, वैसा व्यक्ति द्वेष भी सभव नही है। 'माध्यस्थभाव विपरीतवृत्तौ' इस शिक्षा का वे स्वय निर्धार से पालन करते थे और वे कहते थे— "उपगूहन आदि नही करने वाले (दोषों को

बताने वाले) सम्यक्त्व के वैरी हैं जो साधर्मी में विद्यमान या अविद्यमान दोष को प्रकाशित करता है, जो सम्यग्दर्शन आदि से चिगते हुए साधर्मी को पुनः उसी सन्मार्ग में स्थापित नही करता, जो पुरुषार्थ के साधन से हीन साधर्मी को साधनसंपन्न नहीं करता तथा जो अभ्युदय या मोक्ष के उपायभूत मार्ग से या उसकी महत्ता से भ्रष्ट करता है– लोक में उसे प्रभावशून्य बतलाया है।" (अन. ध. १०४/२)

पंडितजी उत्तमक्षमाधर्म के पालक थे। वे यह जानते थे कि, मुझे दोष देने वालों ने मेरा क्या नुकसान किया है? वे मानते थे कि, "दयालु पुरुष पर किसी असहिष्णु द्वारा लगाया गया दोष, न उसके अपकीर्ति का कारण होता है, न दुर्गति का किन्तु उसके गुण समूह को ही बढ़ाने वाला होता है। यथा–

क्षीप्तोऽपि केनचिद् दोषो दयार्द्रे न प्ररोहति।
दयार्द्रे तृणवत् किंतु गुणग्रामाय कल्पते॥ ११/४ अन. ध

पंडितजी परम करुणावान थे। उनका चिन्तन था–

मनो दयानुविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
मनो दयापविद्धं चेन्मुधा क्लिश्नासि सिद्धये॥ ९/४ वही

पडितजी लिखते हैं कि, हे आत्मन् !पर पदार्थों के प्रति उत्पन्न होने वाले राग द्वेष को उत्पन्न नही होने देना ही तत्त्वज्ञान का सही फल है। अत: तू गुणों का पुन:-पुन: स्मरण करके निर्विकल्प आनंद का अनुभव कर। (वही १४) जिनकी बुद्धि दूसरों के कल्याण में तत्पर रहती है, उनकी कोई अनिर्वचनीय महान महिमा है ; जिससे दुर्जनों का वचनरूपी वज्र गिरते ही नष्ट हो जाता है। यथा–

परानुग्रहबुद्धीनां महिमा कोऽप्यहो महान्।
येन दुर्जनवाग्वज्रः पतन्नेव विहन्यते॥ ७/१

(२) सच्चे तत्त्व प्रकाशक– क्या प्रयोजनभूत सात तत्त्वों के मान्यता में कभी समझौता हो सकता है? पंडितजी को आचार्यकल्प माना जाता था। यह उनके सही प्ररूपना का दर्शक है। चाहे अज्ञानी उसे असूत्र प्ररूपणा माने किन्तु

इनका प्ररूपण तो तलस्पर्शी तथा मूल अध्यात्म से सबद्ध ही था। आगे उत्तरार्ध मे उनके तत्त्व प्ररूपणा के विषय को हम अधिक स्पष्ट करेंगे।

(३) **स्पष्ट वक्ता**— विपरीत आचरण करने वालों के साथ माध्यस्थभाव रखने का जैसा उपदेश दिया वैसा ही निर्भीक रहकर सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की पालना का भी उपदेश दिया। यथा— "हे सम्यग्दृष्टि ! तू , (शाप देनेवाले से) मत डर , सम्यग्दर्शनरूपी सिह मन में जागृत होने पर मदाध ऐसा मिथ्यात्वरूपी हस्ती विचरण नहीं कर सकता है। (अन. ध. ८६/२)

"जाति-कुल, सुन्दरता, समृद्धि, ज्ञान, शक्ति, तप और पूजा से अपना बड़प्पन समझनेवाला या साधर्मी को अपमानित (बहिष्कृत) करके तिरस्कृत करनेवाला सम्यक्त्व का नाश करता है। (८७/२)

"जाति, रूप, कुल, ऐश्वर्य, शील, ज्ञान, तपोबल इनसे अहकार (गर्व) करने वाला तो नीचगोत्र का बध बांधता है। (८७ टीका)

निर्ग्रन्थ कहे जाने वाले भट्टारको के पास जो धन होता था उससे उनके चेले को ही ज्यादा घमण्ड आती थी। वे पंडितजी या इनके अनुयायी को कहते थे— "आप काहे के बड़े हो ? आप जैसे वयोवृद्ध क्या, तपोवृद्ध क्या या पडितजन क्या सभी हमारे गुरु की चाकरी करते हैं। (९०/२ टीका) इस पर पडितजी उनको सबोधते थे— "जो लक्ष्मी एकमात्र पूर्व शुभकर्म से प्राप्त होती है, वह तो अनेक विपत्तियों का और भीतियों का स्थान है। वह लक्ष्मी पिता-पुत्र मे, गुरु-शिष्य में विश्वास घटाती है तथा जो स्वभावत: चचल है वह तुम्हें छोड़कर अन्य पुरुष के पास जाने के पहले तुम उससे ममत्व छोड़ दो और अपना सही बड़प्पन सिद्ध करो। (९०/२)

विद्रोही पडितजी को कहते थे— "आप लोग, निदान रहित तपकी कोरी बाते ही करते हो, निरीह होकर हमारे समान यदि कोई एक दिन भी तप कर सके तो मैं आपके दोनों चरण पर मस्तक धारूँगा।

इस पर पडितजी जवाब देते थे— "ऐसे कहने वाले तप का मद करके चारित्र के साथ-साथ सम्यक्त्व को भी भ्रष्ट कर देते हैं। (वही ९३/२)

जब कभी विरोधक अहकार की बातें करते थे तो उनको पंडितजी संबोधते थे। "मैं अपने सजातीय समूह में प्रमाण माना जाता हूँ, इतना ही नही सब नगरवासी और देशवासी सदा मेरे श्वास के साथ श्वास लेते हैं, अमुक-अमुक का जीवन मेरे अधीन है, जहाँ कहीं भी मैं जाता हूँ वहाँ पुरस्कारपूर्वक सत्कार पाता हूँ। इस तरह मद करनेवाला मकड़ी के समान अपना जाल फैलाता हुआ उसमें ही फँसकर अधःपतीत होता है। (वही ९४/२)

मिथ्या भेषधारी या जिनलिगधारी मिथ्याचारी लोगों से सबध छुड़ाते हुये प. आशाधरजी लिखते है– "दिगम्बर जैनीमुद्रा तीनो लोको मे वदनीय है, समीचीन प्रवृत्ति-निवृत्ति रूप व्यवहार के लिये प्रयोजनभूत है ; किन्तु इस क्षेत्र में वर्तमान काल मे (१) उस मुद्रा को छोड़कर विपरीत मुद्रा धारण करते हैं (२) द्रव्य जिनलिग के धारी अपने को मुनि मानने वाले अजितेंद्रिय होकर धार्मिक जनो पर भूत की तरह सवार होते हैं। (३) अन्य द्रव्यलिग के धारी– मठाधीश भट्टारक हैं जो जिनलिग का वेश धारण करके म्लेच्छो के समान दुराचरण करते है। ये तीनो पुरुष के रूप मे साक्षात मिथ्यात्व है। इन तीनों का मन से अनुमोदन मत करो, वचन से गुणगान मत करो , और शरीर से ससर्ग मत करो। मन-वचन-काय से इनका परित्याग ही करो। (वही९६/२) आगे टीका मे पडितजी लिखते हैं कि, "इन चारित्र भ्रष्ट पडितो ने और बनावटी तपस्वियो ने जिनचद्र के निर्मल शासन को मलीन कर दिया है।" (वही)।

मिथ्याज्ञान और मिथ्याज्ञानियो से सम्पर्क छुड़ाते हुये पंडितजी लिखते है– "त्रिकालवर्त्ती विषयो के अर्थ को जानने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहते हैं। उससे अविद्यारूपी पिशाचिनी के क्रूर उपद्रवों को सर्वत्र-सर्वदा रोके, और ज्ञान का प्रचार करे। यदि वह ऐसा न करे और विमूढ़ हो जाये तो, विद्वान को उसका निवारण करना चाहिये।" (वही ९७)

दुर्जनो की संगति से छुड़ाने के लिए पंडितजी समझाते हैं– "झूठे तर्क-नय-दृष्टान्तरूपी विष को उगलने के कारण भयानक आचार्य रूपी वेशधारी सर्प या दुष्टो के साथ कभी भी नही रहना चाहिये।" (वही ९८)

ढोंगी मंत्र-तंत्र वादी गुरु की पोल खोलते हुये पडितजी लिखते हैं– "जैसे सर्प के विष को दूर करने का ढोंग करने वाले दुष्ट तात्रिक, जिसे सांप ने नही काटा है ऐसे व्यक्ति को भी (विष से) मोहित करके कुचेष्टायें कराते हैं; उसी तरह मिथ्या उपदेश देने वाले दुष्ट पुरुष तत्त्वो के जानकार को भी मिथ्याज्ञान से विमूढ़ बना के विरुद्ध व्यवहार कराते हैं।"

ऐसे ढोंगी गुरु को "करणी गुरु" ऐसा सबोधकर उनसे दूर रहने की सूचना पडितजी देते हैं– "कुछ लोग स्वय अपने को और अपने सबधियों को खूब सुखी करने की इच्छा से और कुछ दुःख दूर करने की इच्छा से ढोगी गुरु की आज्ञा को प्रमाण मानकर हिसा भी करते हैं। अहिंसा प्रेमियों को उनसे दूर रहना चाहिये। (वही १०२)

इसी तरह मंत्र साधना के नाम पर होने वाली द्रव्य-हिसा और भावहिसा से छुड़ाते हुये आशाधर लिखते हैं– "हीन भी व्यक्ति व्रताचरणरूप निष्ठा से द्रव्य और भावहिसा के थोड़े त्याग से भी निष्ठावान बनता है, तथा उच्च भी व्यक्ति हिसा करने से चाण्डाल से भी नीच होता है। (वही १०१)

ऐसे गुरुमूढ़ता तथा मत्रशास्त्र, कुनय-कुतर्करूपी शास्त्रमूढ़ता से लोगों को छुड़ाकर नवग्रह, दशदिग्पाल, शासनदेव आदि देवी-देवताओं को सरागी होने पर भी पूज्य मानकर पूजने वाले लोगों को देवमूढ़ता से भी छुड़ाकर माध्यस्थभाव रखने की प्रेरणा पडितजी देते हैं– "जो विचारशील पुरुष अज्ञानमय या अज्ञान बहुल देव-गुरु-शास्त्र मे तथा केवल कुमार्ग में नित्य गमन करने वाले गतानुगतिक लोगो मे न द्वेष करता है, न राग करता है वह अमूढ़ दृष्टि इस लोक में रेवती राणी की तरह सम्यक्त्व के आराधक के रूप में शोभित होता है। (वही १०३)

इस प्रकार राजनैतिक और सामाजिक बदलते परिस्थितियो के कारण जैन समाज मे उस समय तक जो धार्मिक शिथिलाचार हुआ था, आहार-विहार में, धार्मिक क्रिया मे, मुनि निवास-वस्त्र आदि रखने में कोई मर्यादा नही रही थी। साधु गण अपने प्रत्येक शिथिलाचार को आपद्धर्म कहकर या अपने को सुधारवादी

कहकर शिथिलाचार का पोषण ही करते थे, तथा सच्चे अध्यात्मिक धर्म का अभाव ही होता जा रहा था, तब पंडितजी ने विद्यापीठ तथा पाठशाला, स्वाध्याय-शाला निर्माण कर आसेतु-हिमाचल सम्पर्क साधा था। सभी स्वाध्याय प्रेमी को एक सूत्र में बांधने का प्रयत्न किया था। पूजा पद्धति में आये विकार को दूर करने के लिये अध्यात्म प्रधान नयी पूजा पद्धति का सर्वत्र प्रचार किया था।

ऐसे स्थिति में दुकानदारी करने वाले धर्म के ठेकेदारों का यदि समाज ने विरोध किया तो उनसे पंडितजीपर रोष होना स्वाभाविक ही था और इनसे झगड़ने में समय न गँवाते हुये दूर जाकर कार्य का संचालन करने में ही पंडितजी की चतुराई नजर आती है।

आइये, अब पंडितजी के आगे के जीवन तथा कार्य का गौर से अवलोकन करें। पंडितजी संवत् १२८१ के समय जब से सलखनपुर गये तब से सं. १२८४ तक वहाँ ही रहे। वहाँ शुल्काधिकारी नागदेव के लिये रत्नत्रय विधान का आयोजन हुआ। सं. १२८३ में आर्य केशवसेन के अनुरोध से नागदेव की माता तथा पत्नि के लिए रत्नत्रयव्रत कथा (गद्य) की रचना की गयी। नागदेव के पिता श्रेष्ठी मालु के आग्रह से पूर्ण धर्मामृत की वाचना की गयी। उस समय धर्मामृत पर 'ज्ञानदीपिका' नाम की टीका लिखी गयी। यह ग्रंथ ज्ञान के विकास के रूप में निर्मित हुआ। इसकी एक प्रति लिखवाकर श्रेष्ठी मालु ने सरस्वती भडार में अर्पण की।

इधर नालछा में पंडिताचार्य नरेन्द्रसेन ने १०-१५ दिन ऊधम मचाया। धर्म प्रभावना का खूब आभास निर्माण किया और चले गये। उनके बाद न कोई वहाँ आया, न कुछ कार्य हुआ। पंडितजी के स्वाध्याय शैली में नित्य भाग लेने वाले भी उदास हो गये। पाठशाला भी बन्द हो गई। सारे समाज में उदासी छा गयी। अत: सब समाज ने मिलकर पंडितजी को फिर से आमंत्रित करने का निश्चय किया और एक प्रतिनिधि मंडल सलखणपुर भी भेजा गया। किन्तु पंडितजी ने धर्मामृत पर जो पंजिका-टीका लिखना चालू की थी, उसे पूरे किये बिना नागदेव तथा श्रेष्ठी मालु पंडितजी को रीहा नहीं करते थे। तब नालछा के प्रतिनिधि मंडल ने 'हम भी धर्मामृत का पान कर उस पर टीका लिखने में सहायक बनेंगे।' ऐसी भावना व्यक्त की। पंडितजी भी उस भावना से सहमत हुये, और वहाँ का कार्य समाप्त होने पर नालछा आने की स्वीकृति दी गयी।

यह प्रतिनिधि मडल खाली हाथ वापिस आया ऐसा जानकर नालछा के समाज ने सेनगण भट्टारक कमलभद्र को सलखनपुर भेजा और पंडितजी को नालछा लाने के बारे मे और प्रेरणा की गयी।

स. १२८५ मे नालछा के खडेलवाल श्रेष्ठी अल्हण के पुत्र पापा ने पडितजी को नालछा आने को बहुत आग्रह किया। इसके लिये शायद सिद्धचक्र विधान या पचकल्याणक महोत्सव का एक आयोजन भी किया गया। विधान के निमित्त पडितजी नालछा आ गये और उस समय खडेलवाल श्रेष्ठी केल्हण जो पडितजी के शिष्य तथा संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे, उन्होने पडितजी की अनेक स्फुट रचना को एकत्रित कर उस सकलन का नाम "जिनयज्ञकल्प" या "प्रतिष्ठासार उद्धार" रखा गया। उसके प्रशस्ति मे पडितजी लिखते हैं कि– "श्रेष्ठी केल्हण आदि के साथ अनेक प्रतिष्ठा करके हमने तो प्रतिष्ठा प्राप्त की ही थी, साथ मे इस शैली का - विधान पद्धति का भी प्रचार किया था।

'दृष्टि देवी प्रसीदतु' इस प्रशस्ति वाक्य से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रज्ञाचक्षु पडितजी के चर्मचक्षु कमजोर होते जा रहे थे। इसी कारण पडितजी से ४/५ साल मे न वाचन हो सका तथा न लेखण हो सका।

इसी नालछा मे खडेलवाल श्रेष्ठी धीनाक रहते थे। ये महण-कमलश्री के पुत्र थे। ये स्वाध्याय प्रेमी थे, अत पडितजी के नित्य स्वाध्याय शैली के सहयोगी थे। प जाजाक का भी उन दिनो नालछा निवास था। वे भी स्वाध्याय प्रेमी थे। उन दोनो ने स १२९१ मे पडितजी को विनती की, महापुराण को सक्षिप्त कर आप महावीर पुराण, शातिनाथपुराण तथा त्रेषठ शलाका पुरुषो का जीवन चरित्र ऐसा बनाइए कि जिसको पढ़कर उनकी स्मृति तुरन्त हो जाये।

इस विज्ञप्ति के कारण ३६ पत्र के महावीर पुराण की, १०७ पत्र के शाति पुराण की रचना हो गयी थी तथा स १२९२ मे त्रिषष्ठी स्मृति शास्त्र की रचना पूरी हुयी। प्रशस्ति मे स्पष्ट बताया है कि उसके प्रथम प्रति का लिखाण धीनाक ने किया है। इससे स्पष्ट होता है कि पडितजी ने उसका मात्र निरूपण किया था और उसका शब्दाकन धीनाक ने ही किया था।

आपको स्मरण होगा कि, स १२८४ मे नालछा के प्रतिनिधियो ने पडितजी को धर्मामृत का पान करने की तथा उसकी टीका का लिखाण करने की जो भावना व्यक्त की थी, उसके अनुसार नालछा के पोरवाड (पौरपाट) श्रेष्ठी समुद्धर के सुपुत्र महीचद्र ने श्रावकधर्म दीपक रचने की विनती की। इस काम में पूरा

सहयोग देने के भाव प्रगट किये। उसके अनुसार प्रबुद्ध आशाधरजी ने सागार-धर्मामृत 'भव्यकुमुदचंद्रिका' नाम की टीका प्रारम्भ की। पंडितजी उसका सबोधन करते थे और महिचंद्र उसका लिखाण करता था। उसकी समाप्ति स. १२९६ पौष बदी सप्तमी शुक्रवार के दिन हुयी। उस समय धर्मामृत पर पंडितजी का सुबह शाम जो प्रवचन होता था उससे जैन समाज कितनी प्रभावित हुयी थी इसका प्रमाण उस ग्रन्थ के अत में दिये एक श्लोक से होता है। उसमें भावना व्यक्त की है कि, "जब तक जिनेन्द्र का शासन चलेगा, या जब तक सूर्यचद्र प्रकाशित रहेगे तब तक धर्माचार्य इस धर्मामृत का व्याख्यान किया ही करेंगे।"

जिस खंडेलवाल श्रेष्ठी पापा ने आशाधरजी को नालछा लाया था, उसके बहुदेव तथा पद्मसिंह नाम के दो पुत्र थे। बहुदेव के हरदेव, उदय, स्तंभदेव ये तीन पुत्र थे। यह सारा परिवार नित्य स्वाध्याय गोष्ठी में आता था। इन्होंने पडितजी को सागार धर्मामृत की भाँति अनगार धर्मामृत पर भी भव्यकुमुद चंद्रिका टीका रचने की विनती की। हरदेव तथा धनचंद्र ने उसका लिखाण कर देने मे सहायता करने की भावना व्यक्त की और इनके सहयोग से वह टीका स. १३०० में समाप्त हुयी।

इस टीका के अत मे हरदेव लिखते है कि— "जिनेन्द्रागम रूपी समुद्र का मथन कर जिन्होने धर्मामृत का उद्धार किया, और जिसे पीकर भव्य जीवो की तृप्ति हुयी, उसके व्याख्याता मुमुक्षु श्रीमदाशाधर जयवंत रहें। यह टीका सिद्ध तथा आनंददायिनी है। इसका लिखाण भव्यात्मा हरदेव ने आत्मकल्याण के लिये ही किया था।"

यहाँ 'जयतात्स श्रीमदाशाधर :' ये शब्द ऐसा आभास देते हैं कि इसके आगे आशाधर , प आशाधर के रूप में नही रहे होगे। इसी कारण उनका नाम जयवत रहने का भाव व्यक्त हो गया।

अनगारधर्मामृत की व्याख्या मात्र दूसरों के लिए नही बनायी गयी थी, पडितजी स्वय वैसा बनने की सोचते भी थे। उस विचार को पंडितजी ने सं. १३०० के बाद अमल में लाया होगा। याने वे इसके बाद अनगार बन गये होंगे। उनके यति पर्याय का रूढ़ नाम आशाधर सूरि या आशाधरकीर्ति ऐसा था। कोई इनको अभयनदी के नाम से भी संबोधते थे।

इन अभयनदी की 'लघुस्नपन' नाम की एक रचना भी प्राप्त हुयी है जो पडितजी के अभिषेक पाठ की ही प्रति कृति है। इस पर प. भाव शर्मा (१४वी सदी) की टीका भी प्रसिद्ध हुयी है। उसके प्रारम्भ में भाव शर्मा लिखते हैं– "अथ खलु असार ससार सभव - असुखसततेः समुद्धृत्य सत्वानुत्तमें सुखे धरतीति व्युत्पत्या आप्तैः धर्मः समुदिष्टः। स किल सागार-अनगार विषय भेदेन तैरेव द्विधा प्रतिपादितः। तत्र–

अनादिविद्यादोषोत्थ चतुः संज्ञाज्वरातुराः।
शाश्वत्स्वज्ञानश-विमुखाः सागाराः विषयोन्मुखाः ॥ १ ॥

तै च जा, इज्या, वार्ता, दत्ति, स्वाध्याय, सयमः, तपः, इति षट्कर्माणि निरूपिताणि। तत्र अर्हत्पूजा इज्या। स च नित्यमह, चतुर्मुखः, कल्पवृक्षः, अष्टान्हिकः, ऐद्रध्वजः इति पचधा भवति।"

इसके आगे सागारधर्मामृत के चार श्लोक दिये हैं। तथा जगह-जगह पडितजी के अन्य रचना का आधार दिया है। अत. ये अभयनन्दी पूर्वाश्रमी के आशाधर ही होंगे ऐसा अनुमान करने मे बाधा नही आती। यदि यह अनुमान ठीक है सो 'जैनेन्द्रवृत्ति' भी इनकी रचना है।

स १३६५-६६ मे यद्यपि धार , नालछा और माडवगढ़ पूरा ध्वस्त हो गया था तथापि इनके धर्म प्रभावना का इतना प्रभाव था कि सामान्य जनमानस तो क्या मुनि-भट्टारक दो सौ साल बाद भी इनको नही भूले थे। वि. स १४९९ से १५२३ के दरम्यान हुए मुमुक्षु भ. विद्यानन्दी ने सुदर्शन-चरित्र की रचना की है। उसके आदि के श्लोक न ३२ मे वे आशाधर सूरि का स्मरण करते हुये लिखते हैं–

सूरिराशाधरो जीयात्सम्यग्दृष्टि शिरोमणि.।
श्रीजिनेंद्रोक्त सद्धर्म-पद्माकर दिवामणिः ॥

श्रीजिनेन्द्र कथित सद्धर्म रूपी कमल को विकसित करने वाले श्री आशाधर सूरि जयवत रहे। ऐसा ही उल्लेख उनके शिष्य श्रुतसागर सूरि तथा ब्र. नेमिदत्त ने भी किया है। भूतपूर्व मुनियो के नामावली में आशाधर सूरि का नाम आना उनके जीवन मे यति धर्म पालन की ओर निश्चित ही सकेत करता है।

सरस्वती स्तव या ब्राह्मी स्तुति के अत मे आशाधरकीर्ति ऐसा उल्लेख पाया जाता है। इस स्तुति के टीकाकार मुनि विद्यानद कहते हैं– "आशा नाम

दिशा का है तथा धरा नाम पृथ्वी का है। उसमें अर्थात् समस्त पृथ्वी पर तथा समस्त दिशाओं में जिनकी कीर्ति व्याप्त हुई थी ऐसे ये आशाधरकीर्ति हैं।" आशाधरकीर्ति यह नाम पंडितजी के यतिपर्याय का ही सूचक जानना चाहिये।

तथैव उस जमाने में साधु यह विशेषण देश संयमी श्रावक के लिये प्रयुक्त होता था। यह बात अनेक शिलालेखों से स्पष्ट ही है। तथा पंडित यह शब्द-त्यागी, व्रती, संयमी इस अर्थ में भी प्रयुक्त होता है। यथा— (१) सवत १२१० वैशाख सुदी १३ पंडितश्री विशालकीर्ति आर्यिका त्रिभूवनस्त्री तयोः शिष्यणी पूर्णस्त्री तथा धनस्त्री एता. प्रणमंति नित्यम्॥ (२) संवत १२२८ फाल्गुन सुदी ११ सोमवार बलार्ग्गणान्वये पडितस्त्री जिनचंद्र शिष्य रामचंद्र अर्जिका गौर स्त्री____ ॥

इससे भी पडितजी के सयमी जीवन की ही सिद्धि होती है। मूलाराधना प्रशस्ति से मानो स्वयं पडितजी इसकी ही सिद्धि करते हैं। (देखो प्रशस्ति)। धर्मामृत की रचना से ही मानो जिनका जीवन प्रारम्भ हुआ, उस धर्मामृत का ही सभी को तीन चार बार पान कराया और धर्मामृत की व्याख्या से ही उस पर्याय की इतिश्री की तथा धर्मामृत को पचाकर जिन्होंने अपना अंतिम जीवन धर्ममय बनाया वे शिवाशाधर अमर रहे।

प्रा मधुकर शकर वाबगावकर बताते हैं कि आशाधरजी की छत्री धार में बनी थी। उस पर एक शिलालेख भी था। उसका छाप उनके पास है। इससे स्पष्ट होता है कि आशाधरजी का अतिम जीवन एक तो धार मे बीता होगा, या जीवन समाप्ति के बाद पुत्र छाहड़ या धार की समाज ने उनकी छत्री वहाँ बनायी होगी। छत्री से यह भी प्रमाणित होता है कि आशाधरजी ने अंत समय मे सल्लेखना धारण की होगी अर्थात् उनका समाधिमरण महाव्रती अवस्था मे ही साधा गया हो।

ऐसे मुमुक्षु , भव्य, बुध, रत्नत्रयधर्म से पवित्र आत्मा को शत शत वदन, शत शत वदन।

"यह बात सिद्ध है कि महापडित आशाधरजी केवल ग्रंथों का प्रवचन करनेवाले सर्वोत्कृष्ट अध्येता और अध्यापक ही न थे, लोकदक्ष भी उतने ही ऊँचे दर्जे के थे। राजगुरु के भी गुरु का पद प्राप्त होना साधारण योग्यता का द्योतक नही है।" (प. खूबचंदजी)

५ - पंडित आशाधरजी की रचनाएँ

प्रकाशित

(१) अनगार धर्मामृत सूक्ति

(२) अनगार धर्मामृत ज्ञानदीपिका टीका

(३) अनगार धर्मामृत भव्य कुमुद चद्रिका टीका

(४) सागार धर्मामृत सूक्ति

(५) सागार धर्मामृत विजया टीका

(६) सागार धर्मामृत ज्ञानदीपिका टीका

(७) सागार धर्मामृत भव्यकुमुदचद्रिका टीका

(८) जिनसहस्र नाम + सटीक

(९) जिनयज्ञ कल्प + जिनयज्ञ कल्प दीपक

(१०) नित्य महोदय या नित्यमहोद्योत

(११) इष्टोपदेश टीका

(१२) मूलाराधना दर्पण

(१३) अभिषेक क्रम

(१४) अभिषेक पाठ

(१५) जैनाभिषेक

(१६) जिन श्रुत गुरु सिद्ध रत्नत्रय स्नपन

(१७) लघु स्नपन

(१८) कल्याण माल (या पच कल्याणक माला)

(१९) अध्यात्म रहस्य (योगो द्दीपण शास्त्र)

(२०) रत्नत्रय व्रत विधान

(२१) द्वादशानुप्रेक्षा (अनगार धर्मामृत अतर्गत)

(२२) आराधना स्तव (अप्राप्य)

(२३) स्वस्त्ययन स्तोत्र (गुरुभक्ति)

(२४) त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र + पंजिका

(२५) सिद्धभक्ति

(२६) वीर जिनाष्टक + स्थापना भक्ति + पावापुर क्षेत्र जयमाला

(२७) पंच पूजाष्टक — अरहताष्टक + स्तुति, सिद्धाष्टक , पच महर्षि अर्घ्य, कलि कुडाष्टक , गुरु पादुकाष्टक ।

अप्रकाशित ग्रन्थ

ग्रन्थ - प्राप्ति स्थान

१. भरतेश्वराभ्युदय — सोनागिरी ग्रंथ भण्डार
२ प्रमेय रत्नाकर — सोनागिरी ग्रन्थ भण्डार
३. सिद्धभक्ति (सटीक) — सोनागिरी ग्रन्थ भण्डार
४ भजन सग्रह (आध्यात्मिक पद) — शांतिगिरी कोथली
५. आरती तीन (देव-शास्त्र-गुरु) — शातिगिरी कोथली
६ महाभिषेक विधि — झालरापाटन
७. देव-सिद्ध पूजा विधान — झालरापाटन
८ क्रिया कलाप — झालरापाटन तथा सरस्वती भवन उज्जैन ग्रथ स-७७२
९ अर्हद्‌भक्ति — झालरापाटन तथा सरस्वती भवन उज्जैन ग्रथ स-७७२
१० भूपालचतुर्विंशतिस्तव—झालरापाटन तथा सरस्वती भवन उज्जैन ग्रंथ भ
११ जिनयज्ञकल्प-पत्र ७३—झालरापाटन तथा सरस्वती भवन उज्जैन ग्रथ भं
१२. जिनयज्ञकल्प-पत्र १२५—झालरापाटन तथा सरस्वती भवन उज्जैन ग्रथ भ.
१३ जिनयज्ञकल्प-पत्र १८० — झालरापाटन तथा सरस्वती भवन उज्जैन ग्रंथ
१४ जिनयज्ञकल्प-पत्र १२० — जयपुर ठोलियों का मदिर
१५ होम विधान पत्र १०१ — जयपुर ठोलियों का मदिर गुटका नं १३४
(ऋषिमडल पूजा + दशलक्षण पूजा सहित)
१६. स्तोत्र टीका पत्र ३० — जयपुर ठोलियो का मदिर वे. नं. ३६३
१७. रत्नत्रय पूजा पत्र ४ — जयपुर ठोलियों का मंदिर वे. नं. ९०
१८. अष्टाग हृदय सहिता पत्र ९३ — जयपुर ठोलियो का मदिर वे. न. ७५०
१९. रत्नत्रयविधि (कथा) पत्र ८—जयपुर पाटोदी म वे. न. ८७६ पत्र ४३-५१

२०. कल्याणमदिर स्तोत्र टीका पत्र ४ — जयपुर पाटोदी मं.

२१. जलयात्रा विधान पत्र ४ — जयपुर पाटोदी मं.

२२ सरस्वती पूजा पत्र ४ — जयपुर पाटोदी मं.

२३. त्रिषष्ठी स्मृति पत्र २४ — जयपुर पाटोदी मं. वे. न. २३१

२४. अकुरारोपण विधि पत्र ५ — जयपुर लूनकरण पांडया म. वे. न. १७

२५. सिद्धि प्रियस्तोत्र टीका पत्र १० — कामा दिवानजी मं. तथा
जयपुर लष्कर म. वे न ३९३

२६ शातिपुराण पत्र १०७ — जयपुर लष्कर म. वे न. २०३

२७ त्रिभगी सुबोधिनी टीका पत्र २७ — जयपुर लष्कर म. वे. न. २०

२८ कलशारोपण विधि पत्र ५ — जयपुर सघीजी म

२९ कलशाभिषेक पत्र ६ — जयपुर सघीजी म. वे नं.

३० स्तवन पत्र १ — जयपुर सघीजी म. वे. नं., पाटोदी म. वे. न १०८

३१ सरस्वती स्तुति पत्र १ — जयपुर सघीजी म

३२ ध्वजारोहण विधि पत्र २७ — जयपुर दिवाणजी म

३३ स्तोत्र चतुष्टय टीका पत्र ३३ — अजमेर भट्टारक म

३४ प्रतिष्ठा पाठ पत्र १९ — अजमेर भट्टारक म.

३५ होम विधान पत्र ३ — अजमेर भट्टारक म

३६ आशाधर ज्योतिर्ग्रन्थ पत्र २ — उदयपुर सभवनाथ म.

३७ सरस्वती स्तुति पत्र ६ — उदयपुर सभवनाथ म

३८ महावीर पुराण पत्र ३६ — डॉ. कस्तूरचदजी कासलीवाल प्रकाशित
प्रशस्ति सग्रह भाग,१

३९ अभिषेक विधि पत्र ८ — राजस्थान ग्रथ सूची भाग-२ पृष्ठ ९६

४० स्तोत्र टीका मूलस्तोत्रकर्त्ता विद्यानदी पत्र ५ — राजस्थान ग्रथ सूची
भाग-२ पृष्ठ ३०६

४१ जिनस्नपन — राजस्थान ग्रथ सूची भाग-२

४२. जिनकल्पमाला — राजस्थान ग्रथ सूची भाग-२ पृष्ठ ३६५

४३ स्वस्ति मगल विधान — राजस्थान ग्रथ सूची भाग-२ पृष्ठ ३७८

४४ सिद्धचक्र पूजा पत्र ४ — राजस्थान ग्रंथ सूची भाग-२ पृष्ठ ६९

४५ सिद्ध पूजा पत्र २ — राजस्थान ग्रथ सूची भाग-२

४६. प्रतिष्ठा सार पत्र ८७ — राजस्थान ग्रथ सूची भाग-२ पृष्ठ २०१

४७. आराधनासार वृत्ति पत्र ८ — जोबनेर - जैन मं.
४८. ध्वजारोपण विधि पत्र ७ — जयपुर - आमेर ग्रंथ भण्डार
४९. बृहच्छांतिक विधान पत्र ५८ — जयपुर - आमेर ग्रंथ भण्डार
५०. सिद्धचक्र पूजा पत्र १४ — जयपुर - आमेर ग्रंथ भण्डार
५१. जिन महाभिषेक पत्र २४ — कोटा - बोरसली मं.
५२. बृहत्शांतिक महाभिषेक पत्र ५८ — आमेर ग्रंथ भण्डार जयपुर
५३ अर्ह देव महाभिषेक पत्र ६४ — महावीरजी अ. क्षेत्र ग्रंथ सं. ११
५४ लघु शांतिक विधान पत्र ११ — महावीरजी अ. क्षेत्र ग्रंथ सं. २०७
५५. सार्धद्वयद्वीप पूजा पत्र ९२ — महावीरजी अ. क्षेत्र ग्रथ सं. २७६
५६ दीक्षा पटल पत्र ८ - झालरापाटण रा. प्रा. ग्रंथ सूची भाग-२ पृष्ठ २०१
५७. गणधर वलय पूजा पत्र ६ - आमेर ग्रंथ भंडार जयपुर
५८. देव-शास्त्र-गुरु पूजा पत्र १९ — राज. सूचि भाग ३ क्रमांक ५४४४
५९. पचमगल पत्र १ — राज. सूचि भाग ५ पृष्ठ १०८०
६०. देवसिद्धपूजा — राज. सूचि भाग ५ पृष्ठ १०८०
६१. शांति होम विधान पत्र ४ — पचायत मं. करौली
६२. म. च स्तोत्र टीका + विषापहारस्तोत्र टीका पत्र १४ — आमेर ग्रंथ भं. जयपुर
६३ शब्द त्रिवेणी श्लोक ८०० — जैन सिद्धान्त भवन आरा (मराठी शब्दकोष)
६४. पुण्याहवाचन पत्र २८ — पार्श्व. भ. चौगान-बूंदी वे. न. १४२
६५. पूजा विधान पत्र २५ (४५) — पार्श्व. भ. चौगान बूंदी वे. नं. ३१४
६६. प्रतिष्ठा विधि पत्र ७ — पार्श्व. भ. चौगान बूंदी वे. नं. १७८
६७ न्हवण विधि पत्र ३० — कोटडियों का मं. डूंगरपुर वे. नं. ३१२, ११७
६८ नित्यपूजापाठ पत्र २० — कोटडियों का मं. डूंगरपुर वे. नं. १५१०
६९. पुण्याहवाचन पत्र ७ — कोटडियो का मं. डूंगरपुर वे. नं. ५३९
७०. न स्नेहात्शरण-शांतिजिनस्तव टीका पत्र ९ — बा. मं. कारंजा
७१. तर्कामृत — पं. नाथूरामजी प्रेमी से उद्धृत
७२. व्रत प्रकाश — प. नाथूरामजी प्रेमी से उद्धृत
७३. श्रुतस्कंध विधान — पं. नाथूरामजी प्रेमी से उद्धृत

७४. पचनमस्कार दीपक – प. नाथूरामजी प्रेमी से उद्धृत
७५. नादि मगल – प नाथूरामजी प्रेमी से उद्धृत
७६. वास्तु विधान – प. नाथूरामजी प्रेमी से उद्धृत
७७ गधकुटी पूजा पत्र ७ – सरस्वती भवन उज्जैन ग्रथ स. ३०२
७८ जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय– पत्र ६६ सरस्वती भवन उज्जैन ग्रंथ सं. ११५
७९. विमान शुद्धि विधान – सोनागिरी भट्टारक म लिस्ट सं ४
८० कर्मदहन व्रत विधान – बन्हाणपुर जैन म सूची क्र. ११४
८१ स्वप्नावली – मूडबिद्री ग्रथ स. १९
८२ सुप्रभात स्तोत्र – मूडबिद्री ग्रंथ स. १८
८३ चतुर्विंशति जिनपूजा – मूडबिद्री ग्रथ स ८६३ विशेष– इसमे पच परमेष्ठि पूजा, श्रुत तथा गणधरपूजा भी है।
८४ सोलहकारण पूजा – देवलगावराजा पूजा गुटका
८५ शारदा स्तुति – प्राकृत सस्कृत मिश्र पूजा गुटका
८६ पादुका अष्टक – दे राजा पूजा गुटका
८७ दशलक्षणिक जयमाला – दे. राजा पूजा गुटका
८८ व्रतारोपण – दे राजा पूजा गुटका
८९. महर्षि स्तवण – दे राजा पूजा गुटका
९० अर्थ व्यजन पर्याय निरूपण पत्र ९ – जैन सिद्धान्त भास्कर , जनवरी १९४६ , लिपि कानडी भाषा सस्कृत
९१ वृत्त प्रकाश – जैन साहित्य का बृहत् इतिहास भाग ५ पृष्ठ १५०
९२ काव्यालकार टीका – आशाधर प्रशस्ति उद्धृत
९३ अमरकोष टीका – आशाधर प्रशस्ति उद्धृत
९४ अष्टाग हृदयो द्योत – आशाधर प्रशस्ति उद्धृत
९५ राजीमती विप्रलभ – आशाधर प्रशस्ति उद्धृत
अप्राप्य– काव्यालकार टीका , अमरकोश टीका , सिद्धक काव्य

ईडर , ब्यावर आदि के ग्रथ भण्डारो मे तथा श्वेताम्बर ग्रंथ भण्डार जोबनेर , बीकानेर , जैसलमेर अहमदाबाद मे भी अन्य रचनाओ का खोज से पता चल सकता है।

"इस ग्रन्थ में भी उन्होने पद-पद पर पूर्व विद्वानो और ऋषियो के वाक्य उद्धृत किये हैं, जिससे यह बात स्पष्ट होती है कि उनकी आत्मा आगम के

विरुद्ध एक अक्षर लिखने से भी कापती थी और वे इस भयंकर पाप से अत्यन्त भीत थे। अन. ध. ग्रंथ के अत में जो उन्होंने श्री शांतिनाथ भगवान से प्रार्थना की है कि –'कविजन समीचीन विद्या के रस को प्रकट करने वाली ही कविता किया करे।' उसका उन्होंने अक्षरशः पालन किया है, और उसके द्वारा उन्होंने आजकल के निरर्गल लेखनी के स्वामी तथा अपनी विद्यावान टीका घर-घर नर्तन करने वालो के लिए आदर्श उपस्थित किया है।" (पं. खूबचदजी)

६ - *आक्षेप और समाधान*

पडितजी का जीवनवृत्त तथा गुण गौरव देखने के बाद मन में सहज शका उत्पन्न होती है कि जिनका उत्तरार्ध जीवन पवित्र तथा निर्लोभ-वीतरागमय बीता उनके विषय मे कुछ आक्षेप क्यो उठाये जाते हैं? समाधान यह है कि ये आक्षेप तो कोरे भ्रमवश या कुछ अज्ञानवश उठाये गये है।

पहिला आक्षेप है– पडितजी बीसपथी थे।

इसका समाधान यह है कि, विक्रम की तेरहवी सदी में ये पथभेद ही नही थे। सभी एक जिनेन्द्रपथी ही थे। अत पडितजी को बीसपथी बताना कोरा भ्रम है।

दूसरा आक्षेप है– पडितजी पचामृताभिषेक करते-कराते थे, दस दिग्पालो को पूजते थे।

समाधान– दस दिग्पालो को उन्होने न कभी पूजा, न किसी को उनके पूजन की प्रेरणा दी। इस विषय मे तथा पचामृताभिषेक के सबध मे आगे खुलासा कर रहे है। वहाँ शाति से पढ़ना।

(३) गोबर से भगवान की आरती उतारने का आक्षेप है।

समाधान– जिनयज्ञकल्प के एक श्लोक मे तथा नित्यमहोद्योत के श्लोक ८२, ८३ मे गोमय का उल्लेख जरूर आया है। श्लोक ८२ मे गोमयभस्म का तथा ८३-८४ मे गोमय अग्नि का उल्लेख कर उससे अष्टकर्मदहन का हेतु माना है। यथा– "पुण्याग्नि प्लुष्ट तज्जो ज्वलभसितकृतै· गोमयोधस्य पिण्डैः अष्टकर्मी भस्मयतु। दीपै· चिद्रूपं आशु दीपयतु।" आदि।

इससे स्पष्ट है कि धूपारति के लिये कण्डे जलाये जाते थे, उस पर दशांग धूप डालकर आरती उतारी जाती थी। उससे अष्टकर्म नाश की भावना भाई जाती थी। अत: सच में तो वह दशांग धूप की ही आरती थी, किन्तु अज्ञानियों ने उसे विकृत रूप देकर पडितजी को गोबरपथी कह दिया। टीकाकार ने भी गोमय का शब्दार्थ गोविट ऐसा किया। उसके भी दो अर्थ होते हैं। (१) गोबर और (२) गो अर्थात सरस्वती-वाणी उसमे विट याने रममान-तल्लीन। जिनवाणी मे या अपने ज्ञानस्वरूप में तल्लीन ऐसा भाव प्रगट होता है। श्लोक न. ८७ मे– "स्वसमयाभ्यासोद्यतै." ऐसा उल्लेख कर पूजा करनेवाले को स्वसमय याने शुद्धात्मानुभव का अभ्यास पुन: पुन करने की प्रेरणा दी है। यथा– 'स्वसमय: शुद्धात्मानुभव तस्य अभ्यास: पुन पुन. भावना, तत्र उद्यतै· उद्यम प्राप्तै: ।' आदि।

४था आक्षेप– तापस, आजीवक आदि की पूजा करने-कराने का। **समाधान–** इसके लिए यह कथन किस प्रसंग में आया है यह देखना जरूरी है। पचकल्याण महोत्सव चालू हुआ है, उस प्रसग पर वहाँ 'यदि कोई तापस, आजीवक गुरु आ जाये तो, उनको दान, मानादिक तथा भोजनादि से संतुष्ट ही करना चाहिए!' यह तो मात्र लोक व्यवहार-शिष्टाचार का दिग्दर्शन है। ऐसा कथन जिनयज्ञकल्प में ही नही तो सागारधर्मामृत के द्वितीय अध्याय मे भी किया है। यथा–

यजेत देवं सेवेत गुरूत्पात्राणि तर्पयेत्।
कर्मधर्मं यशस्यं च यथालोकं समाचरेत्॥ २३॥
यथास्वं दानमानाद्यै सुखी - कृत्य विधर्मण:।
सधर्मण. स्वसात्कृत्य सिद्ध्यर्थी यजतां जिनम्॥ ३३॥
धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये।
कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत्॥ ९०॥

अर्थ– देवों की पूजा करना, गुरु की सेवा करना और पात्रों को दान देना चाहिए। कर्म, धर्म तथा यश सपादन के लिए यथायोग्य लोकाचार का पालन करना चाहिये॥ २३॥ विधर्मी जनों को यथायोग्य दान मानादि से संतुष्ट करके साधर्मी को अपने साथ लेकर जिनेन्द्र का पूजन आदि करना चाहिये॥ ३३॥ पात्र के दो भेद होते हैं– (१) धर्मपात्र और (२) कार्यपात्र। स्वार्थ याने स्वात्मधर्म

सिद्धि के लिए धर्मपात्र की सेवा करना तथा कार्य की सिद्धि के लिये या कीर्ति संपादन के लिए कार्यपात्रों का भी उचित सत्कार करना चाहिये।

५वाँ आक्षेप– सागारधर्मामृत में रात को जल, औषध, तांबुल आदि सेवन करने का समर्थन है। यथा–

भृत्याऽऽश्रितानवृत्याऽऽर्तान्कृपयाऽनाश्रितानपि।
भुंजीतानह्यम्बुभैषज्यताम्बुलैलादि निश्यपि॥ ७६॥ ११/२

आजीविका के अभाव में दुःखी ऐसे आश्रित-अनाश्रित जीवों का करुणा बुद्धि से भरण पोषण करके स्वयं दिन में ही भोजन करें तथा जल, औषधि, तांबुल, इलायची आदि रात में भी ले सकते हैं। इति

समाधान– यहाँ इतना जानना जरूरी हैकि यह कथन पाक्षिक श्रावक के लिये ही है। वह अव्रती होता है अतः उसके लिये भोजन छोड़कर अन्य बातों का सेवन अवर्ज्य कहा और रात्रि भोजन के त्याग का उपदेश मात्र पाक्षिक श्रावक के लिये ही नही किन्तु चाडालादिक के लिये भी हितकारी कहा। उसके समर्थन मे एक चित्रकूट के जागरी मातगी का उदाहरण भी दिया है।

प्रतिमाधारी या व्रती श्रावक के लिये तो रात्रि में चतुर्विध आहार का त्याग ही उपदिष्ट है। सामान्य श्रावक को भी जब कभी छोटा-मोटा व्रत दिया जाता तब, पंडितजी कटाक्ष से उसे अष्टमूल-गुणधारण, रात्रि भोजनत्याग, अगालित पानी पीने का त्याग, हरित-तांबुल, औषध आदि का भी त्याग कराते थे। यथा–

मद्यमांस मधु क्षीर फलानि निशि भोजनं।
तांबुलौषधमावर्ज्यं पाणिं चागालितांबुना॥ ५॥ (व्रतारोपन)

आक्षेप नं. ६– स्वदार सतोषी को रीति-रिवाज का भान रखना जरूरी है। जहाँ कथन आया है वह श्लोक इस प्रकार है–

सोऽस्ति स्वदारसंतोषी योऽन्यस्त्री प्रकट स्त्रियौ।
न गच्छत्यंहसो भीत्या नान्यैर्गमयति त्रिधा॥ ५२/२॥

इसमें अन्य स्त्री याने परदारा तथा प्रकट स्त्री याने वेश्या इनका सेवन वर्ज्य ही बताया है। तथापि इसके समर्थन के लिये टीका में सोमदेवसूरि के यशस्तिलक चम्पु का एक श्लोक दिया है। यथा–

वधुवित्तस्त्रियौ मुक्त्वा सर्वत्रान्यत्र तज्जने।
माता स्वसा तनूजेति मतिर्ब्रह्मगृहाश्रमे ॥

इस श्लोक में आये वित्तस्त्री का अर्थ वेश्या ऐसा भ्रम से किया गया है। अधेरे मे सॉप-सॉप कहकर डर बढ़ाने का यह प्रकार है। उस जमाने मे स्त्री तथा पुरुष की विक्री होती थी, उनको गुलाम बनाया जाता था। अनतमती या सति चदनबाला की कथा से इसकी पुष्टि ही होती है। तथा ईसाप नीति का कर्त्ता इसाप भी गुलाम ही था। ऐसी वित से मोल ली हुई स्त्री को वित्तस्त्री कहा जाता था। वह मोल चुकाने वाले की ही समझी जाती थी। अत मालिक यदि उस वित्तस्त्री का उपभोग करे तो उसे व्यवहार मे उस समय वर्ज्य नही समझा जाता था।

इसी कारण वधु माने विवाहित स्त्री तथा गुलाम स्त्री इनका उपभोग छोड़कर अन्य स्त्री का उपभोग छुड़ाया। यह उस काल के अनुरूप ही कथन है। आज तो गुलाम प्रथा बद ही है, किन्तु उसका वेश्या ऐसा अर्थ कर भ्रम पैदा करना अज्ञान का ही प्रदर्शन है।

आक्षेप न. ७– सर्वार्थसिद्धि, राजवार्तिक, पचसग्रह, गोम्मटसार कर्मकाण्ड आदि सभी ग्रन्थो मे सासादन सम्यग्दृष्टि, सम्यग्मिथ्यादृष्टि, असयत सम्यग्दृष्टि गुणस्थानो मे चार ही बध के कारण माने है। किन्तु प आशाधरजी ने अपनी टीका भ कु. चद्रिका मे तृतीय गुणस्थान मे बध के पॉच कारण बतलाये है। यथा– 'प्रथम तृतीय गुणस्थानयो पञ्चापि। सासादनासयत सदृष्टयोश्चत्वारस्तयोर्मिथ्यात्वाभावात्।' इति।

समाधान– मिथ्यात्व का उदय यद्यपि पहले गुणस्थान मे ही बतलाया गया है तथापि सम्यगमिथ्यात्व कर्म वस्तुत मिथ्यात्वकर्म का ही अर्थ अशुद्धरूप है। सभवतया इसी से आशाधरजी ने मिथ्यात्व का उदय तीसरे मे माना है। बध तो मात्र मिथ्यात्व प्रकृति का ही होता है और वह प्रकृति इस [illegible] माना है। उदय को प्राप्त हुयी है, अत यहॉ मिथ्यात्व का [illegible]

आक्षेप नं. ८– सर्वार्थसि[illegible] [illegible]र्क आदि ग्रथोमे पचम गुणस्थान माना है किन्तु प आशाधरजी ने सयता-सयत मे अविरति को [illegible] अविरति का अभाव बतलाया है। यथा–सयतासयत प्रमत्त मे [illegible]स्त्रयो मिथ्यात्वाविरत्यभावात्।' यह कथन शास्त्र सम्मत नही है। इति।

समाधान– अविरति १२ प्रकार की कही गयी है। पचम गुणस्थान में चाहे देशव्रत क्यों न हो वे संवर निर्जरा के ही कारण बताये। तथा वहाँ जब शुभोपयोग होता है तब बारह अविरति में से कोई भी अविरति प्रवृत्ति में नही होती है क्योकि अविरति पापजन्य ही है, इसी कारण पंचमगुणस्थान में भी अविरति का अभाव बताया। यह पडितजी की स्वतंत्र तर्क दृष्टि है तथा यह शास्त्र सम्मत भी है। यहाँ अनतानुबंधी तथा अप्रत्याख्यानावरण कषायोदय जनित अविरति का अभाव ही है।

अथवा, देशव्रती जिस मर्यादा के (सीमा के) बाहर हिसादि का त्याग करता है, वह उस मर्यादा के बाहर सकलव्रती ही कहलाता है। इसी कारण पचम गुणस्थान मे मिथ्यात्व के साथ अविरति का भी अभाव कहा हो तो असभव नही है।

आक्षेप नं. ९–"जिनसहस्रनाम के आठवे तथा नवमे शतक मे विधर्मियों के भगवान का ही स्मरण किया गया है। यथा— आठवे ब्रह्म शतक मे ब्रह्मा, विष्णु , महेश , गणेश , सूर्य , चद्र , अग्नि के ही विविध नामो का सकलन है और नवमे बुद्ध शतक मे— बुद्ध , यौग , नैयायिक , वैशेषिक , सांख्य , मीमांसक चार्वाक आदि के विविध नामो को लेकर स्तवन किया है।" इति।

समाधान– आठवें और नवमे शतक के नामों को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि प आशाधरजी के सहस्रनाम की यही सबसे बड़ी विशेषता है। यद्यपि पात्र केसरी, अकलक आदि पूर्ववर्ती आचार्यों ने भी ब्रह्मा , विष्णु , आदि नामो से जिनेन्द्रदेव का स्तवन किया है, पर उनके प्राय: सर्व नामों का इस प्रकार सग्रह करके स्तवन करने का महान साहस करना आशाधर जैसे महान तार्किक एव प्रखर विद्वान का ही कार्य है। **ऐसा प्रतीत होता है कि उनके इन नामों से प्रभावित हुए विस्मित हुए लोगों के आग्रह से ही पंडितजी ने सहस्रनाम पर स्वोपज्ञवृत्ति अर्थ व्यक्त कर सबका संदेह दूर कर दिया है। शाब्दिक दृष्टि से आठवाँ और दार्शनिक दृष्टि से नवां शतक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।"**

(जि. स. प्रस्तावना पृ . २०)

आक्षेप नं. १०– यदि लोक व्यवहार को ग्राह्य माना जाय तो क्या लोकाचार के नाम पर मरे पितरों के लिये पिण्डदान करना है ? या होलीकोत्सव-धूलिपाडवा जैसे अभद्रवृत्ति में प्रवृत्त कराना है ?

समाधान– नही , ऐसी प्रवृत्ति तो लोकमूढ़ता है । प. जी ने तो स्वय पिण्डदान का तथा होलीकोत्सव का निषेध ही किया है । यथा--

यो वामस्य विधेः प्रतिष्क शतयाऽऽस्कंदन् पितृण्जीवतो–
ऽप्युन्मथ्नाति स तर्पयिष्यति मृतान पिण्डप्रदानैः किल ।
इत्येषा जनुषान्धतार्थ सहजाहार्याथ हार्या त्वया ,
स्फार्यात्मैव ममात्मजः सुविधिनोध्दर्ता सदेत्येव दृक् ॥ ११५ ॥/२ अन. ६

जो पिता के जीवित काल मे प्रतिकूल आचरण करता है तथा अन्य से भी वैसा कराता है , तीव्र मोह उत्पादक कृति करता है , ऐसी स्थिति मे मरने पर पुत्र के द्वारा किये गये पिडदान से क्या पिता की सद्‌गति हो सकती है ? हे जीव ! तू ऐसी लोकान्ध प्रवृत्ति को छोड़ दे । अहो , मेरे सद्रूप द्रव्य की जो उर्ध्वतासामान्यरूप सन्तति है वही मेरी सही सतति है । द्रव्य के सत् का स्वीकार ही सम्यग्दर्शन का स्वीकार है । उसके स्वीकार से ही मेरा सही कल्याण है ।

भावार्थ– 'अपुत्रस्य गतिर्नास्ति', जिसको पुत्र नही उसको स्वर्ग नही मिलता, तथा 'पिण्डदान के लिये पुत्र का होना अनिवार्य है , उसके बिना मेरा उद्धार नही होगा ।' ऐसी जो लोक मान्यता है उसको यहाँ दूर किया है ।

इसी प्रकार सागार धर्मामृत के ज्ञानदीपिका टीका के पृष्ठ २६४ में सम्यग्दृष्टि को होलिकोत्स्व से दूर रहने का कथन किया है । यथा —

"चैत्र कृष्ण प्रतिपदा के दिन जो धुलैण्डी खेली जाती है , तथा कौमुदी महोत्सव , कूदना , नाटक देखना , रासक्रीड़ा आदि ये सब भी नही करना चाहिए ।"

इस प्रकार सभी मूढ़ता से बचने का उपाय पडितजी ने बताया है । तथा यह भी कहा कि 'जिससे अपना और पर का कल्याण होवे ऐसे पूजा-विधान आदि कार्य हमेशा किया करे । 'को हि श्रेयसि तृप्यति ।' कल्याण स्वरूप कार्य मे कौन आलसी रहेगा ? अर्थात् कोई नही । षडावश्यक ही नही सभी यात्रादिक क्रिया करने पर उनका हमेशा बल था । उर्जयन्त, चपापुर पावापुर आदि कि यात्रा की प्रेरणा दी है और पावापुर के महावीर प्रभु की अष्टक जयमाल भी रची है । जिनयज्ञकल्प के प्रथम अध्याय के अंतिम श्लोक न १७१ में उन्होने

अपने को सद्गृहस्थ संबोधा है और नीचे टीपनी में कौन सद्गृहस्थ होता है ? का जवाब -'दान पूजा प्रतिष्ठा जिन यात्रादि-कर्मनिष्ठः सद्गृहस्थः ।' ऐसा स्पष्ट किया है ।

पंडितजी कही संक्षेप में खुलासा करते थे और 'इसका अधिक खुलासा अमुक जगह करेंगे' ऐसा उल्लेख करते थे । यथा—

१) सा. ६ अ. ५ श्लोक ३१ टीका — आश्रित्येत्यादौ व्याख्यास्यते ।

२) सा. ६. अ. ९ श्लोक २३ टीका — एतद् रहस्यभावात् पदस्थ-ध्यान प्ररूपणावसरे प्रपंचयिष्यते ।

३) स. एसः शुद्धाष्टक प्रपंचः समित्यापदिष्योऽपोधृत्य सूत्रे स्वाख्यायते ।

सा. ध ज्ञानदीपिका

सा. ध भ. कु. चं. सूत्रेऽन्वाख्यायते ।

इससे ज्ञानार्णव और तत्वार्थ सूत्र की भी टीका करने का भाव स्पष्ट होता है । याने तत्त्वार्थ सूत्र पर भी यथावसर उनके प्रवचन होते ही होंगे । अतः सभी आगमो का तुलनात्मक यथार्थ ज्ञान जिनको था तथा जो निर्मल चारित्र के धारी थे उनके साहित्य में आक्षेप उठाना उचित ही नही , अज्ञान का या भ्रम का भी प्रदर्शन है । पडितजी के चारित्र के बारे में पूज्य सुपार्श्वमती माताजी लिखती हैं— "नलकच्छपुर में वास करने के लिये जब आशाधर गये तब उन्होंने संयम की भी अभिवृद्धि की । गृहस्थाश्रम से सबध का भी त्याग किया । गृहविरत उच्च श्रावक के पद में उनकी स्थिति उस समय रही होगी ।" (सा. ध. प्रस्तावना - वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री - सोलापुर)

इति भद्रम् । "विधिवद्धर्मसर्वस्वं यो बुध्वा शक्तितश्चरन् ।
प्रवक्ति कृपयाऽन्येषां श्रेयः श्रेयोर्थिनां हि सः ॥ १०/१ अन. ध

"सरस्वती पुत्र यह जिनका सर्वमान्य पद था, उन पं. आशाधरजी की प्रशसा समाज मान्यता कितनी अधिक थी यह सहज ही लक्ष्य में आ सकता है ।राजमान्यता के साथ साथ ही समाज मान्यता भी प्राप्त करना अत्यन्त कठिन है ।"

पं. खूबचंदजी

'इस स्थिति के होते हुये भी जहाँ तक मैं समझता हूँ वे एक प्रामाणिक ग्रन्थकार रहे हैं । जो कुछ भी विधान उन्होंने किए हैं , पूर्वकालीन किसी न किसी ग्रन्थ के आधार पर ही किया है ।" **— पं. बालचंद्र शास्त्री**

७ - समकालीन त्यागी तथा सहयोगी

(१) भ. उदयसेन– (सं. १२४०-६०) सिद्धान्तसार संग्रह के कर्ता नरेंद्र सेन ने ग्रंथ प्रशस्ति में तीन सधर्मियों का उल्लेख किया है। १) उदयसेन , २) जयसेन और ३) गुणसेन (द्वि)। नरेंद्र सेन का काल अनुमान से सं. ११५० का माना गया है तथा ये लाडबागड गच्छ के थे। अत: आशाधर के गुरु ये उदयसेन नही हो सकते। सेनगण भट्टारक बिरदावली में एक उल्लेख इस प्रकार आया है– "षटजीवनिकाय कैरवामृतसिंधु चद्रोदयायमान श्रीमदुदयसेन मुनीश्वराणाम् ॥ ३१ ॥ ये मूल सघ के थे तथा अनेक प्रशस्ति मे और जिनसहस्रनामस्तवन के स्वोपज्ञ टीका में पडितजी ने इनका ही गुरु ऐसा उल्लेख किया है। अत· पडितजी को इन्होंने मडलगढ़ मे पढ़ाया होगा तथा जब धारा मे पंडितजी ने अपने बुद्धि की - काव्य तथा तर्क ज्ञान की प्रतिभा का दर्शन दिया तब पडितजी को 'कविकालीदास' तथा 'नयविश्वचक्षु:' ऐसे दो उपाधि से गौरवान्वित किया। पडितजी ने मूलाराधना दर्पण के प्रशस्ति मे इनका उल्लेख 'उदयकीर्ति' के नाम से किया है। एक उदयकीर्ति की अपभ्रश तीर्थवदना भी प्रसिद्ध है। हो सकता है कि ये उदयसेन-उदयकीर्ति ही उसके कर्त्ता हो।

(२) मुनि मदनकीर्ति– (स. १२४०-६४) बालक आशाधर को मंडलगढ़ मे या अजमेर विद्यालय मे आपने पढ़ाया था। जिन सहस्रनामस्तोत्र के स्वोपज्ञ टीका मे पडितजी ने आपको गुरु लिखा है। 'शिष्यादिच्छेत्पराजय' इस नीति के अनुसार जब आपने धारा मे पडितजी का बुद्धि वैभव देखा तब पडितजी का गौरव कर 'प्रज्ञापुज' ऐसी उपाधि से आपने अलकृत किया। आपने भारतभर मैं भ्रमण कर भारत के सुप्रसिद्ध तथा चमत्कारपूर्ण क्षेत्रो के प्रमिद्धि हेतु 'शासनचतुस्त्रिशिका' इस पद्य ग्रथ की रचना की।

दक्षिण भारत मे विहार करते समय एक राजकन्या से आपका विवाह होने की सूचना प नाथूराम प्रेमी ने दी है। सं १२६३-६४ के दरम्यान भ. विशालकीर्ति ने आपको प जी के पास लाया था और प. जी ने आपका स्थितिकरण बड़ी खूबी से किया था। आगे चलकर स. १२६४ मे आपने

उज्जयनी में अन्यवादियों को परास्त कर 'महाप्रामाणिक' यह पदवी प्राप्त की थी। शासन चतुस्त्रिंशिका में आपको महाप्रामाणिक चूड़ामणि संबोधा है।

(३) भ. श्रीचंद्र– (सं. १२४१-४७) आशाधर का जन्म जिस मंडलगढ़ में हुआ था, वह स्थान उस समय अजमेर राज्य में था। अजमेर में उस समय बालात्कारगण का एक भट्टारक पीठ था। उस पर सं. १२४१ में आपकी स्थापना हुयी थी, आपकी जाति बघेरवाल थी। पंडितजी के पिता सलखण अजमेर के चौहान सोमेश्वर तथा पृथ्वीराज से मंडलगढ़ में शासनाधिकारी नियुक्त थे, अत: उनका अजमेर में निरंतर जाना आना होता था। तब भ. श्री चद्र द्वारा चलाये जैन विद्यापीठ का लाभ आशाधर को होता ही था। उस विद्यापीठ की इमारत का नाम आज 'ढाई दिन का झोपड़ा है।'

(४) वादिराज धरसेन– (सं. १२४०-५०) आशाधर को जैन न्याय-व्याकरण पढ़ाने वाले प. महावीर के आप विद्या गुरु तथा सेनगण परंपरा के ज्ञानी मुनि वीरसेन के आप शिष्य हैं। आपने नागकुमारपंचमी कथा की रचना की है। उसके प्रशस्ति मे आपने लिखा है–

आसीद्‌भूरिगुणाकरस्य गुणिनः श्री वीरसेनस्तुतः,
शिष्यः श्रीधर सेन पंडित इति ख्यातः सतामीशितुः।
गोनर्देव चितातपस्य वसतौ तेन प्रशान्तात्मना,
संवेगार्थमियं विशुद्धमनसा साध्वी कथा श्रेयसे ॥ १ ॥

अयंपार्य ने आशाधर के पूर्व प्रतिष्ठाकार के रूप में या प्रतिष्ठापाठ रचयिता - के रूप में एक धरसेन का उल्लेख किया है। शायद ये ही धरसेन आशाधर के दादागुरु हों।

(५) पं. महावीर– (स. १२४०-५५) आशाधर ने धारानगरी आते ही प. महावीर से जैनेंद्र आदि व्याकरण तथा जैन प्रमाण (न्याय एवं नय) शास्त्रों का अध्ययन किया था। लगता है आप धारा के शासकीय विद्यापीठ में जैन अध्यापक के रूप में कार्यरत हों।

(६) कवि बिल्हण– (सं. १२४०-६४) आप धारानृपति विंध्यवर्मा के कृपापात्र तथा परराष्ट्रमत्री थे। विंध्यवर्मा के मांडु (मांडवगढ़) में मिले एक लेख

में आया है कि— 'विंध्यवर्मनृपते. प्रसादभू-साधिविग्रहक बिल्हण. कवि: ।' आपने आशाधर का बुद्धिवैभव सुनकर भरी राजसभा में 'सरस्वती पुत्र' तथा 'आर्य' सबोध कर गौरव किया था और भाईचारा बनाये रखने की भावना व्यक्त की थी। यथा—

आशाधर , त्वं मयि विद्धि सिध्दं , निसर्ग सौंदर्य मजर्यमार्य।
सरस्वती पुत्र तया यदेतदर्थे परं वाच्यमयं प्रपंचः ॥

कवि बिल्हण का ७ पद्य का एक पार्श्वनाथस्तोत्र मिला है। इससे बिल्हण की जैन धर्म के प्रति आस्था प्रगट होती है।

(७) मदन कवींद्र– (स १२६०-७५) प नाथूराम प्रेमी आपको कवि बिल्हण का ही पुत्र होने का अनुमान करते है। आप जाति से गौड़ ब्राह्मण थे, आपको आशाधरजी ने काव्यशास्त्र पढ़ाकर कवीद्र बनाया था। आप मालव नरेश अर्जुन वर्मा के गुरु तथा 'बाल सरस्वती' के नाम से प्रख्यात थे। यथा- 'यदुक्तमुपाध्यायेन बालसरस्वत्यापरनाम्ना मदनेन।' ऐसा आपका उल्लेख मिलता है। अर्जुन वर्मदेव के जो तीन दानपत्र मिले है उनकी रचना आपने ही की थी। उसके अत मे लिखा है— 'रचितमिद राजगुरुणा मदनेन।'

(८) मुनि विनयचंद्र– (स १२४४-६०) आप **आचार्य श्री सागरचंद्र** के शिष्य थे। आचार्य सागरचद्र का उल्लेख उज्जैन के जैन मूर्ति सग्रहालय के पद्म प्रभ - का पा. पद्मासन मूर्तिलेख मे आता है। यथा— स १२२३ वर्षे माघ सुदी ७ भौमे मूलसघे भट्टारक श्री विशाल कीर्तिदेव तस्य शिष्य (शुभ) कीर्तिदेव ______ **आचार्य श्री सागरचंद्र** तस्य शिष्य रत्नकीर्ति श्री मेड़तवालान्वये सा______ ॥ अत· आप मूलसघ के ही थे और प आशाधरजी से सस्कृत ग्रथो का अभ्यास करते थे। आपके ही प्रेरणा से पडितजी ने इष्टोपदेश टीका भूपालचतुर्विंशतिस्तव टीका , आराधनासार वृति आदि की रचना की थी। तथा जिनसहस्रनामस्तव की सोपज्ञ टीका भी आपके अनुरोध से आशाधर ने बनायी थी। भूपाल चतुर्विंशतिस्तव टीकापर आपने भी एक टीका लिखी है। जिनसहस्रनामस्तव टीका की प्रथम प्रति आपने लिखी थी।

(९) भ. वसंत कीर्ति– (सं.१२६४-६५) आप अजमेर गद्दी के मूलसंघ बालात्कारगण के भट्टारक हैं। सं. १२४९ में सलखण जब धारानगरी पधारे थे तब, अनेक परिवार भी धारा आये थे। इनके आग्रह से आपका भी धारा राज्य में आगमन हुआ था। भ. सं. लेखांक २२३, २२४, २२५ से पता चलता है कि आप अजमेर पट्ट पर सं. १२६४ माघ सुदि ५ को बैठे थे। आपकी जाति बघेरवाल थी। आपकी उम्र के ३४ में ही मृत्यु हो गयी थी, अतः मात्र एक वर्ष चार माह , २२ दिन तक ही आप पट्ट पर रह सके। आपने उम्र के २३ वें वर्ष में ही दीक्षा ली थी। प्रारंभ से आप वनवास में ही रहा करते थे , वन में आप व्याघ्रआदि से पूजित थे। किंतु जब शाहबुद्दीन घोरी ने पृथ्वीराज का अंत कर उसका राज्य खालसा किया था तथा मालवा प्रांत में भी अतिक्रमण कर धार्मिक अत्याचार किये थे , तब आपने मडपदुर्ग जैन विद्यापीठ से एक आदेश निकाला था। अपवाद मार्ग के रूप में चर्यादि समय पर मुनि को कुछ वस्त्र परिधान की छूट दी थी। उस समय मडपदुर्ग मे ६-७ लाख जैनों की आबादी थी। अत· अजमेर विद्यापीठ भ्रष्ट होते ही यहाँ आकर आपने एक विद्यापीठ की स्थापना की थी।

(१०) भ. विशालकीर्ति– (स. १२६६-७०) - आपको आशाधर ने न्यायशास्त्र पढ़ाकर वादीद्र बनाया था। आपने स. १२६२ में कोल्हापुर प्रांत के अर्जुरिका ग्राम मे शब्दार्णवचद्रिका लिखी है। उसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि आपको उस समय पडितदेव , वादीभवज्राकुश , आदि सबोधा जाता था। मुनि मदनकीर्ति ने जब गृहस्थधर्म स्वीकार किया था तब आपने उनको बहुत समझाया था। अत मे उनको आपने आशाधर के पास लाकर उपस्थापना की थी। स १२६५ मे भ. वसतकीर्ति के अचानक स्वर्गवास के कारण विद्यापीठ का रिक्त हुआ स्थान आपको स. १२६६ में दिया गया था। (भ. स. लेखांक २२६) उस विद्यापीठ में जैन न्याय , व्याकरण तथा सिद्धान्त और करणानुयोग, चरणानुयोग , द्रव्यानुयोग की पढ़ाई होती थी और यहाँ से सुविज्ञ हुए पंडित मुनि को त्रैविद्य इस पदवी से विभूषित किया जाता था।

(११) भ. विनयचंद्र– (सं. १२७०) आप काष्टासंघ माथुरगच्छ के भट्टारक थे तथा बालचंद्र के शिष्य थे। ' ,,शाधर की 'कल्याणमाला' का अनुवाद

कर आपने अपभ्रंश भाषा मे 'कल्याणकरास' की रचना की थी। इस ग्रथ को कल्याणक विधि ऐसा भी सबोधा जाता था।

(१२) **कवि अर्हदास**- (स १२६५-७०) आपकी १) मुनिसुव्रतकाव्य २) पुरुदेवचपु और ३) भव्यजनकण्ठाभरण ये तीन रचना उपलब्ध है। इन तीनों ग्रथों की प्रशस्ति मे आपने आशाधर के धर्मामृत सूक्ति का गौरव से उल्लेख किया है। उससे स्पष्ट है कि, आप आशाधर के समकालीन थे और आप पर आशाधर का गहरा प्रभाव था। यद्यपि पडितजी ने अपने किसी भी ग्रथ मे अर्हदास का उल्लेख नही किया है तथापि स्वय अर्हदास अपने ही विषय में लिखते हैं - 'कुमार्ग से भरे हुए ससार रूपी वन मे जो एक श्रेष्ठ मार्ग था, उसे छोड़कर मैं बहुत काल तक भटकता रहा, अन्त मे बहुत थककर किसी तरह काललब्धि से फिर पाया। सोअब जिनवचनरूप क्षीरसागर से उध्दृत धर्मामृत (अनगार तथा सागार) को सतोष पूर्वक पी पीकर और विगत श्रम होकर मैं अर्हद्‌भगवान का दास होता हू॥ ६४॥ मिथ्यात्वकर्मपटल से बहुत काल तक टॅकी हुयी मेरी दोनो ऑखे जो कुमार्ग मे ही जाती थीं, आशाधर की उक्तियो के विशिष्ट अजन प्रयोग से स्वच्छ हो गयी और इसलिये अब मैं सत्पथ का आश्रय लेता हूँ॥ ६५॥ (मु. सु काव्य)

"मिथ्यात्व की कीचड से महले हुए मेरे इस मानस मे जो कि अब आशाधर की सूक्तियो की निर्मली के प्रयोग से प्रसन्न और स्वच्छ हो गया है, पुरुदेवचपु का निर्माण हो रहा है (पु दे चपु) "

"आत्मधर्म के अनुरागी किन्तु गृहस्थ आश्रम मे ठहरे हुए भवभीरूओ के लिए जिनकी सूक्तियॉं सहायभूत है तथा जो शेष आश्रमियो को सहाय करते है, वे प्रमुख आशाधर सूरि धन्य है॥" (२३६ भ ज.क.)

इन वचनो को देखकर, प नाथूराम प्रेमी का अनुमान है कि 'कही मदन कीर्ति ही तो कुमार्ग मे ठोकरें खाते-खाते अन्त मे आशाधर के सबोध से अर्हदास न बन गये हो', सत्यके निकट लगता है।

(१३) **साहजीजा**- (स १२३५-६४) आप बघेरवाल तथा चित्तौड़ के रहने वाले थे। साहु दिनाक के पौत्र और नायके पुत्र थे। आपके पॉच भाई थे

जो सभी राजनीतिज्ञ, रणधुरधर और राजा के शासनाधिकारी होनेपर भी चक्रवर्ती की सपदा से युक्त थे। आपको इसके साथ धर्मायतनों का निर्माण-जीर्णोद्धार करने की लगन थी। आपके माता का नाम नागश्री था, जो सागरदत्त श्रेष्ठी की कन्या थी। आपने जो चद्रप्रभ मंदिर का निर्माण तथा प्रतिष्ठाकार्य किया था तब आशाधर सपरिवार वहाँ उपस्थित थे और नागश्री की चर्चा सुनकर चकित हुये थे।

आपने किसी प्रसग में कुतुबुद्दीन ऐबक को पराजित किया था, तब इनकी कीर्ति सर्वत्र फैल गई थी। उसकी स्मृति में मदिर के आगे कीर्तिस्तभ बनाने का कार्य प्रारम्भ किया किन्तु स्वयं को अल्पायु जानकर आपने समाधिमरण साधकर देवलोक प्राप्त किया।

(१४) **भव्य सिंह**– (स १२७८) आप स्वाध्यायप्रेमी सस्कृत तथा प्राकृत के अच्छे विद्वान थे। आपका आशाधर ने अध्यात्मरहस्य तथा रत्नत्रय पूजा विधान के अन्त मे उल्लेख किया है। हो सकता है भव्यजीवो का वह सामान्य सबोधन भी हो। किन्तु विक्रमकी १३वी सदी के एक भव्यसिंह, जो प्रद्युम्नचरिऊ के कर्ता है- का पता चलता है। आपने प्रद्युम्नचरिऊ के पृष्ठ २२ पर एक श्लोक दिया है–

काम्यस्य काम्यं कमनीयवृत्ते, वृत्तं कृतं कीर्तिमतां कविनां।
भव्येन सिंहेन कवित्वभाजां, लाभाय तस्यात्र सदैव कीर्तिः॥ २॥

(१५) **भ. शुभकीर्ति**– (स १२६५-७१) आप अजमेर गद्दी के विशाल कीर्ति के पट्टशिष्य थे। विशालकीर्ति के अनंतर शायद माडवगढ़ के विद्यापीठ को आपने विभूषित किया था। स. १२७० में आपने चूलगिरी-बडवानी में यात्रा कर प्रतिष्ठामहोत्सव भी मनाया था। चित्तौड़ के साह जीजा का कार्य (कीर्ति स्तभ का निर्माण करने का) पूर्ण करने की प्रेरणा आपने साह पुनाजी खटोड़ को दी थी।

(१६) **भ. विनयचंद्र**– (सं. १२७०-१३००) प. वामदेव ने अपनी गुरु परपरा इस प्रकार दी है "मूलसघ के भट्टारक विनयचंद्र - त्रैलोक्यकीर्ति लक्ष्मीचंद्र

- प वामदेव।" इससे आप मूलसघी भट्टारक होने का पता चलता है। सभव तो यह है कि आचार्य सागरचद्र के शिष्य और प. आशाधर ने जिनके लिये भूपालचतुर्विशतिस्तोत्र टीका, इष्टोपदेशटीका, आराधनासारवृत्ति बनायी थी, वे ये ही विनयचद्र आगे चलकर भट्टारक हो गये हो। अन. धर्मामृत प्रशस्ति श्लोक न ७ मे एक भट्टारक विनयचद्र का उल्लेख किया है और उनको जिनवचनामृत से चारित्रसपन्न बनाया था ऐसी सूचना भी दी है। अत लगता है कि जो प्रारभ मे आशाधर के शिष्य थे, तथा भट्टारक बनने पर चारित्र मे जो शिथिलता आयी होगी, उसको आशाधर ने ही दूर कर स्थितिकरण किया था। 'ऐसा कौन पुरुष होगा जो आशाधर के जिन धर्मामृत सूक्ति का पान करके चारित्र म निर्मलता धारण नही करेगा।' यह वचन आशाधर के वचनसिद्धि का प्रमाण है।

(१७) देव–(स १२७०) - जिनवचनामृत से आपका चारित्र भी निर्मल करने का उल्लेख प आशाधर जी ने किया है। आशाधर के समकालीन दो **देवो का** उल्लेख मिलता है। एक प श्री देव - जिन्होने यशोधर महाकाव्य की पजिका रची है, तथा दूसरे हैं -देवसेनगणी, जिन्होने सुलोयणाचरिऊ की अपभ्रश भाषा मे रचना की है। इन दोनो साहित्य का तुलनात्मक दृष्टि से अध्ययन करने पर ही निश्चित कह सकते हैं कि अमुक देव का उल्लेख आशाधर ने किया है। हो सकता है वह देव - द्रव्यसग्रह तथा परमात्मप्रकाश के टीकाकार ब्रह्मदेवसूरि ही हो। ब्रह्मसूरि की लिखी हुयी एक प्रति मूडबिद्री के ग्रंथागार मे आज भी उपलब्ध है। उस पर कालका उल्लेख नही है तथापि ये ब्रह्मसूरि- ब्रह्मदेवसूरि ही हो तो उनका समकाल या समउत्तर काल स्वय सिद्ध होता है।

(१८) देवचंद्र– प्रारभ मे आपको प आशाधर की सेवा करने को नियुक्त किया था, बाद मे आप ग्रथो की कापियाँ बनाने लगे। उसी समय आपने आशाधर से व्याकरण के पाठ भी पढ़े। आपके कुशाग्र बुद्धि के कारण आप शीघ्र वैयाकरणी हो गये और पडित बन जिनधर्म का प्रचार करने लगे। शायद 'पासणाह चरित्र' आपकी ही रचना है।

(१९) पंडिताचार्य नरेंद्र सेन– (सं. १२८०-८१) भ. सं. लेखांक ६३३, ६३४ से पता चलता है कि आप काष्टासंघ लाडबागड गच्छ के थे तथा आपने रत्नत्रयपूजा , वीतरागस्तोत्र आदि की रचना की है। आप भ. पद्मसेन के शिष्य थे। आप प्रतिष्ठाचार्य भी थे क्यों कि आपका 'प्रतिष्ठादीपक' नामका ग्रंथ भी मिला है। सन् १९८१ के वीर मा. अंक में एक उल्लेख प्रसिद्ध हुआ है कि - 'स १२८१ में प नरेंद्रसेन ने आशाधर के भाई वासाधर को काष्टासंघी बनाया था।'

यदि यह घटना सत्य हो तो प नरेंद्रसेन ने आशाधर को भी कष्टासंघीय बनाने की चेष्टा की ही होगी , तथा न मानने पर समाज से बहिष्कृत करने की धमकी भी दी होगी। इतना ही नही समाज को इनसे असहकार का आदेश भी दिया होगा। यथा— श्रीमन् लाटवर्गट प्रभाव श्री पद्मसेनदेवानां , तस्य शिष्य श्री नरेद्रसेन देवै· कि चिदविद्यागर्वत असूत्रप्ररूपणादाशांधर: स्वगच्छान्नि:सारित:, कदाग्रहग्रस्त श्रेणिगच्छमशिश्रयत् ॥ (भ. सं. लेखाक ६३२)

प आशाधर जी ने इस घटना की चर्चा कही भी नही की है , तथापि ज्ञानदीपिका पृष्ठ १५२ पर दिये गये एक श्लोक से पता चलता है कि वे इनसे वाद करने के झझट मे नही पड़े। यथा— 'अज्ञानतत्व चेतोभिर्दुराग्रहमलीमसै: । युद्धमेव भवेद्गोष्ठया दण्डा दण्डी कचाकची ॥'

इसी कारण आशाधरजी दूर अहार क्षेत्र के पास सलखणपुर चले गये थे। दो चार साल बाद वातावरण शात हुआ और समाज ने फिर से प. जी को नालछा बुलाकर सम्मान किया।

(२०) नागदेव श्रेष्ठी– (स १२७०-८५) - आपकी जाति मडितवाल या मेडतवाल थी , और आप परमार राजा देवपाल के शुल्काधिकारी पद सभालते हुए सलखनपुर (जि. टीकमगढ़) रहते थे। आपके कारण ही स. १२८१ से १२८४ तक आशाधर का निवास सलखनपुर हुआ था। जब आपके पिता मालुसाहु ने धर्मामृतकानित्य स्वाध्याय किया था उस समय होने वाले आशाधरजी के उपदेश को अनगार तथा सागार धर्मामृत ऐसे दो भागों में लिपीबद्ध कर

उसको ज्ञानदीपिका- पजिका सबोधकर उसकी एक प्रति शास्त्रभडार मे समर्पित की थी। सं. १२८३ में आपकी पत्नि ने रत्नत्रय व्रत कथा लिखवाई थी। तब आशाधर को सयमी रामचंद्र तथा केशव सेन ने प्रेरणा की थी। इसी समय रत्नत्रय व्रतविधान का आयोजन भी हुआ था। इसके पूर्व आपने स १२७७ में अहारक्षेत्र पर एक प्रतिष्ठा महोत्सव मे भाग लिया था।

(२१) भ. कमलभद्र- (स १२७३ - ८७) सेनगण की पट्टावली में भ. उदयसेन - सुरसेन - कमलभद्र ऐसी परपरा मिलती है। स. १२८७ मे महाकवी दामोधर ने नेमिणाह चरिऊ की रचना पूर्ण की है। उसकी प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि उस समय भ. कमलभद्र का निवास सलखनपुर मे ही था। तथा नेमिणाहचरिऊ के रचना मे आपकी प्रेरणा भी थी। पडितजी सं १२७१-७४ तक सलखनपुर मे ही थे, उस समय आपकी पडितजी से धर्मचर्चा हुई थी। सेनगण विरूदावली मे उल्लेख आया है कि - "दारूसघसशयतमोनिमग्नाशाधर श्री मूलसघोपदेशक - पितृवनस्वर्यात - कमलभद्र भट्टारकाणां।" (काष्टासंघ के सशयरूप अधकार मे मग्न आशाधर को मूलसघ का उपदेश देने वाले तथा श्मशान मे ही जिनका स्वर्गवास हो गया था ऐसे कमलभद्र भट्टारक थे)। एक लघु विरूदावली मे तो प आशाधर को स्पष्ट काष्टासघीय लिखा है। यथा — 'दारूसघीयाशाधर मूलसघोपदेशक कमलभद्र भट्टारकाणा।' इन दो उल्लेखो से एक बात तो स्पष्ट होती है कि आशाधर के मन मे स १२८३ के दरम्यान काष्टासघ मूलसघ के आपसी द्वेष तथा चढ़ाओढसबध मे कुछ सभ्रम निर्माण हुआ था।

(२२) मुमुक्षु रामचंद्र- (स १२८३-८७) - कवि दामोदर ने णें मिणाहचरिऊ की रचना स १२८७ मे पूर्ण की थी। तब आप सलखणपुर ही रहते थे तथा उस रचना के आदेशक थे। आपको पडित सबोधा है यह काल प आशाधर का ही काल है। लगता है जहाँ जहाँ आशाधर गये वहाँ वहाँ प जी ने स्वाध्याय शैली निर्माण की तथा ग्रामतानुसार साहित्य निर्माण की प्रेरणा की। आपका एक पुण्यास्त्रवकथाकोश भी मिलता है।

(२३) कवि दामोदर- (स. १२७३- ८७) आपने अपने वश को मेउत्तय लिखा है, जो मडितवाल का अपभ्रश रूप है। आपके पिता का नाम मल्हु

(मालु) था , आपके सबसे बड़े भाई का नाम जिनदेव था और आप सबसे कनिष्ठ थे। अतः मध्यम दूसरे भाई का नाम नागदेव ही हो। जो शुल्काधिकारी था। लगता है कि पं. आशाधर के राजीमती विप्रलभ इस खण्ड काव्य से प्रेरणा पाकर ही कवि ने देशी भाषा में नेमिनाथचरिऊ की रचना की हो। इसके पचम अध्याय के पुष्पिका वाक्य में लिखा है — इयणेमिणाहचरियें महामुणिकमलभद्द पच्चक्खे महाकवि - कनिष्ठ दामोदर विरइए पंडिय रामचंद आएसिए महाकव्वे मल्हसुअ नग्गएव आयण्णिये णेमिणिव्वाणगमण पचमो परिच्छेओ सम्मतो।"

इसमें उल्लेखित मल्हसुअ नग्गएव (मालुसुत नागदेव) का पंडितजी के साथ डायरेक्ट संबध होने की सूचना पहले दी ही है। उसके अनुसार यदि णेमिणाहचरिऊ का तुलनात्मक अध्ययन होता है तो पडितजी के कार्य पर अधिक प्रकाश पड़ सकता है।

(२४) साहु पापा– (स. १२७५) जब से आशाधर नालछा पधारे थे तबसे उनको सहकार्य करने वाले ये खडेलवाल गृहस्थ थे। इनका सारा परिवार आशाधर को साहित्य सृजन मे प्रेरक ही नही सहायक भी था। आपका पुत्र बहुदेव तथा पौत्र हरदेव और आप ऐसे तीन पीढ़ी ने आशाधर का लाभ उठाया था। स १२७१ मे आशाधर सलखणपुर चले जाने के कारण इनका स्वाध्याय, धर्मचर्चा बद हो गयी थी। अत· आशाधर को अनेक बार प्रार्थना कर फिर से नालछा लाने वालों मे आप प्रमुख थे। सभव यह है कि प जी को नालछा लाने के लिये आपने सिद्धचक्र पूजा विधान किया था।

(२५) हरदेव– (स. १२७५ - १३००) आप नलकच्छपुर के निवासी खडेलवाल तथा नित्य स्वाध्याय मे भाग लेने वाले थे। साह पापा के पौत्र थे। प्रारम्भ मे जब आशाधर नालछा आये थे, तब उनके पाठशाला मे भाग लेते थे और स १२७५ के बाद प जी की साहित्य सेवा देखकर साहित्य निर्माण मे प्रेरणा करते रहे। तथा स. १२९६ से १३०० तक अनगार धर्मामृत पर भव्यकुमुदचद्रिका टीका का लेखन भी आपने किया था।

(२६) पं. धनचंद्र–(स १२७५-१३००) आप नलकच्छपुर के रहिवासी तथा प. आशाधर के नित्य स्वाध्याय शैली के सदस्य थे। प्रारम्भ में हरदेव

सहाध्यायी तथा सवत १२९६-१३०० तक अनगार धर्मामृत की भव्यकुमुदचद्रिका टीका के प्रेरक तथा सहायक थे।

(२७) पं. केल्हण– (स. १२७५-१३००)- आप नालछा के निवासी खंडेलवाल तथा प आशाधर के पाठशाला मे सस्कृत पढ़कर पंडित बने थे। स. १२८५ मे सलखनपुर से नालछा आने के लिये आशाधर को प्रेरणा करने वालो मे आप भी थे। तथा आशाधर के अनेक स्फुट रचनाओ का सग्रह कर 'जिनयज्ञकल्प'या 'प्रतिष्ठासारोद्धार' की रचना करने मे आपका ही सहयोग था। आपके बारे मे स्वय आशाधरजी लिखते है कि "प. केल्हण आदि के साथ हमने अनेक प्रतिष्ठा सपन्न कर प्रतिष्ठा तो प्राप्त की थी, तथा सत्साहित्य का प्रचार भी किया था।" लगता है स १२८५ से आपने आशाधर के अनेक रचनाओ की प्रतिलिपी बनाने का काम भी किया।

(२८) प. जाजाक– (स १२७८-९२)- आशाधर के नित्य पाठशाला के आप प्रारम्भ के सदस्य थे। तथा बाद मे नित्य स्वाध्याय शैली मे भाग लेने वाले विद्वान थे। आशाधर के प्रवचन मे जो उदाहरण आदि आते थे, उसका इनको बहोत आकर्षण था। स १२८९ मे आपने पडितजी को प्रार्थना की कि "नित्य स्वाध्याय या चितन के लिए आप, महापुराण का सार सक्षेप मे कथन कीजिये, जिनके नाममात्र से भी उनका जीवन याद आ सके।" इस प्रेरणा से ही आशाधर ने महावीर पुराण, त्रिषष्ठीस्मृति आदि की रचना स १२९२ मे ही पूर्ण की थी।

(२९) धीनाक– (स १२९२)- आप खडेलवाल तथा नित्य स्वाध्याय शैली मे भाग लेते थे। आशाधर से सस्कृत पढ़कर विद्वान हुये थे। आपके पिता का नाम महण (या मदन) तथा माता का नाम कमल श्री था। आप तत्वो के अच्छे जानकार-सम्यग्दृष्टि थे, तथा आशाधर के त्रिषष्ठिस्मृति, महावीरपुराण आदि की प्रथम प्रति लिखकर सरस्वती की सेवा कर रहे थे।

(३०) महिचन्द्र– (स १२९२-९६)- आप पौरपाट कुल क चद्रमा थे तथा श्रेष्ठी समुद्धर के पुत्र थे। आशाधर के पाठशाला के प्रारम्भ के विद्यार्थी

तथा अनंतर नित्य स्वाध्याय के सहयोगी थे। सं. १२९६ में आपने पं. आशाधर को सा.ध. पर 'श्रावक धर्म दीपक' टीका बनाने की मात्र प्रेरणा ही नहीं की तो बल्कि उसका लिखान भी कर दिया। आशाधर ने आप का उल्लेख सागारधर्मामृत तथा अनगारधर्मामृत ऐसे दोनों टीका प्रशस्ति में किया है। इससे ज्ञात होता है कि सा. ध. की भव्यकुमुदचंद्रिका टीका को आप प्रथम समझ लेते थे और बादमे उसका शब्दाकन करते थे।

(३१) भ. गुणभद्र- (स. १२४५-६५)- आप सेनगण पुस्तकगच्छ के आचार्य थे। लगता है कि आप आशाधर के गुरु उदयसेन के सधर्मी हो। क्योकि आपकी शिष्य परंपरा इस प्रकार थी- त्रैविद्य गुणभद्रदेव सूरसेन-कमलभद्र-देवेंद्रसेन-कुमारसेन आदि। यथा- श्रीमत् पुस्तकगच्छे मूलसंघे विश्व प्रकाशात्मकः। त्रैविद्यो गुणभद्रदेवयतिप. श्री सूरसेनस्ततः ॥ १ ॥ शिष्यः श्रीकमलादिभद्रगणभृत् देवेद्रसेनस्ततः। तेनाकारि कुमारसेनमुनिपो वादीद्र-चूडामणि ॥ २ ॥ (शिलालेखसग्रह भाग ४ लेख ४१६)

अयपार्य के जिनेद्रकल्याणाभ्युदय मे भी एक गुणभद्रप्रतिष्ठापाठ का उल्लेख आया है। अनतर आशाधर का भी नाम आया है। अतः ये दोनों गुणभद्र एक ही हो। एक गुणभद्र धन्यकुमारचरित्र के कर्ता भी है। ग्रंथ के प्रशस्ति मे आया है — "इति धन्यकुमारचरिते तत्वार्थ भावना फलदर्श ने आचार्य श्री गुणभद्र कृते भव्यवल्हणनामाकिते धन्यकुमार शालिभद्रयति सर्वार्थसिद्धि गमनो नाम सप्तम परिच्छेद.।" अर्थात आप मिथ्यात्व और काम के विनाशक थे , स्यात्वादरत्न के धारी थे। आपने राजा परमर्दिदेव राज्य मे विलासपुर के जैन मदिर मे रहकर लबकचुकान्वय के महामना साहु शुभचद्र के पुत्र बल्हण के धर्मानुराग से धन्यकुमार चरित की रचना की थी।

ललितपुर के पास मदनपुर से प्राप्त होने वाले एक अभिलेख मे बताया गया है कि - "वि स १२३७ मे महोबा के चदेलवंशी राजा परमर्दिदेवपर सोमेश्वर के पुत्र पृथ्वीराज ने आक्रमण किया था।" इन परमर्दिका राज विलासपुर मे ही हो तो इनका काल स १२३५-४० तो निश्चित है। उसी समय होने

वाले आचार्य गुणभद्र उदयसेन के ही समकालीन ठहरते ही है। विलासपुर भी सलखणपुर के पड़ोस मे तथा टीकमगढ़ जिले मे अहारजी क्षेत्र के पास ही आता है।

इन गुणभद्र का बृहत्स्नपन भी प्रसिद्ध है। इसका आशाधर पर बहुत प्रभाव था। अभिषेक पाठ में पद पद पर उसका अनुसरण किया है। तथा अन्य रचना मे भी अनुकरण दृष्टिगोचर होता है। यथा—

गुणभद्र - मत्यात्मा व्रतिहानिमूलविभवलब्ध्य अराधागम-
बाह्यं श्रुत्युपशाखमुक्ति सदलं सद्युतिपुष्पश्रुतः ॥
प्रामोदाम - समुग्दिरन्तु कवयो नामाक्षरस्यातु भो।
प्रार्थ्यं वा कियदेकएव शिवकृद धर्मो जयत्वर्हताम् ॥ १०३ ॥ बृ . स्न.
आशाधर - शांति शं तनुतां समस्त जगतः संगच्छतां धार्मिकै.
श्रेयः श्री परिवर्धतां नयधुग धुर्यो धरित्रीपतिः।
सद्विद्यारसमुग्दिरन्तु कवयो नामाप्यघस्यास्तु मा
प्रार्थ्यं वा किमदेक एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम् ॥ अन. ध.

अन. धर्मामृत के द्वितीय अध्याय के ज्ञानदीपिका टीका मे भी आशाधर ने तथा त्रि स्मृति मे बृहत्स्नपन का अतिम श्लोक उद्धृत किया है। यथा—

शिवमस्तु सर्वजगतः परहितनिरता भवन्तु भूतगणाः।
दोषा प्रयान्तु नाशं सर्वत्र सुखी भवतु लोकः ॥

स १२८७ मे कवि दामोदर ने आपका इस प्रकार उल्लेख किया है—

गुणहद्दहं पट्टु समुध्दरणु, मुणिसूरिसेण कलिमलहरणु।
तह तणऊ सीसु मुणि कमलभद्दु, भव्वयणविदंजणमण अणंदु ॥

मूलसघ सेनगण के भट्टारक कमलभद्र के दादागुरु तथा उदयसेन के सधर्मी आचार्य गुणभद्र ने भी शायद बचपन मे आशाधर को पढ़ाया हो तो आश्चर्य नही है।

(३२) पं. सोमदेव– (स १२६०-७०) आप बघेरवाल थे, पिता का नाम आभदेव तथा माता का नाम वैजेणी था। नेमिचद्र सिध्दातचक्रवर्ती के

त्रिभगीसार के कानडी टीकाकार श्रुतमुनिकी टीका का राष्ट्रीय (हिंदी) भाषा में आपने अनुवाद किया है। अत आप कानडी ,हिंदी (लाटीय) तथा संस्कृत भाषा के अच्छे विद्वान थे और आचार्य गुणभद्र के शिष्य थे। यथा–

कर्मद्रुमोन्मूलनदिक्करीद्रं सिध्दान्तपाथेनिधिदृष्टपार्कं।
षटत्रिंशदाचार्यगुणैः प्रयुक्तं नमाम्यहं श्रीगुणभद्रसूरिं ॥ ३ ॥
या पूर्वं श्रुतमुनिना टीका कर्णाटभाषया विहिता।
लाटीयभाषया सा विरच्यते सोमदेवेन ॥ ४ ॥

लगता है इस सुबोधिनी टीका की प्रेरणा आपको प. आशाधर से मिली हो और आशाधर के साहित्यमडल मे या विद्यापीठ मे आप पडित हो गये हो। क्योकि आपने आशाधर को जिनचरणयुगलमे नितरा लीन बताया तथा स्वय को उनके गुणो मे अनुरागी बताया है। इस टीका की अतिम प्रशस्ति इस प्रकार है–

अमितगुणगणः साध्वाभदेवाब्धिसोम ।
विजयनीवरत्नं काममुद्योतकारी ॥
गतमकलिकलकंः सर्वदा यः स्ववृत्तंः ।
स जयति जिनबिंबस्थापनाचार्यवर्यः ॥ १ ॥

यथाऽमरेंद्रस्य पुलेम (जा) प्रिया , नारायणस्याब्धिसुता बभूव।
तथा भदेवस्य वैजेणीनाम्नी प्रिया सुधर्मा सुगुणा सुशीला ॥ २ ॥
तयोः सुनु सद्गुणवान् सुवृतः सोमोऽभिधः कौमुदवृध्दिकारी।
व्याघ्रेरवालांबुनिधे सुरत्नं जीयाच्चिरं सर्वपनीनवृत्तिः ॥ ३ ॥
श्रीमज्जिनोक्तानि समंजसानि शास्त्राणि लेभेस यथात्मशक्त्या।
श्रीमूलसंघाब्धिविवर्ध्देनेंदोः श्रीपूज्यपादप्रभुसत्प्रसादात् ॥ ४ ॥
न ज्ञातृत्वाभिमानेन न यशः प्रसरेच्छया।
कृतिः किन्तु मदीयेयं स्वबोधायैव केवलम् ॥ ५ ॥
शब्दशास्त्रविरोध यन् यदागमविरोधि च।
न्यूनाधिकं च यत्प्रोक्तं शोध्यतां तन्मनीषिभिः ॥ ६ ॥

श्री सद्मांन्हियूगे जिनस्य नितरां लीन शिवाशाधरः।
सोमस्तद् गुणभाजनं सविनय सत्पात्रदाने रतः॥
सद्रत्नत्रययुक् सदा बुधजनाल्हादी चिरं भूतले।
नद्यात्येन विवेकिना विरचिता टीका सुबोधाभिधा॥ ७॥

आपको प परमानद शास्त्री ने सोमदेवसूरि सबोधा है तथा गुणभद्र भट्टारक के शिष्य होने की आशका से वि की १७ वी सदी के होने की शंका प्रगट की है। इसी प्रकार डॉ कस्तूरचदजी कासलीवाल और प अनूपचदजी न्यायतीर्थ। इन्होने अनवधानवश इस सुबोधिनी टीका के कर्ता आशाधर को लिखा है। यह अनवधानका ही फल है। अत इनका काल स्पष्टतया आशाधर के समकालीन तथा आचार्य गुणभद्र और श्रुतमुनिके अनतरका ठहरता है। आपको कन्नड़ भाषा के विद्वान कहने का कारण एक और भी है कि आपके शिष्यगण कन्नड़ भाषी भी थे। तथा आपका शिष्यपरिवार पूरे धारवाड तक फैला हुआ था। शिलालेख सग्रह भाग ४ लेख ३४३ से स्पष्ट है कि आपकी एक शिष्या अकल प अव्वा ने चैत्रवद्य ४ मगलवार, शक ११८९ (स १३२४) मे अन्निगेरि धारवाड जिला मे समाधिमरण साधा था।

(३३) आचार्य बालचंद्र–(स. १२४०-७०) आप नयकीर्तिदेव (स १२३४) के प्रमुख शिष्य तथा अध्यातमी बालचद्र के नाम से प्रसिद्ध थे। आप दामनदी के भाई थे। आपकी गुरुपरपरा सिद्धान्तवेत्ता थी और आप अध्यात्म मे लीन थे। आपकी समग्र रचनाये अध्यात्मप्रधान ही है, तथा आपने समयसार प्रवचनसार , पचास्तिकाय, तत्वार्थसूत्र, परमात्मप्रकाश और अमृताशीति आदि पर अध्यात्मप्रधान कन्नड़ टीका लिखी है। श्रवण बेलगोलके अनेक शिलालेखो मे आपका स्तुतिपरक उल्लेख आया है। उत्तर मे आशाधर और दक्षिण मे अध्यातमी बालचद्र का उपदेश तथा प्रचार चलता रहा है। लगता है कि माडवगढ़ के विद्यापीठ या साहित्य मडल के कारण ही आशाधर का आपसे सपर्क रहा है। कौन किससे प्रभावित हुआ है यह तुलनात्मक अध्ययन का विषय है।

(३४) श्रुतमुनि– (स. १२६०-७०) आप आचार्य बालचद्र के शिष्य तथा प्रभाचद्र के सहाध्यायी या शिष्य भी थे। नेमिचद्राचार्य रचित त्रिभगीसार

के आप अच्छे ज्ञाता तथा कन्नड़ भाषा के टीकाकार भी थे। इस कन्नड़ टीका को पं. आशाधर ने सोमदेव बघेरवाल को समझाया था। इससे लगता है कि पं आशाधर कन्नड़ भाषा के तथा लिपिके भी जानकार थे। और आपसे भी परिचित थे। आपने जैसी ही कन्नड़ टीका पूरी कर एक प्रति आशाधर के साहित्य मंडल मे भेज दी हो, वैसे ही प्रभावित हो आशाधर ने सोमदेव को मातृभाषा में अनुवाद करने की प्रेरणा दी हो। यथा-वक्षे स्वभाष्योऽह विशदां टीका त्रिभंग्यायाः ॥६ ॥ अध्याय ॥१ ॥

(३५) **पुनाजी खटोड़**– (स. १२७०-१३५०) आप साह जीजा के सुपुत्र थे। आपके २-४ साल की उम्र में ही पिताजी स्वर्गसिधारे थे। युवा होने पर या गृहस्थी स्वीकारने पर जब माँ, बहन तथा गुरु से पता चला कि आपपर कीर्तिस्तंभ की जिम्मेदारी छोड़ पिताजी स्वर्ग पधारे हैं, तब किमिच्छदान देकर कीर्तिस्तभ का पूर्ण प्रतिष्ठाकार्य भ. धर्मचद्र के तत्वावधान में सपन्न किया। अत आपका नाम पूर्णसिंह (पुनसिंह) सार्थक हुआ। लगता है कि यह कार्य आशाधर के नालछा पधारने के अनतर ही चालू हुआ होगा और स. १२८३-८५ तक सपन्न हुआ होगा।

बताया जाता है कि आप राणा रावल रत्नसिंह के प्रधान सलाहकार तथा सेनाधिकारी भी थे। आपकी सुपुत्री राजकुंवर के विवाह प्रसंग में जो मण्डप बनाया था और उसमें जो मोतियों कि चाँदनी लगायी थी उसे विवाह के बाद राणा रावल उखाड ले गये थे। राणा रत्नसिंह राज्यसिंहासन पर उस समय नही बैठे थे तथापि उनका वह आचरण पुनसिंह को खटका और आपने दक्षिण यात्रा का बहाना बताकर ४०० कुटुबियो तथा कुछ सेना के साथ उज्जैन, बण्हाणपुर जालना कारजाके लिए निकल पड़े और आगे चित्तोड़ का सबंध ही छोड़ दिया।

(३६) **भ. धर्मचंद्र**– (सं. १२७१-८६) आप अजमेर गद्दी के भ. विशालकीर्ति के शिष्य शुभकीर्ति के उत्तराधिकारी थे। सं. १२७२ मे ही आपने रणथभोर गढ़ मे विशाल प्रतिष्ठा महोत्सव का आयोजन किया था। और जहाँ-जहाँ आपका शिष्य समुदाय है वहाँ-वहाँ एकेक मूर्ति भेजने के लिए हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा संपन्न करायी थी। सलखण के स्वर्गवास के कारण प.

आशाधर भी यात्रा निमित यहाँ पधारे थे। तथा इसके बाद आपके जीवन में चित्तोड़ के कीर्तिस्तभ प्रतिष्ठा का ही कार्य चिरस्मरणीय रहा। चित्तोड़ के शिलालेखों में आपका विस्तृत वर्णन पाया जाता है।

(३७) माघनंदी– (सं १२७५-१३००)- आप शास्त्रसार समुच्चयके कर्ता तथा सैद्धाती के नाम से प्रसिद्ध थे। आप सिद्धान्त तथा संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। शास्त्रसारसमुच्चय के कन्नड़ टीकाकारका भी नाम माघनदीयतिपति है यह कन्नड़ टीका स १३१७ मे पूर्ण हुयी है। इसमे सागार-अनगार धर्म का वर्णन करते समय अध्याय १ की टीका मे टीकाकार माघनदीने आशाधर की वर्णाश्रम व्यवस्था का एक श्लोक- " ब्रह्मचारी गृहस्थश्च वानप्रस्थश्च भिक्षुक।

इत्याश्रमास्तु जैनाना सप्तमागाद्विनिसृता ॥" सा ध टीका ॥ से उध्दृत किया है। कर्णाटक जैसे सुदूर देशो मे भी आशाधर का कितना प्रभाव था इसका यह प्रमाण है।

(३७) भ. प्रभाचंद्र– (स १२८०-१३२४)-आप बालात्कारगण अजमेर गद्दी के पट्टाधीश थे। उम्र के १२ वे वर्ष मे दीक्षित हुये थे और उम्र मे २४ वे वर्ष याने स १३१० मे पट्टाधीश हुये थे। आपने पट्टण, खभायत , धारा, देवगिरी आदि भाग मे विहार कर मिथ्यात्व दूर किया था। आपने आशाधर के जैनाभिषेक पर सस्कृत टीका की है यथा- 'जैनाभिषेक श्री प्रभाचद्रदेवविरचित टीकया समन्वित ।' आपको महागणी भी कहते थे। आपने क्रियाकलाप की सस्कृत टीका की है। उसमे शातिभक्ति के समाप्ति मे आपने आशाधर का "शान्ति श तनुता समस्तजगत_" यह श्लोक उध्दृत किया है। यह श्लोक आशाधर ने त्रिषष्ठीस्मृति तथा अनगार धर्मामृतटीका के अत मे दिया है।

(३९) हस्तिमल्ल– (स. १३००-४०)-कर्णाटक-कवि चरितके अनुसार आपका काल स १३४७ है। अयपार्य ने जिनेंद्र कल्याणाभुदय प्रतिष्ठापाठ की रचना स. १३७९ में की है। उसमे पूर्ववर्ती प्रतिष्ठापाठ के रचयिता वसुनंदी, इद्रनदी, गुणभद्र, धरसेन, आशाधर और हस्तिमल का उल्लेख आया है। यद्यपि उस उल्लेख मे आशाधर का उल्लेख पहले तथा हस्तिमल का बाद में है तथापि

आप दोनों का समकाल ज्योतिषाचार्य डॉ. नेमिचद्र (आरावाले) ने माना है। हो सकता है आशाधर का अंतिमकाल और आपका प्रारंभकाल एक ही हो। इससे भी आशाधर का प्रभाव हस्तिमल पर सिद्ध होता ही है। आपका गौरव इस प्रकार किया है।-

सोऽहं समस्तजगदूर्जितचारुकीर्तिः स्याद्वादशासनमाश्रितशुद्धकीर्तिः।
जीयादशेषकविराजक चक्रवर्ती श्री हस्तिमल्ल इति विश्रुतपुण्यमूर्तिः ॥१७॥

(४०) इंद्रनंदी- (पचम स. १३००-४४ आशाधर के धर्मामृत सूक्ति की पजिका लिखा ने में प्रेरक तथा अर्जिका चद्रमती के स्वाध्याय के लिए उस पजिका की प्रति लिखवा कर शास्त्रदान के उपदेशक आप थे यथा-

वर्षेऽस्मिन्नयनाद्रिभूपतिमिते मासेऽपि भाद्रेपदे।
शुक्लायां नवमी तिथौ कुलदिने जेष्ठाश्रितेधिष्लगे॥
श्रद्धाचारमयं सुपुस्तकमिदं सूरीद्रनंद्युत्तमः।
प्रालिखिदिह तत्शुभाक्षरततं तच्चंद्रमत्याकृते॥ १॥

आशाधर के स्वर्गवास के अनतर भी उनकी रचना का स्वाध्याय निरतर चलता था इसका यह प्रमाण है।

इसके अलावा भावसेन त्रैविद्य तथा प नागदेव (जैसवाल) आदि का भी उल्लेख किया जा सकता है। डॉ. नेमिचद्र (आरावाले) तो स्पष्ट लिखते हैं कि नागदेव के मदनपराजय पर आशाधर का प्रभाव था।

" जिस समय मे अनगार धर्मामृत की उन्होंने टीका आदि की रचना की है उस समय वे अवश्य ही गृहनिवृत्त होंगे। अतएव अनुमान होता है कि इस टीका की रचना से पूर्व ही वे गृहस्थाश्रम से निवृत्त हो चुके होगे। इस प्रकार महापण्डित आशाधर जी की राजमान्यता, समाजमान्यता, कीर्ति, सदाचार और विरक्ति आदि गुणो की अविरुद्ध प्रवृत्ति को देखकर- आजकल के लोगो को अनेक प्रकार की शिक्षाये लेनी चाहिये। खासकर उन लोगो को जो राजमान्यता, कीर्ति या आजीविका आदि के लिए सदाचार के क्षयकी अपेक्षा नही रखते।

यदि आशाधर जी विद्वानों के लिए भी दुर्बोध अपने ग्रथ की टीका स्वयं न बनाते तो सचमुच में इस काल रात्रि के अन्दर उनके यथार्थ अर्थ का भाव होना असंभव नही तो दु:साध्य अवश्य हो जाता।" **- पं. खूबचंद्र जी**

८ - उत्तरकालीन प्रभाव

इसके पहले प्रकरण में यह देखा है कि पडितजी के समय मे ही उनके ग्रथों पर अन्य त्यागीगण टीकाये लिखते थे। तथा इनकी रचना की अनेक प्रतियॉ बनकर भिन्न-भिन्न प्रातो मे भेजी जा रही थी। राजस्थान , गुजरात जैसे प्रात में तो श्वे ग्रथभडारों में भी पंडितजी की रचना प्रारंभ से सुरक्षित रही हैं। तथा बगाल , कर्नाटक जैसे सुदूर प्रातो मे भी पडितजी का प्रभाव रहा है। तामिलनाडू जैसे भिन्न भाषी और भिन्न लिपीवाले प्रदेश में भी मद्रास तथा अडयार आदि स्थानों मे इनके रचना का पता मिलता है। मात्र रचना मिलना अलग बात है और उन उन प्रदेशो के भाषा में उन पर टीका बनना और अभ्यास होना अलग बात है। तथा उनके ग्रथो का हर समय अध्ययन - पठन होता रहा है। यह उनके हर प्रात मे लोकादर का प्रमाण है। पडितजी का अभिषेक पाठ तथा पचपूजा तो भारत के कोने-कोने में जहॉ भी दि. जैन मदिर हो, वहॉ आदर के साथ बोली जाती है।

एक बात स्पष्ट हो रही है कि चाहे सेनगण के या चाहे बालात्कार गण के किंतु मात्र मूलसघ के आचार्य , मुनि तथा पडितो को ही इनकी ग्रथ रचना का पठन-पाठन , प्रतिलिपी बनाने का , टीका रचने का कार्य नजर आता है। हॉ , काष्टासघ के मदिरो मे अनेक पाडुलिपियॉ विद्यमान हैं किंतु उन्होने कही प्रतिलिपी कराने का उल्लेख नही मिला। तथापि उनके यहॉ इन ग्रथो का स्वाध्याय तो होते ही रहा है।

आईए , किन-किन विद्वानो ने यह साहित्य सरक्षित या सवर्धित किया उनके कार्य की ओर थोड़ी नजर डालते हैं।

१) ब्रह्मदेवसूरि- प जुगलकिशोर मुख्त्यार तथा प परमानदजी शास्त्री के कथनानुसार इनका काल ११ वी शताब्दी है। डॉ ए. एन उपाध्ये ब्रह्मदेवसूरि को जयसेन के बाद का मानते है। और जयसेन का समय वि. स १३६६ तक सिद्ध करते है।

डॉ. नेमिचद ज्योतिषाचार्य लिखते है - "पर , ब्रह्मदेव इनसे पूर्व सिद्ध होते हैं , क्योकि जयसेन ने पचास्तिकाय की पहली गाथा की टीका में ग्रंथ के

निमित्त की व्याख्या करते हुये लिखा है — अथ प्राभृत ग्रंथे शिवकुमार महाराजो निमित्त, अन्यत्र द्रव्यसग्रहादौ सोमश्रेष्ठयादि ज्ञातव्यम्।" इससे स्पष्ट है कि, जयसेन निमित्त कथन की बात में परिचित थे। अतएव ये ब्रह्मदेव उत्तरवर्ती ज्ञात होते हैं।" (ति. म. आ. प.)

किंतु यहाँ एक बात ध्यान में लाना जरूरी है कि, सोमश्रेष्ठी द्रव्य संग्रह के निमित्त हैं, बृहद्द्रव्य संग्रह टीका के नही। और ब्रहम्देव बृहद्द्रव्यसंग्रह के टीका के कर्ता हैं, द्रव्य सग्रह के नही। तथा जयसेन ने सोमश्रेष्ठी का उल्लेख किया है, ब्रह्मदेव का नही। अत: इससे कौन पूर्ववर्ती और कौन अनंतर यह बात स्पष्ट नही होती।

पडितजी ने अन. ध. के प्रशस्ति श्लोक न. ११ की टीका में एक देव का उल्लेख किया है तथा मूडबिद्री मे ग्रथ सख्या १२७ पत्र १२४ भव्यकुमुदचंद्रिका के लिपिकार ब्रह्मसूरि बताये जाते हैं, यदि ये ब्रह्मदेवसूरि ही हो तो इनका प्रारम्भ काल १४वी सदी का प्रारभ निश्चित होता है। भव्यकुमुदचद्रिका टीका की पद्धति तथा बृहद्द्रव्यसग्रह की टीका की पद्धति समान ही नही, अपितु एक भी है।

एक दूसरे ब्रह्मदेव का पता सेनगण की पट्टावली से मिलता है। यथा— भभेरीपुर - धनेश्वरभट्ट भ्रष्टीकृतानल निहित-यज्ञोपवीतादि विजित जयसिंह ब्रह्मदेव सधर्मशर्मकर्म - निर्मलान्त करण श्री मच्छ्रीधारसेनाचार्यनाम् ॥ ३५ ॥ (भ स ले १७)

यदि ये ब्रह्मदेव ही बृहद्द्रव्यसग्रह आदि के टीकाकार हो तो इनका समय १५ वी यदी का प्रारभ काल हो सकता है।

(२) आचार्य जयसेन– इन्होने प्रवचनसार के टीका मे अपना परिचय दिया है कि, "साहु मालु के पुत्र महिपति हुये। उनके ये चारूभट नाम के पुत्र थे। दीक्षा लेने पर इनका नाम जयसेन रखा गया। इनकी गुरुपरपरा—वीरसेन-सोमसेन - जयसेन ऐसी सेनगण की है। सेनगण पट्टावली मे भी एक सोमसेन १४ वी सदी के है। (भ. स ले १७)

इनकी एक रचना वि. सं. १३२७ की, दूसरी १३६६ की उपलब्ध है। अत: इनका काल स. १३२७ से १३७५ का निश्चित है। पूर्णार्घ्य तथा जैनेद्र शब्दकोष में इनका काल स. १३४० से १३७० दिया है। इन्होंने कुदकुदाचार्य के तीन ग्रथो पर टीका लिखी है। उसमे प. आशाधर के टीका का बहुत प्रभाव नजर आता है। सा. ध. तथा अन. ध. टीका के कई उद्धरण आ. जयसेन ने जैसे के तैसे लिये हैं।

(३) **वाग्भट–** नेमिनिर्वाण काव्य के कर्ता प्राग्वाटवशीय छाहड पुत्र वाग्भट से ये भिन्न तथा उत्तरवर्ती है। ये नेमिकुमार के पुत्र तथा मक्कल्प के पौत्र थे। मेवाड़ देश के राहडपुर के रहने वाले थे। काव्यानुशासन तथा छदानुशासन यह दो रचना इनकी उपलब्ध है। छदानुशासन मे राजीमतीपरित्याग का तथा नेमिनिर्वाण के अनेक श्लोकों का उल्लेख है। राजीमतीपरित्याग याने पडितजी का राजीमती विप्रलभ ही है। अत इनका समय १४ वी शदी निश्चित होता है।

(४) **पं. वामदेव–** (स. १३५०-७०) मूल सघ के भ. विनयचद्र के शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति के शिष्य लक्ष्मीचद्र के ये शिष्य थे। इनका कुल निगम या नैगम था, अत ये कायस्थ थे। ये प्रतिष्ठादि कर्मकाण्ड के ज्ञाता और जिनभक्ति में तत्पर थे। इनके भावसग्रह और त्रैलोक्य दीपक ये दो ग्रथ उपलब्ध है और इन्होने अपने प्रशस्ति मे नीचे लिखे ग्रथोका भी उल्लेख किया है। (१) प्रतिष्ठासूक्ति सग्रह, (२) त्रिलोकसारपूजा, (३) तत्वार्थसार, (४) श्रुतज्ञानोद्यापन, (५) मदिर सस्कार पूजा। इसके अलावा गुणभद्र द्वि. के बृहत्स्नपनपर इनकी पजिका उपलब्ध है। अत इनका काल गुणभद्र स.१२३६/६५ के बाद का आता है।

तथा प. आशाधर जी ने भ. विनयचद्र को धर्मशास्त्र पढाये थे। इनके शिष्य त्रैलोक्यकीर्ति तथा लक्ष्मीचद्र का काल ५० वर्ष का भी गृहीत किया तो प. वामदेव वि.स. १३५० तक का निश्चित होता है। प. वामदेव त्रैलोक्यदीपक की एक प्रति स. १४३६ की उपलब्ध है। इससे भी इनके १४ वी सदी के होने में पुष्टि ही मिलती है। वामदेव पर आशाधरजी के प्रतिष्ठापाठ, स्नपनशास्त्र, नित्यमहोद्योत, सागार धर्मामृत का गहरा प्रभाव था।

(४) पं. अय्यंपार्य- (स.१३७६) ये मूल संघ-बालात्कारगण के परपरा के विद्वान थे। आपने जिनेंद्र कल्याणाभ्युदय नामके एक प्रतिष्ठाशास्त्र की रचना सं.१३४१ मे की है। आपके विद्यागुरु धरसेनाचार्य तथा कुमार सेन मुनि थे। धरसेनाचार्य तर्क व्याकरण आगम तथा स्याद्वाद आदि विषय मे निष्णात थे। आपने पूर्व प्रतिष्ठा-पाठ रचयिता के नाम मे ही वीराचार्य तथा एक सधि, आशाधर इनका स्मरण किया है।

(५) पं. भावशर्मा- (स. १३५०-९०) अभय नदी नाम से प्रसिद्ध मुनि का एक 'लघुस्नपन' अभिषेक पाठ उपलब्ध है। इसपर प. भावशर्मा की टीका भी उपलब्ध है। टीका मे आपने अभयनदी तथा पं आशाधर को एक ही समझकर टीका की है। तथा टीका मे सागारधर्मामृत के अनेक श्लोक उद्धृत किये है। आपने आशाधर को बुध, आशाधरकीर्ति, आशाधरसूरि , आशाधरदेव आदि नामो से सबोधकर गौरवान्वित किया है। आपका काल भी वि.१४ वी सदी का अतिम काल जाता है।

(७) भ. सकलकीर्ति- (स. १४५०-१५१०) गुजरात में ईडर गद्दी के आप सस्थापक है। आप मूलसंघ बालात्कारगण के भ. पद्यनदी के शिष्य और आयु के २५ वे वर्ष मे दीक्षित हुए थे तथा २२ वर्ष दि. मुनि के रूप में आपने विहार किया था। आपने अनेक जगह जिनचैत्य प्रतिष्ठा की तथा जिनमदिर बधवाये। आबु पहाड़ी पर सं. १४९४ मे एक मदिर बधाया तथा स. १४९७ मे एक मूर्ति की प्रतिष्ठा भी करायी थी। सागवाडा में मंदिर-मूर्ति स्थापन कर शिष्य भ धर्मकीर्तिका पट्टाभिषेक भी किया था। (भ. स. ले. ३३०/३३३) आपके प्रश्नोत्तर श्रावकाचार पर आशाधर के सागार धर्मामृत का बहोत प्रभाव है। विशेषत. मुनिवात्सल्य, मुनिदान आदि के दिये आपने प. आशाधर का ही अनुसरण किया है। यथा अ. ४ श्लोक ५२ और अ. ८० के श्लोक १४७, १४९। स १५१७ आषाढवदि १३ शुक्रवार को आपके पट्टशिष्य भ. भुवनकीर्ति ने मूलाराधनादर्पण की एक प्रति लिखवाई थी।

(८) भ. धर्मकीर्ति- (सं. १५१०-१५५०) आप भ. सकलकीर्ति के शिष्य तथा सागवाडा गद्दी के भट्टारक थे। आपने गुजरात में खूब धर्मप्रचार

किया था। आपने आशाधर के यत्याचार (अन. ध.) पर टीका रची है। तथा आशाधर के रत्नत्रय के अष्टागदर्शन, अष्टागज्ञान तथा त्रयोदशागचारित्र के श्लोकों पर अपभ्रश भाषा मे २९ जयमाला रचकर बृहद्रत्नत्रय पूजा के रूप मे इसका खूब प्रचार किया। आपके शिष्य मुनि मदनचद्रदेवने भी स १५८७ मे विदर्भापुरी स्थान मे सागारधर्मामृत की एक प्रति लिखवा कर उसका वाचन किया था। (सोनागिरी प्रत)

(९) **मुमुक्षु विद्यानदी**– (स १५२०-४०) आपने सुदर्शनचरित की रचना की है। आप कुदकुदान्वय सरस्वती गच्छ सूरत गद्दी के भ. पद्मनदी के प्रशिष्य तथा देवेद्रकीर्ति के शिष्य थे। आपने भ देवेद्रकीर्ति के समान आशाधर जी का भी गुरुरूप से स्मरण किया है। तथा आशाधर को सूरि सबोध कर सम्यग्दृष्टिशिरोमणि कहा है। यथा–

सूरिराशाधरो जीयात् सम्यग्दृष्टिशिरोमणिः ।
श्री जिनेद्रोक्त सध्दर्भ-पद्माकरदिवामणिः ॥ ३२ ॥

(१०) **श्रुतसागर सूरि**– (स १५२५-१५८०) आप उपर्युक्त सूरत गादी के भ विद्यानदी, मल्लीभूषण तथा भ. लक्ष्मीचद्र के शिष्य रहे है। आपके सहाध्यायी तथा सधर्मा ब्रह्म नेमिदत्त , ब्रह्म महेद्रदत्त, श्री सिहनदी और प राघव के साथ महाराष्ट्र के अतरिक्षपार्श्वनाथ शिरपुर क्षेत्रपर आप ससघ पधारे थे। स १५७५ के वैशाख सुदी १२ गुरौ शिरपुर मे पचकल्याणक महोत्सव का आयोजन हुआ था। तब आपने एक अ. पा पार्श्वनाथ अष्टक तथा स्तुति की रचना की थी। आप कवि तथा अनेक शास्त्रो के रचयिता भी है। आपने प आशाधरजी के १ जिनयज्ञकल्प , २ सिद्ध भक्ति, ३ जिनसहस्रनाम तथा ४ सिद्धचक्रार्चन आदि कृतिपर टीका लिखी है।

(११) **शांतिश्री, गौतम श्री**– (स. १५४९)- आपने स.१५४९ माह वदी ३ सोमवार को प आशाधर जी के धर्मामृत पजिका का स्वाध्यायकर उसकी एक कापी डूँगरपुर मे लिखवाई थी। कापी अभी ऋषभदेव ग्रथ भडार मे विद्यमान है। आप भ सकलकीर्ति-भुवनकीर्ति-ज्ञान भूषण की शिष्या है।

(१२) भ. शुभचंद्र- (सं.१५७३-१६१३) आप बालात्कारगण ईडर शाखा के भ. ज्ञानभूषण के प्रशिष्य तथा भ. विजयकीर्ति के शिष्य थे आपने पांडवपुराण के प्रशस्ति में लिखा है-

चंदना याः कथा येन दृब्धा नांदीश्वरी तथा।
आशाधरकृताचार वृत्तिः सद्वृत्तिशालिनी ॥७३ ॥

इससे सदाचार का बोध कराने वाले प. आशाधर जी के धर्मामृत परटीका रचने का बोध होता है। तथा प. जी के नित्यमहोद्योत पर भी टीका आपने की है और जिनसहस्रनामपर अष्टक रचा है।

(१३) साधु खुशालसेन- (स १५९०) दि. मंदिर इलाहाबाद के जीर्णोद्धारक लबकचुकान्वय बुंदेले गोत्रोत्पन्न साहु सक्कुके आप सुपुत्र थे। मदिरजी के जिर्णोद्धार के शिलालेख मे प. आशाधरजी विरचित अध्यात्मरहस्य का श्लोक न. ६७ "शुध्दबुध्दस्वचिद्रूप...तथात्मनः ॥" यह उद्धत किया है। इससे उस समय उत्तर प्रदेश मे अध्यात्मरहस्यका प्रभाव होने का बोध होता है।

(१४) भ. पद्मकीर्ति- (स. १५७०-१६००) आप धर्मकीर्ति के सिरोंज गद्दी के शिष्य थे तथा आपका सबध सोनागिरी से भी था। आपने स्वाध्यायके लिये पडितजी के जिनसहस्रनाम स्वोपज्ञ टीका की एक प्रति सूरत से मंगायी थी। जो अभी सादुमल (जि. झासी) के दि. जैन मदिर में विद्यमान है। उसके प्रशस्ति मे लिखा है-

"भ.धर्मकीर्ति के पट्टे भ. पद्मकीर्ति ने पुस्तक आपजो सिरोजवालोको ॥ शुभं भवतु। श्री ब्रह्मसुमतिसागरेण प्रेषिता श्री सुरत नगरात् ॥"

(१५) विनयचंद्र- (स.१५००-८०) आप ईडर गद्दी के भ. सकलकीर्ति त.भ. भुवनकीर्ति त.भ. श्री ज्ञानभूषण के सधर्मा गुरू श्री रत्नकीर्ति के शिष्य थे। आपने प जी के जिनसहस्रनाम की स्वोपज्ञटीका स्वयं स्वाध्यायकर उसकी अनेक प्रतियॉं बनवाकर बाटने की प्रेरणा की थी।

(१६) पं. मेधावी- (सं. १५४१) आपने धर्म संग्रह श्रावकाचार की रचना स. १५४१ कार्तिक कृष्णा त्रयोदशी के दिन पूर्ण की थी। उसकी प्रशस्ति मे आप लिखते हैं -

समंतभद्र वसुनंदीकृतं समीक्ष्य , सच्छ्रावकाचरणसार विचार हृद्यं।
आशाधरस्य च बुधस्य विशुद्धवृत्तेः श्रीधर्मसंग्रहमिमं कृतवानहं भो ॥ २३ ॥

इससे स्पष्ट है कि आपने धर्मसग्रहश्रावकाचार की रचना करने के पहले समतभद्र , वसुनदी तथा आशाधर इनके श्रावकाचारों का अध्ययन किया था। आपने समंतभद्र , वसुनदी की तरह आशाधर को आचार्य सबोधा है। आपके श्रावकाचार का अध्ययन करने से पता चलता है कि चतुर्थ अधिकार का ७१ वा पद्य आशाधर के सागारधर्मामृत के प्रथम अध्याय के १३वे पद्य से बिल्कुल प्रभावित है। ऐसा प्रतीत होता है कि मेधावी ने चतुर्थ अध्याय के ७७, ७८ और ७९ पद्य भी आशाधर के सा ध. के अध्ययन के पश्चात ही लिखे हैं।

(१७) **ब्रह्म शान्तिदास**– (स. १५७०-१६००) सूरत शाखा के भ. मल्ली भूषण शिष्य भ. लक्ष्मीचद्र के आप शिष्य थे ब्रह्मजिनदास, श्रुतसागरसूरि के आप सधर्मा थे। आपने बृहत् शान्ति नाथ पूजा की रचना की है। इसके प्रथम अध्याय के अन्त मे आप लिखते हैं।

पूज्यपादकृतं स्तोत्रं श्रुतसिंधुकृताष्टकम्।
आशाधरोक्तमवगाह्य प्रथमांतं मया कृतम्॥

इससे पंडितजी के पूजा पाठों से आप अच्छे परिचित थे और उनके अभ्यास के अनन्तर ही आप ने शान्ति नाथ पूजा की रचना की है। आपने स१५९० वैशाख शु १५ शनिवार को ब्र वृषभदास के आदेश से आशाधर के प्रतिष्ठापाठ की प्रतिलिपि की थी।

(१८) भ. विद्यानंद– (सं १५९० से १५९८) आप बालात्कारगण कारजा शाखा के भ विशाल कीर्ति के पट्ट शिष्य थे। आप न्याय शास्त्र के अच्छे जानकार तथा अभिनव वादी कहलाते थे। आप ने पडितजी के अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति, महर्षिस्तवन तथा सरस्वतीस्तवन पर टीका लिखी है। सरस्वतीस्तव के अन्त में लिखा है- " विशालकीर्तिस्तत्सूनुस्तीर्ण श्रुत महार्णवः। विद्यानद इमा वृत्ति चक्रे वाग्देवतास्तुवे ॥ इत्याशाधरकृतस्तोत्र टीका समाप्ता ॥ कृतिरियं वादीद्रविशालकीर्तिभट्टारक प्रिय शिष्य यतिविद्यानदस्य ॥" इसका अर्थ मूलस्तोत्र

विद्यानंदजी के है और उस पर पंडितजी की टीका है। ऐसा किया जाता है। किन्तु ये चार मूलस्तोत्र पंडितजी के ही है और उस पर भ. विद्यानंद ने टीका रची है।

(१९) **भ. ललित कीर्ति**- (सं. १६०९) आप जेरहट शाखा के भ. यशकीर्ति के पट्टधर थे। सं. १६०९ में आपने प. जी के रत्नत्रयपूजा पर टीका की है।

(२०) **ब्रह्मज्ञानसागर**- (सं. १५९२) श्रुतसागर के सधर्मा तथा भ. लक्ष्मीचद्र के शिष्य थे। आपकी सधर्मा बहिन विनय श्री ने पंडितजी के नित्यमहोद्योत की एक प्रति को स्वयं लिखकर ब्रह्म ज्ञानसागर के पठनार्थ अर्पण की। इस नित्यमहोद्योतपर श्रुतसागर की टीका भी लिखी है। उस टीका के साथ की यह प्रति है।

(२१) **सुमतिकीर्ति**-(स. १६२०-४०) आप ईडर शाखा के भ. शुभचद्र के शिष्य थे। आपने पडितजी के जिनसहस्त्रनाम पर टीका रची है। (दि. जैन ग्रथ और ग्रथकार)

(२२) **पं. खड्गसेन**- (स. १७१३) आप आगरा के निवासी हैं, तथा स. १७१३ में आपने पडितजी के जिनसहस्त्रनाम पर पूजा रची है। (वही)

(२३) **भ. नरेंद्र कीर्ति**- (सं. १७२२) आप दिल्ली जयपुर शाखा के भ देवेंद्रकीर्ति के पट्टधर थे (भ. स. लेखाक २६९) सं. १७२२ में आपने पडितजी के प्रतिष्ठा पाठ की एक प्रति लिखाकर आचार्य चद्रकीर्ति प. घासीराम प भीवसी, एव प. मयाचद के स्वाध्यायार्थ भेट दी थी।

(२४) **पं. वादिराज**- (सं. १७२९) आप ज्ञानलोचनस्तोत्र के कर्ता तथा वाग्भट्टालंकार पर 'कवि चंद्रिका' नाम के टीकाकार है। इसकी प्रशस्ति से पता चलता है कि, आप खंडेलवाल थे और आपके पिता का नाम पोमराज था। तक्षक नगरी के राजा राजसिंह के आप संभवत: मंत्री थे। राजा राजसिंह भीमदेव के पुत्र थे। आपने कविचंद्रिका टीका की समाप्ति सं. १७२९ के दीपावली को

की थी। आपने प्रशस्ति में लिखा है कि , "इस समय मैं धनंजय , आशाधर , और वाग्भट का पद धारण करता हू।" यथा—

धनंजयाशाधर वाग्भटानां धत्ते पदं संप्रति वादिराजः।
खांडिल्यवंशोभ्दवपोमसूनुः जिनोक्ति पीयूषसुतृप्तगात्रः॥

इससे स्पष्ट होता है कि स १७२९ तक पडितजी की प्रसिद्धि और प्रभाव था।

(२४) **पं. दयाराम**– (स. १८११) आप सिंघई लालमणि के सुपुत्र लाला भगवानदास के स्वाध्याय शैली के पडित थे। आपके पठनार्थ सिरोज नगर के चद्रप्रभचैत्यालय मे जिनसहस्रनाम की टीका स १८११ के भाद्रपद कृष्ण ९ मी सोमवार को मिश्र हरिश्चद्र ने लिखकर पूर्ण की थी।

(२५) **भट्टारक नेमिचंद्र**– (स. १५७०-९०) आपने गोम्मटसार पर जीवतत्व प्रदीपिका टीका सस्कृत मे लिखी है। यह टीका आपने प आशाधर के अनगारधर्मामृत के अनुसार लिखी है। इस टीका का आधार प. टोडरमल जी ने सम्यग्ज्ञानचद्रिका के लिए किया है।

(२६) **अमरकीर्ति**– (स १५२५-४५) आप मूल सघ बालात्कारगण कारजा पीठ के भट्टारक थे। भ विद्यानद के प्रशिष्य तथा भ. विशालकीर्ति के गुरू थे। आपने स. १५२६ माघ वदी ५ सोमवार को शिरपुर मे एक पीतल के चौबीसी की प्रतिष्ठा की है। आपने प आशाधर के जिनसहस्रनाम स्तोत्रपर टीका लिखी है।

(२७) **आचार्य वर्धमान (द्वी.)** – आप भ विद्यानद के तथा उनके पट्टशिष्य देवेद्रकीर्ति के शिष्य थे। आपने शक १४६५ (स. १५९९) मे दशभक्त्यादि महाशास्त्र की रचना की है। इसमे आपने पं. आशाधर जी का अनेकबार उल्लेख किया है। आप कारजा गादी से सबद्ध रहे हैं। आपको प. नेमिचद्र ज्योतिषाचार्य ने भट्टारक संबोधा है। किन्तु आप स्वय को भ. विद्यानंद के सधर्मा मानते हैं। तथा भ देवेन्द्रकीर्ति को गुरू कहते हैं। भ. विद्यानद का स्वर्गवास स १५९७ में होने की चर्चा आपने की है।

इसी प्रकार कारंजा बालात्कार जैन मंदिर , सेनगण मंदिर , सरस्वती ग्रंथभंडार , झालरापाटण , उज्जैन , देऊलगांव , सोलापुर , ईडर , जयपुर आदि जगह में अनेक पांडुलिपियाँ बद बस्ते में रखी हुयी है। छपी हुयी पुस्तक के मिलने पर इनका लिखना-लिखाना तो दूर किंतु अब इनको पढ़ने वाले भी नहीं मिलते हैं।

हाँ अनेक प्रतियो का जब मिलान किया जाता है तब इनको देखा जाता है। राजस्थान मे विशेषत: जयपुर के अनेक ग्रंथ भडारों में ही पंडितजी की अनेक अप्रकाशित रचना पड़ी हुई हैं। जिस दिन इनका प्रकाशन होगा वह समाज के भाग्योदय का ही दिन होगा।

अनेक श्वे. जैन ग्रथ भडारों में भी प. जी की अनेक रचनाये हैं। दि. जैन ग्रथालयों मे जब श्वे ने स्वपठनार्थ लिखी हुई प्रति पायी जाती है तब उनके अपने ग्रंथभडारो में उनका अस्तित्व तो होगा ही , किंतु अप्रकाशित तथा कुछ और नई रचना भी मिल सकती है। इसके लिये जोबनेर , जैसलमेर , बीकानेर , अहमदाबाद आदि जगह के ग्रंथ भडारो को देखना जरूरी है।

श्वेताबर समाज मे भी इनका प्रभाव था। तथा इनके साहित्य की कापियां बनायी जाती थी। इसके तीन प्रमाण उदाहरण के लिये दिये जाते हैं—

(१) **त्रिभंगीसार सुबोधिनी टीका—** यह पोथी मालपुरा का श्वेतांबर पासी लिई छे। ताते यह पोथी साह जोधराज गोदीका सागानेर वाला की छै। सवत् १७२१ माह सुदि १० मु सागानेरी।

(२) इत्याशाधर सूरि कृतं जिनसहस्रनामस्तवनं समाप्तम् ॥ सवत १७७७ वर्षे श्रावणमासे कृष्णपक्षे पचमी दिनेषु लिखितं श्वेताबर रूपचद जी फतेपुरमध्ये साह श्री श्रीराम पठनार्थ ॥ भट्टारक श्री श्रीदेव श्री श्रीजिनेंद्रकीर्तिविजयराज्ये लिपीकृतम् ॥

(३) इत्याशाधरकृत जिनसहस्रनामस्तवन संपूर्णमस्तु श्रीरस्तु ॥ स. १८१६ कार्तिक वदि ९ ॥ बृहत्खरतरगच्छ प. प्र. श्री हेमराजजी तद्भातृ पं. प्र. कुशलजी ॥ पं. श्रीचद , हिराचद , रूपचद , सहस्रेन लिखित प्रतिरयम् ॥ प श्रीचदेन , जावरामध्ये ॥ (बूंदी दि. म.)

अत में , प नाथूरामजी प्रेमी का अभिप्राय देकर समाप्त करता हू–

विविध आचार्यों और विद्वानो के मत– "प आशाधर जी का अध्ययन बहुत विशाल था। उनके ग्रथो से पता चलता है कि उन्होने अपने समय मे उपलब्ध समस्त जैन वाङ्मय का गहन अवगाहन किया था। विविध आचार्यों और विद्वानो के मतभेदों का सामजस्य स्थापित करने के लिये उन्होने जो प्रयत्न किया है, वह अपूर्व है कि वे आर्षसधीत, न तु विघटयेत के मानने वाले थे। इसलिए उन्होने अपना कोई स्वतत्र मत तो कही प्रतिपादित नही किया है। परन्तु तमाम मतभेदो को उपस्थित करके उनकी विशद चर्चा की है। और फिर उनके बीच किस प्रकार एकता स्थापित हो सकती है यह बतलाया है।

पडितजी गृहस्थ थे, मुनि नही। पिछले जीवन मे वे ससार से विरक्त अवश्य हो गये थे_पीछे के ग्रथकर्ताओ ने उन्हे सूरि और आचार्यकल्प कहकर स्मरण किया है।_ इन सब बातो से स्पष्ट है कि वे अपने समय के अद्वितीय विद्वान थे। (जैन सा. इ. ३४२)

(उत्तरार्ध)

१ - *सागारधर्म – एक आदर्श जीवन*

शिवाशाधर आशाधर को प्रणमू बारंबार।
स्वपरहित साधनहेतु, धार देशनासार॥

"कलिकाल के प्रभाव से एकान्तवादियों की बहुलता है, फिर भी सम्यक् हितोपदेशी जुगुनु की तरह कही कही दीखते हैं। आश्चर्य तो यह है कि, परमार्थों के उपदेशकों की तरह अच्छे श्रोता भी दुर्लभ हो गये हैं। जो उनमे समीचीन तत्व का उपदेश ग्रहण करने की पात्रता वाले होते हैं।" ये अनुभवों पर आश्रित वचन प आशाधर जी के हैं। (सा. ध. अ १-७,८) उनके हृदय में जिनधर्म प्रभावना की सहज भावना विशेष रूप से जाग्रत हुयी थी। जो विशेष तत्त्व उनको सहज ज्ञात हुये थे, उनको कोई सत्पात्र देखकर ज्ञानदान की वे प्रतीक्षा करते थे। जहाँ-जहाँ वे पहुँचे, वहाँ वहाँ सहज ही स्वाध्यायशाला पाठशालाओ की स्थापना हो जाती थी। माडव्गढ़ (मडपदुर्ग - माडु), नालछा में मानो उनका एक विद्यापीठ ही चलता था और गॉव-गॉव की स्वाध्यायशालाएँ, पाठशालाएँ उनकी शाखाएँ बन जाती थी। (अ. २- ३५ से ३८)

प आशाधर जी एक उत्कृष्ट वक्ता थे, अत उनका प्रवचन सुनने को जैनेतर भी आते और प्रभावित होते थे। मातंग जैसे कुल में उत्पन्न व्यक्तियोंने जैनाचार से लाभ उठाया है। (अ २-९५) प. आशाधरजी व्यक्ति व्यक्ति को उनके पात्रताके अनुसार उचित उपदेश भी देते थे और उनका जीवन ऊँचा उठाने मे सहाय्य करते। इसमे जैन या जैनेतर ऐसा भेदभाव उन्होंने कभी भी नही किया था। उनका कथन है कि—

कुधर्मस्थोऽपि सद्धर्मं लघुकर्मतयाऽद्विषन्।
भद्रः सं देश्यो द्रव्यत्वान्नाभद्रस्तद्विपर्ययात्॥ २॥ अ,

जैन बनने को उत्सुक सैकडो ने नही हजारो ने इनसे पूछा कि, हमारे कुल मे जैन धर्म की परपरा अखड चले, इसका भी कोई इलाज हो सकता है" तो इस पर भी प. आशाधरजी ने जैनधर्म स्वीकारने की शास्त्रोक्त विधि और प्रक्रिया बताई है। उसे सुनकर कई सज्जन सहज ही जैन धर्मानुकूल प्रवृत्तियों में अधिकाधिक रुचि लेते थे। (अ.२/२०,८९) और क्रमशःइनके जीवन में जैनत्व का प्रामाणिक रूप भी दृष्टिगोचर हो जाता था। ज्ञानदीपिका टीका में

जैनत्व निर्माण हेतु आठ सस्कारो का वर्णन श्लोक न. २१ की टीका में किया है। इसे जानकर वे मज्जन केवल जैन ही नही होते थे, तो कुछ व्रती भी होते थे। इसकी समाज मे चर्चा अवश्य होती थी, कि, क्या ऐसा करना उचित है ?" तब आशाधर जी समझाते थे कि, केवल जैनकुल में जन्म लेने मात्र से जैनधर्म धारण के पात्र होते है, ऐसा नही तो मद्यमास आदि का आजीवन त्याग करने वाले चाहे ब्राह्मण हो या क्षत्रिय हो या वैश्य हो वे जैनधर्म श्रवण और धारण के अधिकारी है।

कुलाचार या केवल शुभाचार धर्म नही है- जीवनपर्यंत पॉच महापापों का त्याग करने वाला शुद्धी होता है और वही जैनधर्म को श्रवण-धारण करने का अधिकारी होता है।

यहाँ ध्यान मे अवश्य लेना है कि, पॉच पापो का त्याग करना-कराना जैनधर्म नही है, यह तो पशुत्व से मानव बनने का पहला कदम है, धर्म से मानव ही क्या पशु भी देव बन जाते हैं। अत· वह धर्म पॉच पापो के त्याग से भी अन्य-परे है। पापो के त्याग से तो उसकी धर्मश्रवण और धारण की पात्रता जागृत होती है। धर्म का स्वरूप अनगार धर्मामृत के पहले अध्याय मे ही विस्तार से किया है कि, रत्नत्रय ही धर्म है। उसका भूतार्थनय का दूसरा नाम है 'अध्यात्म'। उसका रहस्य पाना ही सच्चा जैनधर्म धारण है। द्रव्यानुयोग मे वर्णित छह द्रव्य का, सात तत्वो का जब तक यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान नही होता, तब तक वह सही अर्थ मे धर्मी या धर्मस्थ नही होता।

गृह चैत्य निर्माण– उपजीविका, राज्य परिवर्तन, आदि के कारण जैनश्रावकों का भ्रमण तथा स्थानातर भी होता है। आवश्यक क्रिया मे नित्य देवदर्शन के लिये श्रावक को उचित अल्पाकार जिनबिब रखकर नित्य मह (पूजा) करने का उपदेश पडितजी ने दिया है। (२५)

पंचपूजा– 'चत्तारि मगल, चत्तारि लोगोत्तमा, चत्तारि सरण पव्वज्जामि।' इतना कहने मात्र से श्रावक की देवपूजा समाप्त नही होती उसके लिए श्लोक ४२,४३,४४ मे विस्तृत चर्चाकर यह बताया कि नित्य अभिषेक, अष्टद्रव्य से पूजन आदि के उपरान्त नियमित स्वाध्याय करने का विधान किया है। इसके लिये पडितजी ने ' जिन-श्रुत-गुरु-सिद्ध और रत्नत्रयस्नपन' की स्वतत्र रचना भी की। नित्य इसका प्रचलन रहे तथा अरिहत, सिद्ध-साधु की पूजा करके स्वय के रत्नत्रय के विशुद्धिहेतु ज्ञानाराधन करना ही सच्ची देव व श्रुत पूजा

है। यह पंचपूजाविधान पडितजी की अभूतपूर्व देन है। समाज में धर्मभावना और धर्मसंस्कारों के प्रचलन में उसका बहुत बड़ा हिस्सा है।

स्वाध्याय– नित्य पूजा के बाद श्रावक को नित्य स्वाध्याय करने का एक प्रकार से प. जी ने आदेश ही दिया है। अत: **'श्रुताराधन ही सही जिनपूजा है।** श्रुत तथा जिनमें कोई भेद नहीं है।' ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन पं. जीने किया। प्रौढ़ और बृद्धों के लिए स्वाध्यायशाला मे उपदेश भी चलता था तथा युवा बालकों के लिए शिक्षाशालाएँ पाठशालाएँ भी उनके निर्देशन में चलती थी। पंडितजी प्रतिदिन स्वय शास्त्र सभा में शिक्षा देते थे। शास्त्रसभा प्रात: और रात्री में होती थी। शास्त्रसभा में जो भी विशेष उपदेश सुनाया जाता था, उसका शब्दाकन उनके शिष्य करते थे। पंडितजी द्वारा शास्त्रों की जो शताधिक रचना हुई वह इसी प्रकार होती रही। कभी कभी पूर्वाचार्यों के ग्रथों का अर्थ पडितजी से पूछा जाता था , तब पडितजी जो प्रवचन करते उसका उन शिष्यों को शब्दाकन करने की सूचना वे देते थे। ऐसे सुव्यवस्थित पूरे शब्दांकन को उस ग्रथ की टीका या पजिका ऐसा नामाकन भी होता रहा। काव्यालकार टीका , अमरकोश टीका , आराधनासार टीका , अष्टागत्हदयोद्योत आदि ग्रथों की टीकाएँ इसकी साक्षी है। धर्मामृत जैसे ग्रथों की या अनेक टीका ग्रथों की अनेक प्रतियाँ बनाकर शास्त्रदान के रूप में जगह-जगह वितरित की जाती थी। इसके लिये प जी का एक साहित्यमण्डल कार्यरत था। अन्य जगह से जैन तथा जैनेतर शास्त्र मगवाकर उनका नित्य अवलोकन , अध्ययन भी होता था। इसी माध्यम से पडितजी का सारे भारतभर सपर्क रहा तथा इसी कारण गुजरात से बगाल तक और राजस्थान से कर्नाटक तमिलनाडू तक पडितजी का अप्रकाशित साहित्य आज उपलब्ध होता है। पूजा प्रतिष्ठा विधान करने वाले श्रावकों को शास्त्रदान व शास्त्रस्वाध्याय का नियम दिया जाता था।

दान– श्रावक के नित्य कार्य मे दान का भी विशेष महत्व बताया है। दान का विभाजन - पात्रदान , दयादान (करूणादान), साधर्मीदान (रूपदत्ती) इस तरह तीन प्रकार से किया है। धर्मपात्रों के पांच भेद बताये। (५१)। समाज मे परस्पर वात्सल्य हुए बिना समदत्ती हो नही सकती , यह श्लोक ५३, ५४ मे स्पष्ट किया है। कर्मफल से विषयो मे समुत्पन्न सुखभ्रान्ति को धर्मीश्रावक पहिचान कर जैसा स्वयं छोड़ता है , वैसा अपने कुटुंबी तथा साधर्मी जनों को भी छोड़ने की प्रेरणा देते थे। (६२)

पात्रदान– वर्तमान की तरह उस काल खण्ड में भी पात्रों के स्वरूप की चर्चा होती थी। कुछ सज्जन त्यागियो के आचरण और परिणाम विशुद्धि में प्रमाद या उपेक्षिता के कारण मुनिदान की प्रवृत्ति को चेष्टा का विषय बनाते थे। तथा मुनिदान में पाप के अनुमोदन का भी भय बताते थे। ऐसे लोगों को पडितजी ने समझाया की, 'श्रावको ने ये पूर्वकाल के मुनि हैं ऐसी स्थापना करके दान देना ही चाहिए। अतिचर्चा से कोई लाभ नही है। य़दि दान के परिणाम शुभरूप है तो श्रावकों को पुण्यकर्म का ही बध होगा , और यदि अशुभ हो तो पापबध ही होगा। यह जानकर मुनि-त्यागियों के लिए आहार आदि दान देना ही उचित है।'(६४,६५,६६)

विकल्प– शास्त्र में सत्पात्र , कुपात्र और अपात्र का स्वरूप तथा उनके दान का भी फल बताया है। कुपात्र या अपात्र को दान देकर कुभोगभूमि या अन्य हीन फल प्राप्त करना क्या उचित है ?

समाधान– शास्त्र मे पात्र विपरीतता से जो फल विपरीतता बतायी है , वह मिथ्यादृष्टि दाता की अपेक्षा से बतायी है। सम्यग्दृष्टि दाता तो नियम से स्वर्ग का भागी होता है। अत मुमुक्षु को मुनि के लिये आहारदान देना ही चाहिए। (६७)

विकल्प– शास्त्र मे तो कुलिंगी को दान का निषेध किया है , और आप इनको भी दान देने की प्रेरणा करते है सो कैसा ?

समाधान– मुनिलिंग जिनलिंग याने सुलिंग ही है। अत. इनके दान का निषेध नही है। जहॉं दान का निषेध है वहॉं कुदान का ही निषेधं समझना। सुदान का कही भी निषेध नही है। दान मे सर्वत्र देय द्रव्य का निर्णय इस प्रकार कराया है–

तपः श्रुतोपयोगीनी निरवद्यानी भक्तित ।
मुनिभ्योऽन्नौषधावास - पुस्तकादीनि कल्पयेत्॥ ६९ ॥

जिससे तप और ज्ञान की वृद्धि हो ऐसे निरवद्य आहार , औषध, अभय तथा ज्ञान दान कराने का निर्देश है तो नही देने योग्य पदार्थो का भी निर्णय कराने के लिये पाचवे अध्याय मे उसका विस्तृत विस्तार प्राप्त होता है। यथा–

हिंसार्थत्वान्न भू गेह लोह गोश्वादि नैष्ठिकः ।
दद्यान्न ग्रहसंक्रान्ति श्राद्धादौ च सुहृद्गृही॥ ५३ ॥

हिंसा के साधन ऐसे भूमि-घर-पेटी-गाय-घोड़ा आदि (तथा कन्या-स्त्री-सुवर्ण-पैसा-धन-कपड़ा-दासीदास) इनका दान देने का निषेध है। यह दान अशुभ है और पाप का बंध कराने वाला है।

दान का उद्देश्य– जगद्‌बंधु जिनधर्म के प्रसार - प्रचार के लिये मुनि परंपरा का चलना नितांत आवश्यक है। अत: जो भी मुनि हैं , उन पर निज पुत्र जैसा वात्सल्य भाव रखकर उनके गुणों की वृद्धि हो ऐसा ही योग तथा सहयोग श्रावकों के लिये आवश्यक है। (७१)

ऐसा प्रयत्न करने पर भी यदा कदा उसमें सफलता नही मिलती याने मुनि के ज्ञान व चारित्र में अपेक्षित वृद्धि नही हो पाती तो ? फिर भी श्रावकों को तो यत्नाचार का फल पुण्यबंध अवश्य होता ही है। और दैवयोग से यदि उनके रत्नत्रय में वृद्धि हुई तो स्वपर महान उपकार सिद्ध हुआ।

महिला उद्धार– यह पर उपकार मात्र पुरुष के लिये नही तो महिलायें भी अणुव्रत , उपचरित महाव्रत स्वीकार करने के पात्र हैं। ऐसा स्पष्ट उपदेश दिया है। (७३,७४,७५) तथा तीसरे अध्याय में महिला उद्धार का कार्य धर्मपत्नि से ही प्रारभ करना चाहिए। ऐसा भी कहा है।

नैमित्तिक या असार्वकालिक त्याग का महत्व-

यावन्न सेव्या विषयास्तावत्ताना प्रवृत्तित: ।
व्रतयेत्सव्रतो दैवान्मृतोऽमुत्र सुखायते ॥ ७७ ॥

जिस जिस समय तक जिन जिन वस्तुओं को खाना नही है उनका, या जिस समय तक पुन जिन जिन भोग उपभोगों को उपयोग में लेना नही है उतने समय तक विषयों को भी यदि त्याग कर दिया जाय तो, उसका फल भी महान् होता है। जैसे- प्रात: भोजन के बाद जब तक सध्या का भोजन करना ही नही होता, या जब तक नीद का समय होता है, या जब तक प्रवास या अन्यकार्य मे व्यस्त रहता है, तब तक ही भोजन आदि का त्याग करने से यह उपचार से व्रती कहलाता है और दैव योग से इस काल में मृत्यु हो जाय तो व्रतभावना के कारण उसका परलोक भी सुधर जाता है।

तीर्थयात्रादि प्रवृत्ति– व्यवहार प्रधान गृहस्थ अवस्था में परिणामविशुद्धिके साथ-साथ तीर्थयात्रा, पूजामहोत्सव, रथयात्रा, क्षपकयात्रासमाधिमरण-मृत्युमहोत्सव जहाँ-जहाँ भी होता हो, निषिधिकागमन- जहाँ जहाँ साधुओं की

समाधि बनी हो, अतिथि पूजन, भूतबली-करुणादान- सभी प्राणियों की आहार पान-औषध आदि की व्यवस्था इत्यादि करने का विधान करके उजर्यत आदि तीर्थों की वदना करने की प्रेरणा की है।

अभीक्ष्णज्ञानोपयोग- सामान्य श्रावक, अविरत सम्यग्दृष्टि या दार्शनिक जो अष्ट मूलगुणों का धारक और सप्त व्यसनोंका त्यागी होता है उसको नित्यप्रति जिनवचन का बारबार अभ्यास करने की प्रेरणा दी है।

ज्ञान के विकास मे ही ज्ञान का सच्चा उद्धार और सफलता है इस भावना से निरतर शास्त्रस्वाध्याय करे और प्रशम, सवेग, अनुकपा व आस्तिक्य भावो को प्राप्त होता हुआ दैनिक चर्या को करे। नित्य मरण को ध्यान मे रखकर (या मृत्यु को निकट जानकर) सदा शुभध्यान में रहकर अंतिम समाधिमरण के प्राप्ति की भावना भावे। (७७)

देहधारण मे मेरुदण्ड का जैसा महत्वपूर्ण स्थान है। उसी प्रकार जीवन धारण मे अभीष्णज्ञानोपयोग का महत्वपूर्ण स्थान है। इसका सर्वत्र गृहस्थ और मुनियो के आचार मे अनेक स्थलों पर स्पष्ट निर्देश किया है। स्वाध्याय मे जैसा चारो अनुयोगो का महत्व है, उसी प्रकार अनुयोगो मे द्रव्यानुयोग का स्थान विशेष महत्वपूर्ण है। उसी का ही नाम अध्यात्मशास्त्र है और यह ही मोक्षमार्ग का सच्चा प्रतिपादक है।

स्थूल दृष्टि से देखा जाय तो सामान्य श्रावकाचार का वर्णन यहाँ ही पूरा होता है। सामान्यरूप मे जो कहना था वह सब यहाँ कह दिया है। किंतु आशाधर जी पारदर्शी थे। उन्होने मगलाचरण मे ही सूचित किया था कि 'अब मे यतिधर्म मे अनुराग रखने वाले श्रावको का धर्म कहूँगा।' उसके अनुसार तीसरे अध्याय से देश विरत श्रावक के आचार का प्रारभ किया है। दर्शन आदि जो प्रतिमा है उसके वर्णन में देश विरतश्रावक के आचरण मे क्या- क्या विशेषता आती है उसका स्पष्ट विवेचन करते हैं।

पडितजी ने प्रारभ मे ही **श्रावक के तीन भेद** बतलाये है- (१) पाक्षिक, (२) नैष्ठिक और (३) साधक।

(१) जो भगवान के कहे हुए सात तत्व, नव पदार्थ, छह द्रव्यों में श्रद्धा रखता है वह पाक्षिक या व्यवहार (अविरत) सम्यग्दृष्टि है।

(२) जो पहली प्रतिमा से क्षुल्लक-ऐल्लक तक की ग्यारह प्रतिमा का निष्ठापूर्वक धारण और पालन करता है वह नैष्ठिक है।

(३) जीवन के अंत में सावधानी से विधिपूर्वक समाधिमरण या सल्लेखना को साधनेवाला साधक कहलाता है।

इससे स्पष्ट होता है कि अब तक जो सामान्य श्रावकों के आचार का वर्णन है वह पाक्षिकाचार का वर्णन है।

प्रश्न– अष्टमूलगुणधारण और व्यसनों का त्याग यह क्या संयम का अश नही है ?

समाधान– मात्र मूलगुणधारण या सप्तव्यसन त्याग शुभाचार है, अतः वह सयम रूप धर्म नही है। अष्टमूलगुण का धारण तो विशुद्धिलब्धि के समय होता ही है। उसे यदि संयम कहा जाय तो उसे धारण करके यदि सम्यक्त्व हो जाय तो वह सीधे पचम गुणस्थान मे पहुँचे। किन्तु वह अविरत सम्यग्दृष्टि ही रहता है। अप्रत्यारव्यानावरणकर्म का उदय रहने से सम्यक्त्वाचरण मे दोष तथा मूलगुणो के अतिचारदोष लगते रहते हैं। जब वह निष्ठापूर्वक या निरतिचार मूलगुणो का पालन करते हैं तब से दर्शनप्रतिमाधारी देशव्रती कहलाता है। पंडितजी के शब्द है- "अणुव्रतमहाव्रताणि हि समितिसहितानि संयमः। तद्रहितानि विरतिरिति सिद्धान्तः।" अणुव्रतमहाव्रत यदि समितिसहित है तो सयम है और यदि समितिरहित है तो मात्र व्रत है। ऐसा ही सिद्धात याने षट्खंडागम का वचन है। इसके स्पष्टीकरण के लिये पडितजी कहते हैं–

दुर्लेश्याभिभवाज्जातु विषये क्वचिदुत्सुकः।
स्खलन्नपि क्वापि गुणे पाक्षिकः स्यान्न नैष्ठिकः ॥ ४। अ.३ ॥

कृष्ण नील या कपोत लेश्या मे से किसी एक लेश्या के प्रभाव से चेतन शक्ति के पुराने सस्कार के होने से किसी एक व्रत मे अतिचार लगाने वाला नैष्ठिक श्रावक, नैष्ठिक नही रहता पाक्षिक ही होता है।

विशेषार्थ– जिस पाक्षिक ने प्रतिमा धारण ही है, यदि वह कदाचित पुराने सस्कार के जाग्रत हो जाने से किसी एक इंद्रियविषय की ही अभिलाषा करता है या सयम का अभ्यास न होने से और मन को वश करना कठिन होने से किसी व्रत मे दोष लगा लेता है, तो वह पाक्षिक ही कहलाता है नैष्ठिक नही।

नैष्ठिकाचार को अच्छीतरह समझे बिना उसमें निष्ठा कहाँ से आयगी और निरतिचार पालन भी कैसा होगा ? अत. इसके आगे नैष्ठिकाचार का वर्णन किया जाता है- (अ. ३)

आचारों मे निष्ठा स्पष्ट रूप से दृग्गोचर हो इस लिये पच मूल आधारों का पालन बताया है। (७,७) वह इस प्रकार है–

(अ) शुद्धदृष्टि– पाक्षिक श्रावक के आचार के पालन से जिसने निरतर अपने आत्मापर सस्कारो को करके अपने सम्यक्त्व को दृढ किया है, सात तत्व, छह द्रव्य का निर्णय करके उसका ही जिसने सदा मनन, श्रवण तथा वाचना से दृढ़ीकरण किया है, करता है वह शुद्धदृष्टि कहलाता है।

(ब) विरक्त– ससार तथा शरीर का सयोगसबध व तदनतर नियम से होने वाला वियोगस्वरूप जानकर जिसको विरागता उत्पन्न हुई है ऐसा व्रती।

(स) परमेष्ठीपदैकधी– (मात्र परमेष्ठीयों का आराधक)-अपने उद्धार के लिये जिसने केवल पचपरमेष्ठियो की ही पूज्यता मानी है ऐसा। पाक्षिक अवस्था मे कभी कभी शासनदेवताओ की रूढीवश पूजा की गयी थी, अब यह बड़ा देशव्रती-नैष्ठिक बनने जा रहा है तब अव्रती (असयमी) ऐसे देव देवताओ की पूजा, इस पर कैसी भी आपत्ति क्यो न आवे उनसे छूटने की भावना से या और किसी लौकिक आकाक्षा पूर्ति हेतु न करे। प्रथम प्रतिमाधारी को ही जहाँ शासन देवताओ की पूजा का स्पष्ट निषेध बताया है व्रहाँ ब्रह्मचारी मुनि असयमी-देवताओ की पूजा का विकल्प या उपदेश कैसे कर सकते हैं ?

देखिये, यहाँ कैसे सतुलित तत्त्वदृष्टि से निरूपण किया गया है ! सामान्यतया पाक्षिक श्रावक का यदि शासनदेवताओ के साथ सबध रहा हो तो रहे किन्तु व्रती श्रावक के लिए स्पष्ट निषेध ही है। अत. अपने-अपने स्वपद की प्रतिष्ठा रखते हुए यथायोग्य आचरण करे। अन्यथा व्रती होने पर भी वह पाक्षिक श्रावक ही बना रहेगा।

(द) मूलगुणों का निरतिचार पालक– प्रथम भूमिका मे जो अष्टमूलगुणों का वर्णन किया गया था उसका पालन करते समय कभी कभी अतिचार-दोष

लगते थे अब अष्ट मूल गुणो का पालन निरतिचार करना होता है। तथा जिस प्रतिमा का ग्रहण किया है उसके आगे की प्रतिमा के धारण करने मे अधिक उत्साहित रहना आवश्यक है। अत: निरतिचार व्रतपालन के लिए क्या-क्या चाहिए इसका श्लोक १ से १६ में स्पष्ट निर्देश भी किया है।

(इ) सत् शील– अपने कुल पद के अनुसार उपजीविका हेतु नीति-न्यायपूर्वक व्यवसाय, सेवा या खेती करनेवाला।

यहाँ पर पडितजी ने अपने अभिमत पुष्टि के लिए वसुनदी आचार्य की एक गाथा भी उद्धृत की है। यथा–

पंचुबरसहियाइं सत्तविवसणाइं जो विवज्जेइ।
सम्मत्तविसुद्धमइ सो दंसणसावओं भणिओ॥

पच उदुबर सहित सात व्यसनो को छोड़ने वाला सम्यक्त्वी ही दर्शनप्रतिमाधारक होता है।

सप्तव्यसनों का त्याग– पूर्वाचार्य का आदेश प्रमाण मानकर सम्यकदृष्टि श्रावक को सात व्यसनो का त्याग युक्ति तथा प्रथमानुयोग के उदाहरण देकर कराया है। क्योकि व्यसनरूप प्रवृत्ति मे कषायो की तीव्रता होती है, आचार पापरूप होता है पुरूष का नैतिक अध· पतन होता है तथा व्यसनी जीवात्मा को नियम से दुर्गति का बध होता है। (१७)

स्वदार संतोष– महिला उद्धार या समाज उद्धार का पवित्रकार्य स्वय अपने घर से ही प्रारभ करना होता है। पत्नि मे तथा सतान मे धर्मभावना जागृत करने के लिये, उनको बड़े प्रेम से धर्म की महिमा समझानी होती है। यदि ये ही विरुद्ध या मूढ़ रहे तो, आगे धर्माचार की परपरा नष्ट हो सकती है। (२६) धर्म, अर्थ तथा भोग प्रसग मे इनको साथ मे रख कर अन्नवत भोग का प्रमाण भी सीमित करने का शुभ सकेत दिया है। (२७-२९)

तथैव कुल परपरा चलने के लिए निराकुल होकर गृहभार से विदा होने के लिए और स्वय को दुराचार से बचने के लिए धर्मपत्निका पुत्रोत्पत्ति हेतु सीमित मात्रा में भोग भोगना अनिषिद्ध कहा है (३०) आरोग्य शास्त्र में भी उनके कुछ नियम बताये हैं, उन नियमों के पालना करने हेतु अष्टांगहृदय के

कथित श्लोको को उद्धृत करके उनकी पालना करने की सूचना टीका में स्पष्टतया दी है। सतानों का योग्य परिपोषण हो और योग्य संस्कारों का उनमे बीजारोपण हो ऐसा प्रयत्न करना और पुत्र के युवा होने पर उस पर गृहभार छोड़कर व्यापार से अलग होना चाहिए।

ऐसा पंडितजी का उपदेश केवल परोपदेश ही नही था छाहड़ नाम का पुत्र उत्पन्न होते ही प जी ने स्वय ब्रह्मचर्यव्रत धारण किया। प्रारभ से पुत्र के ऊपर योग्य धर्मसस्कारो को करके जब वह समर्थ हुआ और अर्जुन वर्मा राजा से सन्मानित हो एक राज्यपदभार सभाल ने लगा तो उन्होने धारा नगरी को भी छोड़ा नालछा आकर श्री नेमिजिनचैत्यालय मे रहकर धर्म तथा ज्ञान की साधना करते कराते रहे।

निशल्य व्रती– जब पडितजी का व्रत-विधान के ऊपर उपदेश होता था तब अनेक श्रोता मूलगुणो का तथा अणुव्रतो को स्वीकार करते थे। जिनको यह शक्य नही होता वे छोटी मोटी एकाध नियम या प्रतिज्ञा जरूर लेते थे। ऐसी छोटी मोटी विरति ग्रहण कर खुद को व्रती कहलाने वाले सबको पडितजी का कहना था कि, अनजाने ग्रहण किये व्रतो को अज्ञानव्रत या बालव्रत कहा जाता है। उसका फल सदगति जरूर है, किन्तु ससार नाश नही है, अतत दु ख ही है। अत व्रत ग्रहण करते समय तीन आवश्यकों का रखना जरूरी है। (१) छह द्रव्य या सप्ततत्वो के साथ-साथ अपना शुद्ध स्वरूप चिंतन होना, (२) व्रतग्रहण मे जल्दबाजी या दिखावट न होना, (३) तथा इस व्रत का फल मुझे अमूक हो ऐसी लौकिक फल की आकाक्षा नही करना।

यदि ये तीन गुण न हो तो महाव्रती भी अव्रती जैसा है। (अ.-१,२,३) अत व्रतो को निरतिचार पालना आवश्यक है। दीन और दरिद्री को भी इन व्रतों से कैसा लाभ मिलता है इसके उदाहरण स्वरूप मे उन्होने कहा कि, चित्तौड़ को एक मात्तगी रात्रि भोजन त्याग के नियम से सागर दत्त श्रेष्ठी के यहाँ नागश्री सुकन्या उत्पन्न हुयी। बताया जाता है कि विक्रम की तेरहवीं शताब्दी में चित्तौड़ मे रात्रि भोजन नही करने की राजाज्ञा ही थी। इस राजाज्ञा को धार्मिकभावना

के साथ यदि ग्रहण किया जाय तो, जीवन का कैसा उद्धार होगा इसका उपदेश उस मात्तंगीने सुना और उसे दृढता से पालन का निर्धार भी किया था।

बारह उत्तरगुण– ५ अणुव्रत - ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत ऐसे श्रावक के उत्तरोत्तर विशुद्धी बढ़ानेवाले १२ उत्तरगुण हैं। (४) इनमें पाँच पापों का स्थूलरूप से या एकदेश त्याग को पंचाणुव्रत कहते हैं। गृहीत अणुव्रतों का दृढीकरण हो इस भावना से जिसका सहज गुणरूप से जीवनपर्यंत पालन किया जाता है उसको गुणव्रत कहते हैं। तथा मर्यादित समयतक या मर्यादित क्षेत्र के लिये जिससे मुनिव्रतों की शिक्षा मिलती है, उनको शिक्षाव्रत कहते हैं। आशाधर जी तो इसको विद्याव्रत कहकर गौरव ही करते हैं। क्योंकि इसका निर्वाह विशिष्ट श्रुतज्ञान भावना से ही सभव होता है। ज्ञानोपासना न हो और शिक्षाव्रत कहलाये ऐसा सभव नही है। अतः व्यवहार चारित्र के विकास के साथ-साथ ही निश्चयचारित्र जो कि ज्ञान के विकास रूप या ज्ञानसाधना रूप ही है होना जरूरी है।यथा–

शिक्षाव्रतानी देशा-वकाशिकादीनि संश्रयेत्।
श्रुति चक्षुस्तानी शिक्षा प्रधानानि व्रतानी हि॥ २४॥ अ. ५

व्रती के दो प्रकार– (१) गृहवासी तथा (२) त्यक्तगृही। इनको गृहवास निरत और गृहवास-विरत ऐसा भी कहा जाता है। इनका वर्णन अध्याय ४ श्लोक ६ से १२ तक करके शास्त्राधार भी दिया है। पडितजी कहते हैं - गृहवास है और आरभ नही या आरभ है और जीव वध नही ऐसा संभव नही है। उद्यमी तथा गृहकार्य संभव आरंभी हिंसा गृही से होती है। इसलिए गृहवास छोड़ने की भावना नित्य रखना चाहिए और यत्नाचार अर्थात् हिंसादि पापों से स्वयं को बचाते हुए वर्तना भी चाहिए। क्यों कि प्रमादी हिंसक ही है। उससे स्वद्रव्य-भाव प्राणों का घात होने से हिंसा निश्चित है तथा प्रमाद का फल पापसंचय ही है। (२१) अतः चार कषाय , चार विकथा , पांच इंद्रियविषय, निद्रा और स्नेह (प्रीति) इन पंद्रह प्रमादों का यथाशक्य त्याग करके पाप से बचने का प्रयत्न करना चाहिए।

विकथा– विकथाओं मे साधारणतः भोजन कथा , स्त्रीकथा, चोरकथा , तथा राजकथा का अतर्भाव होता है। किंतु प. जी चोर कथा को स्त्रीकथा मे ही अतर्भूत करके वहाँ देशकथा का उपदेश देते हैं। वे कहते हैं कि भोजन , स्त्री, देश या राजा ये उपलक्षणमात्र हैं , अतः इनसे सबधित सब ही का ग्रहण यहाँ समझना चाहिए।

(१) **भोजन कथा–** अन्न पान के साथ-साथ अन्य इद्रिय के सेवन की भी चर्चा करना। (२) **स्त्री कथा–** स्वपर स्त्रियों की , पुत्र-पुत्री की , परिवार तथा अनुकूल प्रतिकूल जनो की चर्चा करना। (३) **देश कथा–** कौन से देश मे क्या-क्या सुलभ या विपुल है उसके यातायात , प्राप्ति आदि की चर्चा , उद्यम की दृष्टि से या कन्या देना- या कन्या करना आदि की दृष्टि से गृहस्थ सदा ही करता है। जिसको इसका प्रयोजन नही है वह भी चर्चा करता है , इस आदत से बचाने के लिए देश कथा का पडितजी ने उल्लेख किया है। (४) **राजकथा–** राजा के साथ साथ राजपुरुष , राजकारण से सबधित आज के मत्री-खासदार-आमदार , नगरसेवक या ग्रामसेवक आदि के विषय मे चर्चा करना। इससे पापोपदेश , हिंसादान आदि के चर्चा को भी विकथा ही कहा है।

जिससे शुभभावो मे वृद्धि हो ऐसे आत्मा के कथा का कथन ही धर्मकथा है। निज पर आत्मा के उत्थान हेतु या पाप से बचने के लिए जो भी कथा का कथन किया जाता है वह सब धर्मकथा ही है। फिर उसमे किसी राजा-प्रजा का, स्त्री पुत्रों का भी वर्णन क्यो न हो। अत पुण्य पुरुषो की कथा धर्मकथा समझना।

रात्रिभोजन त्याग– अन्न , पान , खाद्य और लेह्य इन चारो प्रकार के आहार का रात्रि मे त्याग करना उत्कृष्ट रात्रि भोजन त्याग है। तथा मात्र अन्न का रात्रि में त्याग करना जघन्य रात्रिभोजन त्याग है। शेष सब मध्यम त्याग में गर्भित है। यह त्याग यद्यपि अहिंसा व्रत के रक्षार्थ किया जाता है फिर भी , रात्रि भोजन मे दृष्ट और अदृष्ट अनेक आरोग्य विषयक दोष पाये जाते हैं। यथा– जू खाने में आने से जलोदर , मक्खी खाने में आने से वमन , मकड़ी

से कुष्ट रोग , कांटा या लकड़ी से गले के रोग , बिच्छू से तालुका रोग , बाल से स्वर भंग, आदि रोग उत्पन्न होते हैं । तथा रात्रि में संचार करने वाले अनेक जतुओं का संमूर्च्छन जीवों का घात सभव है और भूतप्रेत आदि जीवों की बाधायें भी रात्रि भोजन करने वालों को ही होती है। (२४,२५) अहो । जिस समय सत्पात्र दानादि शुभकार्य सभव नही है , उस दोषमय रात्रि में कौन हितेच्छु भोजन करेगा ? यथा—

यत्र सत्पात्र दानादि किंचित् सत्कर्म नेष्यते।
कोऽद्यात्तत्रात्ययमये स्वहितैषी दिनात्यये ॥ २७॥ अ. ४

इससे पडितजी कोई भी सत्कार्य देवपूजा या गुरुपास्ति जैसा भी रात्रि मे करने का निषेध करते थे। तथा इसके समर्थन में कहते थे कि अहो , जहाँ जैनेतर भी रात्रि मे देवार्चन , श्राद्ध , आहुति , दान आदि को निषिद्ध मानते है वहाँ मुमुक्षु जैन ऐसे कार्य रात्रि मे कैसे करेगा ? यथा— नेष्यते बाह्यैरपि - तच्छास्त्र यथा—

त्रयी तेजोमयो भानुः सर्ववेदविदो विदुः।
तत्करैः पूतमखिलं शुभं कर्म समाचरेत्॥
नैवाहुतिर्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनं।
दानं चाविहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः॥

विशेषार्थ— सनातन धर्म में भी रात्रि में शुभकार्य करने का निषेध है। कहा है - 'समस्तवेदज्ञाता जानते है कि सूर्य प्रकाशमय है, उसकी किरणों से समस्त जगत के पवित्र होने पर ही शुभकर्म करना चाहिए। रात्रि में न आहुति होती है , न स्नान , न श्राद्ध , न देवार्चन, न दान। रात्रि मे ये सब अविहित है और भोजन तो विशेष रूप से वर्जित है।'

ऐसे प्रभावी शब्दो द्वारा रात्रिभोजन त्याग की प्ररूपणा की है। यह रात्रि भोजन त्याग तो जैनियो कि खास पहिचान है। वह आजकल की नही , हजार दो हजार साल की नही , तो चौथे काल से ही चली आयी बात है।

राम लक्ष्मण जब वनवास जा रहे थे तब लक्ष्मण की पत्नि वनमाला ने लक्ष्मण को , 'यदि नियोजित समय पर लौट नही आये तो , रात्रि भोजन का पाप लगेगा।' ऐसी सौगन्ध दिलायी थी। (२६)

दुः श्रुति शास्त्र– जिन शास्त्रो में कामवासना विषयक तथा हिंसादि पापवर्धक कथन है तथा जिसको सुनने से चित्त रागद्वेष के आवेश से कलुषित होता है उसके सुनने को दु:श्रुति कहते हैं। यह नही करना चाहिए। तथा आर्त और रौद्रध्यान भी नही करना चाहिए। यथा–

चित्त कालुष्य कृत्कामहिंसाद्यर्थश्रुतश्रुतिं।
न दु:श्रुतिमपध्यानं नार्तरौद्रात्म चान्वियात्॥ ९॥

प्रश्न– कौनसे शास्त्र नही सुनना चाहिए ?

समाधान– वात्सायन के कामशास्त्र, ठकादि के हिसाशास्त्र, साहसशास्त्र, भेदशास्त्र, वशीकरण आदिशास्त्र नही सुनना चाहिए। ये तो उपलक्षण जानना। **जिनसे रागद्वेष की वृद्धि हो और मिथ्यात्व का पोषण हो, आरंभ परिग्रह को बढ़ाने वाले सभी शास्त्र नही सुनना चाहिए।** प्रयोजन भूत साततत्व, नव पदार्थ, छह द्रव्यो का जिसमे वर्णन हो, जिनसे सदाचार का सपोषण हो वे ही शास्त्र नियम से पढ़ना, सुनना और सुनाना चाहिए।

सामायिक– **एकान्ते केशबधादिमोक्षं यावन्मुनेरिव।**
स्व ध्यातु· सर्वहिंसादित्याग. सामायिकं व्रतम्॥ २७॥

अर्थ– चोटी की गाठ जब तक नही छोडूगा तब तक याने विशिष्ट काल तक सपूर्ण पापो का त्याग करना तथा मुनि जैसा स्वय के शुद्ध स्वरूप का अनुभवन करना सामायिक है। यह प्राय. सुबह शाम किया जाता है, तथा अभ्यास होने पर दोपहर भी किया जाता है। अन्य समय मे भी सामायिक के सिद्धिर्थ–

स्नपनार्चास्तुतिजपान् साम्यार्थं प्रतिमार्पिते।
युंजाद्यथाम्नाय माद्यादृते संकल्पितेऽर्हति॥ ३१॥

अर्थ– समता भाव ही सामायिक है, उसकी सदा सिद्धि के लिए अभिषेक, पूजा, स्तुति, जपादि करना चाहिए। जहाँ जिनमूर्ति नही हो वहाँ अभिषेक छोड़कर भाव पूजा, स्तुति, जप आदि करना चहिये। यथाम्नाय का स्पष्टीकरण करते हुये पडितजी स्पष्ट लिखते है कि, सोमदेव पडित के उपासकाध्ययन के

अनुसार ही किया करें । इस के साथ द्वि. गुणभद्र के बृहत्स्नपन तथा चामुण्डराय के चारित्रसारका अनुसरण करने की प्रेरणा दी है ।

मंदिर में निषिद्ध बातें-

मध्ये जिनगृहं हासं विलासं दुःकथां कलिम् ।
निद्रां निष्ठ्यूतमाहारं चतुर्विधमपि त्यजेत् ॥ १४ ॥ अ. ६

जिनमंदिर मे हास्य , विलास , खोटी कथा (विकथा) , कलह , निद्रा , थूकना और चतुर्विध आहार नही करना चाहिये। प्रसादरूप में नारियल, औषधादिक जो मंदिर मे कभी-कभी वितरित किया जाता है उसका निषेध नही है किंतु उसे मंदिर में नही खाना चाहिये ।

मंदिर में करने योग्य कार्य-

अथेर्यापथसंशुद्धिं कृत्वाऽभ्यर्च्य जिनेश्वरम् ।
श्रुतं सूरिं च तस्याग्रे प्रत्याख्यानं प्रकाशयेत् ॥ ११ ॥ अ. ६
स्वाध्यायं विधिवत्कुर्यादुध्दरेच्च विपध्दतान् ।
पक्वज्ञानदयस्यैव गुणाः सर्वेऽपि सिद्धिदाः ।१ १३ ॥ ६

नित्य पूजन - प्रक्षाल , अभिषेक , पूजन आरती आदि करना तथा नैमित्तिक प्रसग मे सिद्धचक्रादि विधान , लघु या बृहत् करना चाहिये । लघुविधान का स्पष्टीकरण पडितजी ने टीका मे स्वय किया है कि , सिद्धचक्र (सिद्धयत्र) , पार्श्वनाथ यत्र (कलिकुण्ड यत्र) , गणधर वलय (गणधर पादुका) , सारस्वतयंत्र (श्रुतस्कधयत्र) इनकी पूजा करना चाहिये । इस प्रकार नित्य पंचपूजा करने का उपदेश प जी ने दिया है । तथा दिन मे लगे दोषो का प्रत्याख्यान प्रकट करना चाहिये ।

मंदिर में सामाजिक कर्तव्य का भी ध्यान दिलाया है । यथा-

ततश्चावर्जयेत्सर्वान्यथार्हं जिनभाक्तिकान् ।
व्याख्यातः पठतश्चार्हद्वचः प्रोत्साहयेन्मुहुः ॥ १२ ॥ ६

प्रत्याख्यान प्रकट करने के साथ समस्त क्रिया विधि को समाप्त करने के बाद अर्हन्तदेव के सभी आराधको की यथायोग्य विनय करे और जो

परमागमरूप, न्यायशास्त्ररूप और व्याकरणरूप जिनागमन का व्याख्यान करने वाले, छात्रों को पढ़ाने वाले उपाध्याय हैं , और पढ़ने वाले विद्यार्थी हैं उनको बार-बार उत्साहित करें।

देखिए , पडितजी ने खुद के लिए या बुजुर्गो के लिए तो विधिपूर्वक स्वाध्याय करने की प्रेरणा दी तथा युवा पीढ़ी के लिये कारित और अनुमोदित कर्तव्य का भान दिलाया। यह पडितजी की बुद्धि की परिपक्वता का परिचायक है। साथ में यह भी कहा कि जो शारीरिक और मानसिक कष्टों से पीड़ित है, ऐसे दीन दुःखी जीवो को कष्ट से छुड़ावे। इनके लिए पं जी ने भोजनशाला और भेषजशाला भी खोलने की प्रेरणा दी है। तथा पात्रदान के साथ आश्रित सब प्राणियो को जिन मे पालतू पशु भी सम्मिलित हैं , अच्छी तरह सतृप्त करना चाहिये।

नित्य पंचपूजा का या सामाजिक कर्तव्यों का उपदेश–

"को हि श्रेयसि तृप्यति ?" - प्राप्त अनुकूलता में सतोष किसी को भी नही होता। अत पुण्यफल प्राप्ति मे कौन समाधानी होता होगा ? इसीलिए विशेष दिनो मे या पर्व दिनो मे नैमित्तिक विधान , तीर्थयात्रा , दान आदि का उपदेश प जी ने दिया है। किंतु मात्र पूजा विधानों में निरतर लगे रहना यह प जी का उद्देश्य नही था। इसमें तो सहसा सभी श्रावको की रुचि होती ही है। इसके माध्यम से यदि पदस्थ , रूपस्थ ध्यान की सिद्धि हो तो ही ये कार्यकारी है। इस रहस्य का स्पष्टीकरण आगे ध्यान के प्रकरण में करने की भी सूचना की है।

जिनागम के रहस्यो का विचार गुरु , स्वाध्याय प्रेमी तथा आत्महितेच्छु के साथ हमेशा करने की भी प्रेरणा दी है। यथा–

विश्रम्य गुरुसब्रह्मचारि श्रेयोर्थिभिः सह।
जिनागमरहस्यानि विनयेन विचारयेत्॥ २६ ॥ ६

भेदज्ञान की प्रेरणा–

दुःखावर्ते भवाम्भोधावात्मबुद्ध्याऽध्यवस्यता।
मोहाद्देहं हहात्मायं बध्दोऽनादि मुहुर्मया ॥ २९ ॥ ६

यह संसार एक समुद्र है, इसमें दुःखों के अनेक भंवर उठते ही हैं। इस संसार समुद्र में गोते खाते हुए मैंने मोहवश शरीर को ही आत्मा माना और इस अपनी भूल से यह स्वसंवेदन के द्वारा प्रत्यक्ष अनुभव में आने वाला आत्मा अनादि काल से कर्मों से बद्ध किया। यह बड़े खेद की बात है।

अनर्थ परंपरा का मूल नया आस्त्रवबंध–

बंधाद्देहोऽत्र करणान्येतैश्च विषयग्रहः।
बन्धश्च पुनरेतवालस्तदेनं संहराम्यहम्॥ ३१॥ ६

पुण्य-पापरूप कर्म के उदय से शरीर होता है, शरीर में इद्रियां होती है। इन इंद्रियो से विषय का ग्रहण होता है। इससे पुनः शुभाशुभ कर्मों का बन्ध होता है। इसलिए बन्ध का मूल जो यह इद्रियो द्वारा विषयोपभोग है इसका मैं निर्मूलन करने का पुरुषार्थ करता हूँ।

इन दु.खों से छूटने का उपाय भेदज्ञान ही है। ज्ञानी की संगति से तप और ध्यान मे प्रवृति होती है। ध्यान से भेदज्ञान तथा वैराग्य उत्पन्न होता है। उससे असाध्य कामशत्रु पर विजय पाया जाता है। अतः वे धन्य हैं, जिन्होंने भेद ज्ञान के लिए राज्य का भी त्याग किया किंतु पत्नि और धन की इच्छा करने वाले मुझे धिक्कार है। यथा–

ज्ञानिसंगतपोध्यानैरप्य साध्यो रिपुः स्मरः।
देहात्मभेदज्ञानोत्थवैराग्येनैव साध्यते॥ ३२
धन्यास्ते येऽत्यजन् राज्यं भेदज्ञानाय तादृशं।
धिड् मादृश कलत्रेच्छा तंत्रगार्हस्थ्यदुःस्थितान्॥ ३३

ध्यान रहे, इसमें प्रथमानुयोग, चरणानुयोग तथा द्रव्यानुयोग का सुयोग (सुमेल) सिद्ध हुआ है और निःसंगता के साथ-साथ ब्रह्मचर्य के पालन की प्रेरणा की है।

निरीहता– सहसा विधानपंडितों को, त्यागी, ब्रह्मचारियों को श्रावकों से आर्थिक सहायता मिलती है। पं. आशाधर जी को यह लेन देन की पद्धति पसंद नही थी। वे स्वयं ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए जिन मंदिर में निवास करते थे। स्वयं स्वाध्याय, अध्ययन, अध्यापन आदि में मग्न रहते थे। कभी

कार्यवश प्रवास होता तो उसका व्यय श्रावक स्वय करते थे। सम्मान की भी उनको इच्छा नही थी। अत इनकी लोकमान्यता विशेष तथा निरपवाद थी। इससे कोई पंडित इनसे ईर्षा रखते थे, तथा 'चदा क्यो नही लेते ?' ऐसा पूछते भी थे। जवाब मे पडितजी कहते थे–

स्त्रीतश्चित्तनिवृत्तं चेन्ननु वित्तं किमीहसे।
मृतमंडनकल्पो हि स्त्रीनिरीहे धनग्रहः ॥ ३६ ॥ ६

आशय यह है कि, यदि स्त्री से चित्त निवृत्त हुआ है तो, धन सग्रह में इच्छा कैसी ? ब्रह्मचारी को धनसचय के भाव प्रेतशोभा के समान है।

प्रश्न– यदि विपत्ति आ जाये तो ? — **समाधान–**

क्रियासमभिहारोऽपि जिनधर्मजुषो वरं।
विपदां संपदां नासौ जिनधर्ममुचस्तु मे॥ ३९॥

जिनधर्म का पालन करते हुए मुझे दैव से विपत्ति भी आजाय तो भी मुझे स्वीकार है किंतु जिनधर्म को छोड़कर मै सपदा की इच्छा नही करूगा।

त्यागियो को भी पडितजी का निवेदन रहा कि जो प्राप्त करना था वह श्रामण्य तो आपने प्राप्त किया अब साम्य (आकिंचन्य, ब्रह्मचर्य) याने शुद्धचिदानदरूप आत्मपरिणति ऐसे पर दुर्लभ धर्मका मथन कर उपेक्षारूप वीतराग चारित्र को आत्मा मे धारण करना चाहिए। (श्लोक ४०) इसके लिए वे जिनदत्त, वारिषेण, सुदर्शन आदि का दृष्टान्त देकर समझाते हैं कि, ये गृहस्थ होकर भी विषयभोगो से कैसे निरीच्छ रहे ? तथा यथा समय सयम धारण कर आत्म साधना के बल पर सिद्धि को प्राप्त हुए। (श्लोक ४४)

प्रश्न– शास्त्र मे तो ऐसे भी उल्लेख मिलते हैं कि, किन्ही ब्रह्मचारी या मुनि ने दीक्षाछेदकर गृही जीवन को स्वीकार किया। क्या आप ब्रह्मचारियो के पाच भेद को नही जानते हैं ? **उत्तर–** पडितजी कहते हैं, हाँ जानता तो हूँ। उनका स्वरूप जानने के पूर्व एक बात ध्यान मे रखना जरूरी है कि, ऐसे जो ब्रह्मचारी है, उनको पाक्षिक ब्रह्मचारी कहा है। जिन्होंने देखादेखी या किसी भावना वश मे आकर (शक्ति का विचार न करके) या किसी विशिष्ट कार्य के लिए जैसे- विद्यासाधना, (अध्ययन या मंत्रसाधना) के समय तक ही ब्रह्मचर्य

धारण कर बाद में गृहस्थ बनने का ही पक्ष जिनको था, उनके वे भेद हैं। निष्ठा पूर्वक आत्मकल्याण की भावना से जो ब्रह्मचारी होते हैं वे इस कोटि में नही आते। यथा–

प्रथमाश्रमिणः प्रोक्ता ये पंचोपनयादयः।
ते धीत्य शास्त्रं स्वीकुर्युर्दारानन्यत्र नैष्ठिकात्॥ १९/७

ब्रह्मचारी के पांच भेद (१) उपनय (२) अवलम्ब (३)अदीक्षा (४) गूढ (५) नैष्ठिक।

(१) तीन या सात पदरोका यज्ञोपवीत धारण कर उत्तम शास्त्राध्ययन करने वाला, किन्तु बाद मे गृहीधर्म की अभिलाषा रखने वाला उपनय ब्रह्मचारी होता है।

(२) क्षुल्लक का वेश धारण कर निष्ठा से शास्त्राध्ययन करने वाला किन्तु बाद मे गृहस्थाश्रम की अभिलाषा रखने वाला अवलम्ब ब्रह्मचारी होता है।

(३) निश्चित वेश धारण न करके मात्र अध्ययन करने वाला अदीक्षा ब्रह्मचारी कहलाता है।

(४) बचपन से ही श्रमण बनकर अध्ययन करने वाला किन्तु बाद में राजा, बन्धु आदि के आदेश से या परिषह पालन नही होने से मुनि पद का त्याग कर गृही बनता है, उसको गूढ ब्रह्मचारी कहते हैं।

(५) ब्रह्मचर्य का स्वीकार कर उसको आजीवन पालकर निष्ठा से अध्ययन तथा वीतराग की उपासना करने वालो को नैष्ठिक ब्रह्मचारी कहते हैं। इसको वेश का कोई बधन नही होता। तथा इसको वानप्रथाश्रमी याने खण्डवस्त्र रखनेवाला भी कहते हैं।

प्रश्न– ये पाचो ब्रह्मचारी चारों अनुयोगो के अध्ययन के अधिकारी होते हैं या कैसे ? उनकी और विशेषताएँ कौन सी होती हैं ?

उत्तर– सामान्यतः ऊपर निर्दिष्ट त्यागी भ्रामरीवृत्ति से भोजन करना, दिन को प्रतिमायोग धारण करना, आतापनादि त्रिकालयोग ये तीन धारण करने में असमर्थ होते हैं। ऐसे असमर्थ श्रावक सिद्धान्तशास्त्र याने आगमशास्त्र (करणानुयोग) और प्रायश्चितशास्त्र के अध्ययन के अधिकारी नहीं हैं। यथा–

श्रावको वीरचार्याहः प्रतिमातापनादिषु।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च॥ ५०/७॥

प्रश्न– 'द्रव्यानुयोग भी दुर्गमशास्त्र है, उनका अध्ययन मुनियों को ही करना चाहिये, जैसा समयसार। इसको श्रावक को नही पढ़ना चाहिये।' ऐसा कुछ लोग कहते हैं। तो क्या यह बराबर है ?

उत्तर– नही। द्रव्यानुयोग के अध्ययन बिना, सम्यगदर्शन उत्पन्न भी नही होता। स्वपरभेदविज्ञान, या साततत्वों- का श्रद्धान द्रव्यानुयोग के अध्ययन बिना होता ही नही है। भेदविज्ञान या सात तत्त्वों के यथार्थ श्रद्धान के लिए ही अनुप्रेक्षा, भावना आदि का भी उपदेश है। यथा–

स्वाध्यायमुत्तमं कुर्यादनुप्रेक्षाश्च भावयेत्।
यस्तु मदांयते तत्र स्वकृत्ये स प्रमाद्यति ॥ १५/७॥

द्रव्यानुयोग का स्वाध्याय ही उत्तम स्वाध्याय है, उसके अनुसार से ही अनुप्रेक्षा, भावनाओ का चिंतवन यथार्थ होता है। जो इसमे मद उद्यमी होता है वह प्रमादी होता है। उसको आत्मसाधना या आत्मानुभूति नही होती। उसे मोक्ष तो दूर, सवर-निर्जरा भी नही होती।

"द्रव्यादिशुद्धा ह्यधित शास्त्र कर्मक्षयाय स्यादन्यथा कर्मबधाय इतिभावः।" (अन.ध. ज्ञान. ४/९ टीका)

सल्लेखना–

मृत्युशय्या पर आरूढ जीवो की आत्मसाधना का नाम सल्लेखना है। "मै मरण समय मे सल्लेखना धारण करूगा।" ऐसी भावना पंडितजी सदा ही भाते थे और अन्य को भी वैसा ही उपदेश देते थे। यथा–

सल्लेखनां करिष्येऽहं विधिना मारणान्तिकीम्।
अवश्यमित्यदः शीलं संनिदध्यात्सदा हृदि॥ ५५/७

प्रश्न– साधना का क्या अर्थ है ?

समाधान– शरीरादि पर द्रव्यों से ममत्व हटाकर यथाशक्ति महाव्रतों को स्वीकार कर अन्नपान का विधिपूर्वक क्रमशः त्याग करना इसका नाम साधना या सल्लेखना है। यथा–

देहाहारेहितत्यागात् ध्यानशुद्ध्यात्मशोधनम्।
यो जीवितान्ते संप्रीतः साधयत्येष साधकः ॥ १/८
सामग्री विधुरस्यैव श्रावकस्यायमिष्यते।
विधिः सत्यां तु सामग्र्यां श्रेयसी जिनरूपता॥ २/८

प्रश्न– मरण समय में साधना के नाम पर अन्नपान या दवाई का त्याग करना याने मृत्यु को जल्द ही आमंत्रण देना है तो क्या यह आत्मघात नही है?

समाधान– यथा समय अवश्य नष्ट होने वाले शरीर को, जब उससे रत्नत्रय धर्म की साधना नही होती, तब वीतराग भाव से छोड देने में आत्मघात नही है। हाँ, कषायवश विष शस्त्रों से प्राणों का घात करना आत्मघात कहलाता है, यथा–

नावश्यं नाशिने हिंस्यो धर्मो देहाय कामदः।
देहो नष्टो पुनर्लभ्यो धर्मस्त्वत्यन्तदुर्लभः॥ ७॥ ८
न चात्मघातोऽस्ति वृषक्षतौ वपुरुपेक्षितुः।
कषायावेशतः प्राणान् विषाद्यै र्हिंसतः स हि॥ ८॥ ८

प्रश्न– इस पचम काल मे मोक्ष नही मिलता है, तो उसके लिए व्यर्थ प्रयत्न करने से क्या लाभ है ?

समाधान– मुक्ति के अत्यन्त दूर होने पर भी व्रत में सदा यत्न करना ही चाहिए क्योंकि व्रत धारण करके मुक्ति प्राप्त होने से पूर्व में स्वर्गादि सद्गतियो मे काल यापन करना दुर्गति के दुःखों की अपेक्षा श्रेयस्कारी है। अत. अव्रत से नरक मे जाने का कतई समर्थन हो नही सकता। यथा–

कार्यो मुक्तौ दवीयस्यामपि यत्नः सदा व्रते।
वरं स्वः समयाकारो व्रतान्न नरकेऽव्रतात्॥ १९ (२०)

प्रश्न– साधना के समय क्या करना चाहिए ?

समाधान– श्रुतस्कध का कोई एकाध वाक्य, अथवा कोई पद या अक्षर जो भी साधक को याद हो, उसी का अवलंबन लेकर उसमें चित्त को लगाना चाहिए। तथा, हे आर्य, श्रुतज्ञान के द्वारा रागद्वेषमोह से रहित शुद्ध निज का निश्चय करना चाहिए। और निर्विकल्प ध्यानपूर्वक देह का त्याग करके मोक्ष

को प्राप्त करने में उद्यमी रहने का सर्वत्र विस्तारपूर्वक निर्देश पाया गया है। यथा—

श्रुतस्कन्धस्य वाक्यं वा पदं वाक्षरमेव वा।
यत्किंचिद्रोचते तत्रालम्ब्य चित्तलयं नय॥ ७१ (७२)
शुद्धं श्रुतेन स्वात्मानं गृहीत्वार्य स्वसंविदा।
भावयंस्तल्लयायास्तचिन्तो मृत्वैहि निवृतिम्॥ ७२ (७३)

अतः शिवाशाधर (मोक्ष की अपेक्षा रखने वाला) श्रमण , श्रावक या अविरत सम्यग्दृष्टि कषाय की तरह शरीर को शास्त्रोक्त विधि से कृश करके पच नमस्कार मत्र का स्मरण करता हुआ प्राणो को छोड़ता है। वह यथायोग्य आठ भवो के भीतर मोक्ष को प्राप्त करता है , अनत सुखी होता है।

धन्य हैं वे शिवाशाधर , जिन्होने इसी तत्त्वाधिष्ठित दृष्टि से अपने पिताजी की शास्त्रोक्त विधि से सल्लेखना कराई।

२ - दिग्पालों को पूजा समय में निमंत्रित करने का उद्देश्य

अभिषेक , महाभिषेक , व्रतविधान तथा प्रतिष्ठा पाठो में दस दिग्पाल , देवी देवताओ का वर्णन मिलता ही है। यह उनके पूजा का विधान है ऐसा अज्ञान से मानकर कोई उसका निषेध करते हैं तथा कोई उसका समर्थन भी करते है। यह मात्र अज्ञान का ही झगडा है। अत उसके मूल उद्देश्य को प्रकट करने के लिए यह प्रकरण लिया है। आशा करता हू कि केवल माध्यस्थ भाव से ही इसे देखा जायेगा—

महाकवि आशाधरजी ने नित्यमहोद्योत के श्लोक न १०४ मे लिखा है- “अर्हच्छ्रितमहिपमधोऽर्चामि” (अर्हच्छ्रित = तीर्थकर परमदेवभक्ति तत्पर , अहिप = धरणेद्र , अध = अधरस्या दिशि, अर्चामि = पूजयामि।) तथा श्लोक न १०५ मे - ‘जिनयजनपर सोममूर्ध्व महामि’ ऐसा लिखा है। इसी प्रकार दसो दिग्पालो को पूजन समय मे अर्चामि , महामि , पूजयामि आदि शब्दो से सम्मानित किया है। प्रारभ के श्लोक न. ७५ में लिखा है—

दिगीशा. शब्दये युष्मानायात सपरिच्छदाः।
अत्रोपविशतैतान्वो यजे प्रत्येकमादरात्॥ ७५॥

यहाँ 'यजे आदरात् का अर्थ 'समान धर्म विनयात्' ऐसा स्पष्ट किया है। अर्थात् ये दस दिग्पाल साधर्मी = समानधर्मी होने से इनका विनय ही इनकी पूजा करना है।

प्रश्न– 'अहं पूजयामि' का स्पष्ट अर्थ है 'मैं पूजा करता हूँ', तब ऐसा सीधा अर्थ छोड़कर दिग्पालों का सत्कार या विनय ऐसा अर्थ क्यों कर रहे हो?

समाधान– श्लोक नं. ५० में कहा है कि, इन दस दिग्पाल तथा ब्रह्म (ब्राह्मण = पच पंडित) ऐसे एकादश देवता के लिए उनके स्थान पर आसन या पीठ के रूप मे दर्भान्यास करता हूँ। यथा – "दर्भान् वेद्या न्यसामि, न्यसितुमिह जिनाद्यासनानि क्रमेण" जिनेंद्र का पूजन करने वालो के लिए मैं वेदी पर क्रम से आसन के रूप में दर्भन्यास करता हूँ।

दर्भन्यास मत्रो से भी स्पष्ट होता है कि पूजा मात्र अर्हद् भगवतों की ही होती है। यथा – 'ॐ दर्पमथनाय नम·, ब्रह्मदर्भमवस्थापयामि स्वाहा। ॐ ब्रह्मणे नम, ॐ पूर्व दिङ्मुखे दर्भमवस्थापयामि स्वाहा। ॐ ब्रह्मपतये नमः, अग्नेयादिशि दर्भ__। ॐ जिनाय नम·, दक्षिणस्या दिशि__। ॐ जिनोत्तमाय नम, नैऋत्या दिशि__। ॐ ही अनतज्ञानाय नमः, अपरस्या दिशि__। ॐ पचकल्याण सपूर्णाय नम., वायव्यांदिशि__। ॐ अनतसुखाय नमः, उत्तरस्यांदिशि__। ॐ नवकेवललब्धिसमन्विताय नमः ऐशान्या दिशि__। ॐ अनतवीर्याय नम, अधरस्या दिशि__।

इन मत्रो से स्पष्ट है कि पडितजी ने आराधना मात्र जिनदेव की ही की है। तथा उसी हेतु अन्य साधर्मी देवतागण के लिए दर्भ दूर्वा, जल, चदन, पुष्पाक्षत, आदि का न्यास = क्षेपण किया है।

प्रश्न– ये दस दिग्पाल मनुष्यों के साधर्मी कैसे ?

समाधान– पूजा करने वाला मनुष्य स्वय को सौधर्म इंद्र समझता है। सौधर्म इंद्र ने उनके दसों दिशाओ में रहने वाले सभी देवगण को पचकल्याणक के समय मे आमंत्रित किया था। और वे भी यथाशक्ति पूजा साहित्य लेकर

आते थे। उसी का यह प्रतीक है। नंदीश्वरद्वीपों मे इद्रादि देव ही जाकर पूजा करते हैं । हम तो मात्र यहाँ ही उनकी स्थापना कर पूजा करते हैं।

पंडितजी श्लोक नं. १०७ नित्य महोद्योत में कहते हैं–

दिग्पाला: ! प्रतिसेवनाकुलजगद्दोषार्हदण्डोध्दरा: ।
साधर्म्यप्रणयेन बध्दभगवत्सेवानियोगेन वा ॥
पूजापात्रकराग्रत: सरमुपेत्योपात्त बल्यर्चना: ।
प्रत्युहान्निखिलान्निरस्यत जिनस्नानोत्सवोत्साहिनाम् ॥

इनमे दस दिग्पालों को जो विशेषण दिये हैं उनमें 'साधर्म्य प्रणयेन, पूजा पात्रकराग्रत: सरमुपेत्य, उपात्य बल्यर्चना, बध्दभगवत्सेवानियोगेन' इन पर विशेष ध्यान दिया जाये तो, चार बातों का स्पष्ट रूप से खुलासा होता है।

(१) ये दिग्पाल पूजक इद्र के साधर्मी होते हैं।

(२) जिनेद्र पूजन के लिए ही इद्र इनको बुलाता है और वे भी पूजापात्र हाथ मे लेकर शीघ्र आते हैं।

(३) उनके निमित्त से आगे किया हुआ पूजा द्रव्य दिया जाता है ,और 'इसे ग्रहण करो' ऐसा कहा जाता है, न कि उनको चढ़ाया जाता है तथा वे इसे ग्रहण करके पूजन में सहभागी होते है।

(४) विशिष्ट स्थान पर विशिष्ट देवों का ही विराजमान होना यह उनका नियोग ही समझना चाहिए।

दिग्पालों को आमंत्रित करने वाले मंत्र भी इसी अर्थ के वाचक होते हैं। यथा– "ॐ इद्र, आगच्छ, आगच्छ। ___ ॐ इंद्र देवाय स्वगणपरिवृत्ताय, इद अर्घ्यं, पाद्यं, जलं, गध, पुष्प, चरू, दीप, धूपं, फलं, बलिं, अक्षतं, स्वस्तिक, यज्ञभाग च। यजामहे, यजामहे। प्रतिगृह्यतां प्रतिगृह्यतामिति स्वाहा।"

अर्थ– "हे स्वगण परिवार सहित आए हुए इंद्र देव, पधारिये पधारिये। ___ देखिए, यह अर्घ्य है, यह जल है, यह गध है, यह पुष्प, चरु, दीप, धूप, फल, नैवेद्य, अक्षत आदि है, यह स्वस्तिकपात्र है और ये यज्ञभाग अर्थात्

जिनेंद्र भगवान है। हम इनकी पूजा कर रहे हैं, पूजा कर रहे हैं। आप भी इस पूजा द्रव्य को ग्रहण करो, ग्रहण करो।"

यहाँ एक बात और ध्यान में रखनी है कि, जो उतारा जाता है, उसको हाथ में नहीं दिया जाता। और जो द्रव्य हाथ में दिया जाता है उसको चढ़ाया नही जाता। अत: दिग्पालों को आमत्रण कारित या अनुमोदित स्वरूप ही समझना। आगे श्लोक नं. १०९ में भी कहा कि, "हे दिग्पालों ! आप हमारे साथ नाचो, गाओ, स्तुति करो, जिन वचनों का पाठ करो_ आदि।"

इसी कारण टीकाकार ब्रह्मश्रुतसागरजी को लिखना पड़ा कि, "इस दिग्पालों का पूजा करने का जो अन्यविधान मिथ्यादृष्टि जीवों से बताया जाता है वह प्रमाण नही है, यह स्पष्ट है।" (यथा - एतस्मादन्यद् मिथ्यादृष्टिकल्पितमपूर्वं दिग्पालार्चनविधान न प्रमाणमित्यर्थ: ।)

पडितजी ने सागार धर्मामृत में नैष्ठिक श्रावक के लिए 'परमेष्ठिपदैक धी·' यह जो लक्षण बताया है वह सार्थक ही है। उसमे इस क्रिया से कोई बाधा नही आती।

प्रश्न– पडितजी ने क्षेत्रपाल के पूजन का भी विधान किया है। सो कैसे ?

समाधान– उनके आवाहन आदि मंत्रों से ही उसका स्पष्टीकरण हो जाता है। यथा - "ॐ ओं -ह्री -ही, अभत्रस्थ क्षेत्रपाल ! आगच्छ आगच्छ, सवौषट्____इद जलाद्यर्चन गृहाण गृहाण स्वाहा।" यहाँ भी जलादिक पूजन सामग्री को ग्रहण करो ग्रहण करो, ऐसा ही कहा है। अर्थात उनको पूजा सामग्री देकर जिन पूजन की प्रेरणा ही की है।

उनके ऊपर तेल सिंदुर डालना एक प्रकार का सत्कार ही है। उनकी पूजा नही है। लघुस्नपन (धार) में तो पडितजी ने क्षेत्रपालादिक के पूजा (सत्कार) का उल्लेख भी नही किया है। उसके टीकाकार पं. भावशर्मा लिखते हैं – "अत्रकेचन क्षेत्रपालाव्हानमपि कुर्वन्ति, तन्न कोविदवृन्दवंद्यं, उद्देशपद्येऽनुदिष्टत्वात्। नागादिष्वन्तर्भावाद्वा। केचिद् ब्रह्मस्थाने-ब्रह्माहानमपि प्रतिपादयन्ति, तदपि न सतामानंदाय।"

अर्थ– यहाँ कोई क्षेत्रपाल को आव्हान करते है , किन्तु वे सम्यग्दृष्टि को बंध नही है । कोई क्षेत्रपाल मे ब्रह्मा की कल्पना करते हैं , उसका भी फल कोई सुखप्रद नही है ।

इससे स्पष्ट होता है कि पडितजी के जमाने मे दो तरह की पूजा पद्धति थी । जिनयज्ञकल्प के अध्याय एक के श्लोक १७५ में लिखा है कि "कुछ लोग जयादि अष्ट कुमारिकी स्थापना करते हैं , तथा वसुनदीसूत्र के जानकार उसकी उपेक्षा करते हैं ।" इससे पडितजी के समय प्रतिष्ठापद्धति भी दो तरह की होती थी । यह स्पष्ट होता है ।

प्रश्न– पडितजी तो मुमुक्षु थे , तब उन्होने दिग्पाल पूजन का कथन कैसे किया ?

उत्तर– दिग्पालो को आमत्रण याने उनका पूजन है, यह भ्रम अज्ञानजन्य है । दिग्पालो को लोक पाल भी कहते है । ये जिनपूजा के बहुत अनुरागी होते है । मानो एक अर्हद्भक्ति से ही ये एक भवावतारी होते है । ऐसे जिनभक्त तथा एकभवावतारी को जिनपूजा समय मे निमत्रण देने मे क्या दोष है ?

प्रश्न– सा ध मे पडितजी ने , "कोई पाक्षिक श्रावक प देवी , शासन देव आदि को भजता भी है ।" ऐसा लिखा है सो कैसे ?

उत्तर– सर्व सामान्य जनता व्यवहार प्रधान होती है । उनको पूजामहोत्सव, व्रतविधान , तीर्थयात्रा आदि मे अनुराग होता ही है । ऐसे व्यवहार सम्यग्दृष्टि जीवो के लिए प जी ने प्रकट रूप से शासनदेव पूजा का निषेध नही किया ।

जहाँ पडितजी , मद कषायी , अन्यधर्मीय जनता को श्रोता मानकर धर्म का उपदेश देते है , वहाँ जैनधर्मी बधु को मात्र शासन देव की पूजा करने के कारण कैसा निषेध करेगे ?

अत· माध्यस्थभाव रखकर धर्मोपदेश समय मे स्पष्ट किया कि सुदेव वीतराग , सर्वज्ञ ही होते हैं । ये शासनदेव सुदेव नही तो रागद्वेष से लिप्त ऐसे

कुदेव ही हैं। यथा— "कुदेवा: रुद्रादय : शासनदेवतादयश्च ।"

(अन. ध. ५२/८ की टीका) तथैव—

शासनदेवता यक्ष ही है , उनकी पूजा करने वाले अव्युत्पन्नदृश अर्थात् जिनको अभी सम्यग्दर्शन की प्राप्ति नही हुयी है , ऐसे मंदमिथ्यादृष्टि यदि ऐहिक फल प्राप्ति केंलिए आदिनाथ आदि चौबीस जिनेंद्र के चौबीस यक्षयक्षिणी को पूजना चाहते हैं तो , वे पूर्व में कहे हुए विधि के अनुसार ही आराधना करें। यथा—

> नाभेयाद्यपसव्य पार्श्वविहित न्यासांस्तदाराधका:,
> अव्युत्पन्नदृश: सदैहिक फल प्राप्तीच्छयार्चन्ति यान्।
> आमंत्र्य क्रमतो विवश्य विधिवत्पत्रांतरालेषु तान्,
> कृत्वारादधुना धिनोमि बलिभिर्यक्षांश्चतुर्विंशतिम् ॥ १२७/३

-- जिनयज्ञकल्प

३ - *जिनपूजा का मूल उद्देश्य*

श्रावको के नित्य षड़ावश्यकों में देव पूजा यह पहला आवश्यक है। इसकी पूर्ति के लिए देवदर्शन , अभिषेक , पूजन विधान , प्रतिष्ठा तथा तीर्थयात्रादि कार्य होते रहते हैं।

यह कार्य करने का मूल उद्देश्य क्या है ? इसका समाधान पं. आशाधर जी ने अनेक प्रसगों मे तथा विविध प्रकार से किया है। उसका सक्षिप्त सार इस प्रकार है—

'नित्यमहोद्योत' नाम के ग्रथ मे पंडितजी लिखते हैं—

> अर्वाग्दृशां जिन , भवद्वचनैक गम्यै: ।
> यज्ञोत्सवग्रह वशाद्बहिरुल्ल - सद्भि: ॥
> स्वस्मिन् प्रदेशपटलै: प्रभवन् करोमि।
> त्वां स्वस्य सन्निहित मर्पित मंत्र , यष्टुम् ॥ ७९ ॥

'हे मंत्र से आहूत जिनभगवन् , मिथ्यादृष्टि जीव भी जहाँ आपके पूजा महोत्सव में बाह्यतः महान् उल्लसित होते हैं , उस पूजा के द्वारा आपके अद्वितीय वचनों से ही जो गम्य है , उस रूप को आत्मप्रदेश समूहों के माध्यम से (एकाग्रचित्त से = आत्मानुभूति से) मैं आपको मुझमें मेरे सन्निहित करता हूँ ।" याने भगवान और भक्त में कथंचित सादृश्य मानना ही सच्ची स्थापना है । ये ही भाव प. जी ने अन्यत्र पूजा प्रस्तावना में भी प्रकट किये हैं । यथा–

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं ,
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगन्तुकामः ।
आलंबनानि विविधान्यवलम्ब्य वल्गन्
भूतार्थयज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥

'हे भगवन् ! आपके अनुरूप मेरे आत्मद्रव्य की (त्रैकालिक) शुद्धि को जानकर , पर्याय में भी अधिक शुद्धि व्यक्त होने की इच्छा करने वाला मैं , बाह्यत· विविध अवलबन लेकर वल्गना करता हुआ (याने बाह्य पूजा सामग्री से पूजा करता हुआ) निश्चय से पूज्य (आत्म) प्रभु की पूजा करता हूँ ।"

पूजा के माध्यम से पूज्य और पूजक में जो तन्मयता प्रकट होती है उसका यह प्रतिपादन है । यह आचार्य कुदकुद का ही अनुसरण है । यथा -

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्तपज्जयतेहिं ।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं ॥ ८० ॥ प्र. सा.

जो अरहत को द्रव्यत्व , गुणत्व और पर्याय के माध्यम से जानता है वह अपने को ही वैसा ही जानता है , और उसी का ही मोह दूर होता है ।

इसी प्रकार समाधिशतक मे भी उपरोक्त तत्वकाहि अनुचिंतन है । यथा–

यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।
अहमेव मयोपास्यो नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥

मुझे अन्य कोई उपास्य नहीं , मैं ही मेरा उपास्य हूँ। यह वस्तुस्थिति है। जिनपूजाप्रसंग में भी जिनदेशना का यथार्थ भान रक्खा गया है। द्रव्यानुयोग तथा चरणानुयोग एक ही मोक्षरथ के दो पहिये हैं। ये दोनों चक्र एक साथ चले तो ही मोक्षमार्ग में गमन-प्रगति संभव है। पं. जी तो स्वयं मुमुक्षु ही थे। वे जिन पूजा को ज्ञानयज्ञ ही कहते थे। यथा–

अर्हन् पुराणपुरुषोत्तम ! पावनानि।
वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव॥
अस्मिन् ज्वलद् विमल केवल बोधवन्हौ।
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि॥

'हे भगवन् ! इस दुनिया में यदि सबसे पावन वस्तु है तो वह सिर्फ आत्मा ही है। वह ज्ञानमय ही है। अत: इस प्रकट मात्र ज्ञानयज्ञ मे मैं समग्र पुण्य की आहूति देता हू।' याने पूजा के समय पुण्य को तुच्छ समझ कर तिलाजली देने की प्रेरणा की है। इससे पडितजी ने आत्मयज्ञ मे पुण्य की उपेक्षा ही कर निरीहवृत्ति धारण की तथा करायी है। क्योकि पुण्य को मोक्षमार्ग मे बाधक ही माना है। जिनपूजा याने आत्म स्वरूप का प्रभाव है यह भाव प्रदर्शित करते हुए वे लिखते हैं–

चिद्रूपं विश्वरूपं व्यतिकरितमनाद्यन्तमानंदसान्द्रं।
यत्प्राक्तैस्तैर्विवर्तैर्व्यवृत्त दधिपतद् दु:ख सौख्याभिमानै:॥
कर्मोद्रिकात्तदात्मप्रतिघमलभिदोभ्दिन्न नि: सीमतेज:।
प्रत्यासीदत्परौज: स्फुरदिह परमब्रह्म यज्ञेऽर्हमाव्हम्॥

'चैतन्य ही जिनका रूप है , जो नानात्व का अभाव करने वाला है याने स्वरूप से सदृश ही है अनादिकाल से अनंतकाल तक अखंड आनद का जो पिण्ड है , जो रूप भूतकालीन विकारों के कारण आच्छादा हुआ था, तथा कर्मोदय की तीव्रता के कारण सुख दु:ख के अभिमान से जिसका अधिपतन होता था , वही आत्मा घातियाकर्मों का नाश होने के कारण सीमातीत तेज को धारण कर अपने ज्ञानरूपी उत्कृष्ट ज्योति से स्फुरायमान (सर्वज्ञ) को मैं परमात्मापूजा के समय आव्हान करता हूँ।'

क्या यह शुद्धात्म स्वरूप का चिंतन नही है ? भक्त तथा भगवान के स्वरूप में जो सादृश्य है उसी का ही यह दिग्दर्शक है। यह आ. कुंदकुंद का ही अनुसरण है। यथा–

अरुहा सिद्धायरिया उवज्झाया साहु पंचपरमेष्ठी।
एदे चिट्ठई आदे तम्हा आदा हु मे सरणम्॥

अर्हंत-सिद्ध-आचार्य-उपाध्याय तथा साधु ये पाचों परमेष्ठी आत्मा ही है। अत आत्मा ही मेरा शरण है। सागार धर्मामृत के द्वितीय अध्याय मे जिन पूजा की महिमा गाते हुये पडितजी कहते हैं कि, जो ऐसी विशुद्ध भावना से भगवान की पूजाभक्ति करता है वह साक्षात् तीर्थंकर पद का बध बाधता है। यथा–

"भव्योऽर्चन् दृग्विशुद्धि प्रबलयतु यया कल्पते तत्पदाय॥" (३१/२)

इसी कारण पडितजी ने जिनबिंब , चैत्यालय , मठला पाठशाला स्वाध्यायशाला आदि बनवाने का उपदेश दिया है। आदि शब्द से धर्मशास्त्र भोजनशाला तथा औषधशाला का भी निर्माण का उपदेश दिया है।

पाठशाला तथा स्वाध्यायशाला का महत्व दर्शाते हुये पडितजी कहते है कि , जो भक्ति से श्रुताराधन करते है वे सच्ची जिनपूजा करते है। क्यो कि श्रुत और देव मे कोई अतर नही है। यथा–

'ये यजन्ते श्रुतं भक्त्या ते भजत्यंजसा जिनं।
न किंचिदंतरं प्राहुराप्ता हि श्रुतदेवयो:॥ ४४/२ सा. ध

अभिषेक पाठ मे भी पडितजी ने श्रुताराधन के भावना का दिग्दर्शन किया है। **यथा जलाभिषेक –**

श्रीमभ्दि सुरसैर्निसर्ग विमलै. पुण्याशयाभ्याहृतै: ।...........
प्राणोपमै. प्राणी नां ।...................
तोयै जैनवचोऽमृतातिशयभि· संस्नापयामो जिनम्.॥

अमृत स्वरूप जैन वचनरूपी पाणी से मैं जिनेद्र का अभिषेक करता हूँ। तथैव **इक्षुरसाभिषेक में–**

सुस्निग्धैर्नवनालिकेरफल जै.....

पीयूषद्रवसन्निभैर्वररसैः संज्ञान संप्राप्तये।
सुस्वादैरमलैरलं जिनविभुंभक्त्यानघं स्नापये॥

सुस्वादु, निर्मल_ऐसे अमृतस्वरूप रसों के द्वारा सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति के लिये जिनविभु का मैं भक्तिपूर्वक अभिषेक करता हूँ।

प्रश्न– पं. आशाधर जी ने तो श्रुताभिषेक तथा महर्षि अभिषेक का भी उपदेश दिया है। क्या वह उपयुक्त है ?

समाधान– श्रुतस्कन्धयंत्र का अभिषेक श्रुताभिषेक कहलाता है। तथा गुरुपादुका का प्रक्षाल ही महर्षि अभिषेक होता है। शास्त्रजी का या प्रत्यक्ष गुरु का अभिषेक का कही भी विधान नही है। उसमे प. जी ने समय सूचकता का ही परिचय दिया है। यथा— **श्रुताभिषेक –**

केवलज्ञानजन्मानं गणेंद्रकथितां लिपौ।
सूरिभि. स्थापितां जैनी वाचं सिंचे वराम्बुभिः॥

केवलज्ञानी से जिसका जन्म हुआ, गणधर देवों ने जिसका कथन किया और आचार्यो उपाध्याय तथा विद्वान साधु के द्वारा जिसको लिपिबद्ध किया गया उस जिनेद्रवाणी के लिये मै श्रेष्ठ जलधारा देता हूँ। तथैव **महर्षि अभिषेक** में–

सर्वज्ञ ध्वनि जन्योद्यमत्यद्भूत श्रुताश्रियः।
गणेशस्य क्रमौ तीर्थपाथोभिः क्षालयाम्यहम्॥

सर्वज्ञवाणी से उत्पन्न ऐसे अद्भूत श्रुत का ही आश्रय लेने वाले याने मात्र ज्ञान-ध्यान रत ऐसे आचार्यो के दो चरण मै धोता हूँ। याने महर्षि के दो चरण को धोना ही सच्चा महर्षि अभिषेक है।

इस तरह जिनपूजा और ज्ञान विकास याने सही जीवन विकास का अविनाभावी सबध है यह सिद्ध किया है। जिनपूजा से स्वात्मानदरस उछलता है वही अरहंतादि की भक्ति-पूजा ससार दुःख का नाश करने वाली है। ऐसी निर्दोष भावना से संपन्न अर्हद्भक्ति से ही यदि तीर्थंकर प्रकृति का बध हो तो उसमें क्या आश्चर्य है ?

अन. धर्मामृत के द्वितीय अध्याय के प्रारंभ में ही पंडितजी ने एक महत्व की सूचना दी है कि मुमुक्षु को सदा छह अनायतनों से दूर रहना चाहिए। तथा मोह और अज्ञान से दूर रहना चाहिए। मुमुक्षुजन, उस द्रव्यक्षेत्र , काल , भाव रूप सामग्री को सदा दूर रखे , जो मनुष्यों की दुर्गति के निर्माण करने मे मोहरूपी शत्रु की कुलदेवता है। यथा–

दवयन्तु सदा सन्तस्तां द्रव्यादिचतुष्टयीं।
पुंसां दुर्गतिसर्गे या मोहारेः कुलदेवता॥ २॥ २

ध्यान रहे कि ये अरहतादिक या प्रतिमादिक परद्रव्य ही है। वे हमारे कल्याण करने वाले नही है। उनसे हमारा कल्याण होगा यह मान्यता मोह शत्रु की कुल देवता है। इससे दुर्गति का ही बंध होगा। अत: जैसे भगवान वीतराग और सर्वज्ञ है , उसी प्रकार वीतराग भावना से तथा सर्वज्ञ बनने की प्रेरणा पाई गयी है। चारित्र प्राप्ति के समय भी अपने आत्मा को भगवान का रूप जानने की प्रक्रिया पंडितजी ने अनगार धर्मामृत के ज्ञानदीपिका टीका में इस प्रकार दर्शायी है– "ततः सर्वसावद्ययोगप्रत्याख्यानलक्षणैक महाव्रतश्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भगवन्तमात्मान जानन् सामायिकमध्यारोहति। ततः प्रतिक्रमणालोचन प्रत्याख्यान लक्षणक्रिया श्रवणात्मना श्रुतज्ञानेन समये भगवन्तमात्मान जानन् सामायिकमध्यारोहति।______ ॥"

"आगे, सभी पाप क्रियाओं का त्याग एक ही लक्षण है जिसका उस महाव्रत को सुनना , जानना और (मानना) रूप जो श्रुतज्ञान है उसके द्वारा अपने को भगवन्त रूप मानने वाला ही सामायिक चारित्र का धारी होता है और प्रतिक्रमण , आलोचना , प्रत्याख्यानस्वरूप बाह्य क्रिया को धारणरूप श्रुतज्ञान के द्वारा अपने को शुद्ध भगवान ही जानना सामायिक चरित्र मे आरोहण है।"

तात्पर्य है कि केवल बाह्य क्रिया चारित्र नही है। चारित्र ज्ञानरूप ही होता है , अत अज्ञान का याने विकारीभावों का त्याग ही सम्यक्चारित्र है। उसे ज्ञानरूप कहो या आत्मरूप कहो एक ही अर्थ है। ज्ञानाराधना क्या ज्ञानाचार नही है ? और ज्ञानाचार क्या चारित्र रूप नही है ? अत: जिनपूजा कहो , श्रुताराधना कहो या चारित्र कहो एक ही अर्थ के द्योतक समझना चाहिए।

बृहत्स्नपन में आचार्य गुणभद्र कहते हैं—

नागेंद्राः सूर्यचंद्राः स्वगणपरिवृता व्यंतरा ये च यक्षाः।
लोकान्ते ये सुरेशा जिनमहिमविधौ भक्ति नम्रोत्तमांगाः॥
पाताले ये भुजंगाः स्फुटमणिकिरणा ध्वस्तमोहान्धकारा।
मोक्षाग्रद्वारभूतं जिनवरवचनं श्रोतुमायान्तु सर्वे॥ ६१॥

आत्मसिद्धि ग्रन्थ में श्रीमद् राजचन्दजी कहते हैं --

ज्ञानदशा पायी नहीं, साधन दशा न कोय।
जो संगति परकी लहे, भव में डूबे सोय॥ ३०॥

४ - पंचामृताभिषेक

जिनप्रतिमा को मात्र जल से न्हवण करना 'प्रक्षाल' कहलाता है। दसदिग्पाल, क्षेत्रपाल के आव्हान रहित पंच रसों का न्हवण 'धार' कहलाता है तथा दिग्पाल, क्षेत्रपालो के आव्हाण के साथ पच रसों से न्हवण 'अभिषेक' कहलाता है। पं. आशाधरजी के पूर्व पाचसो वर्षों से ये तीनों पूजापद्धति प्रचलित थी। जिनकी जैसी मान्यता या समय हो वैसी क्रिया वह करता था। कोई भी विवक्षित एक ही विधि का आग्रह नही करता था। न कोई किसी क्रिया का निषेध करता था।

किन्तु जब किसी पूजा पद्धति का अति आग्रह होता है तो उससे घृणा होना स्वाभाविक है और जब किसी से घृणा हो जाती है तो उसका निषेध या विरोध भी होता ही है। साथ में आपसी मतभेद होने का डर भी रहता है। अत: पडितजी ने बड़ी युक्ति से काम लिया। इस पचामृताभिषेक के पद्यों को अध्यात्ममय बना दिया। इससे उस क्रिया में हटाग्रह का भाव नही रहा और मूल धर्मसाधना की उद्देश्य पूर्ति भी होती रही। इसी कारण पं. जी को पचकल्याण, वेदी प्रतिष्ठा, पूजा विधान, व्रत उद्यापन, वास्तुशांति, ग्रहशांति आदि अनेक प्रसंगो में बुलाया जाता था, और वे विधान पडित भी कहलाते थे।

प्रश्न— आज विज्ञान ने यह सिद्ध किया है कि बेक्टेरिया जाति के जीवाणु उत्पन्न हुए बिना दही जम नहीं सकता। ऐसे जीवाणु युक्त द्रव्यों से जिनेंद्रभगवान का न्हवण करने से क्या पुण्यबंध होगा ? तथा इन पंचरसों के कारण ही चीटियाँ आदि अन्य जीवजन्तु वहाँ आते हैं। इनका भी घात उस निमित्त से होता है, तो क्या उससे पापबंध नही होता होगा ?

समाधान- धर्म प्रवृति में शालेय विज्ञान का कथन प्रमाण नही है , उसी प्रकार श्रावकों का जीवन प्राय: आरभादिक हिंसासहित ही होता है। उससे जितना बचे उतना अच्छा ही है। किंतु कोई यह कार्य करे इतने मात्र से निषेध होना योग्य नही है। जिसने जिस पदार्थ का सेवन का त्याग ही कर दिया है उसने यदि इस पूजाके निमित्त उन पदार्थो का उपयोग किया तो वह दोषास्पद ही है। जैसे-- उपवास के दिन खुद का उबटण , मालाधारण , तेल लगाना आदि का जहाँ निषेध है , वहाँ भगवान के लिए उन पदार्थों का उपयोग कैसे सभव होगा ? यहाँ इतना समझना कि ये बाह्य क्रिया धर्म नही है। इसलिए अभिषेक आदि क्रिया सावधानता पूर्वक ही करने का सर्वत्र उपदेश है। तथैव यदि कोई न भी करे तो, हटवादी नही होना चाहिये।

प्रश्न- प आशाधर जी क्या पचामृताभिषेक के मूल उपदेशक थे ?

समाधान- नही। उनकी दृष्टि मे तो उसी क्रिया के माध्यम से तत्वदृष्टि और तत्वज्ञान ही मुख्य रहा है। अत जिस क्रिया के लिए श्रावक लोग एकत्र होते हैं उसका लाभ लेकर वे अध्यात्म का ही उपदेश देते थे। यह हमने पिछले प्रकरण मे सिद्ध ही किया है। पूजा पाठो का उल्लेख चरणानुयोग मे होता है, और चरणानुयोग व्यवहार प्रधान होता है। यथा--

"वहाँ व्यवहार उपदेश मे तो बाह्य क्रियाओ की ही प्रधानता है। उनके उपदेश से जीव पाप क्रिया छोड़कर पुण्य क्रियाओं मे प्रवर्तता है। वहाँ क्रिया के अनुसार परिणाम भी तीव्र कषाय छोड़कर कुछ मद कषायी हो जाते हैं। सो मुख्य रूप से तो इस प्रकार है परतु किसी के न होवे तो मत होवो, श्री गुरु तो परिणाम सुधारने के अर्थ बाह्यक्रियाओ का उपदेश देते हैं।" (मो. प्र. २७९)

प्रश्न- ऐसे पूजादि से हिंसा तो होती ही है। क्या उससे बुरा नही होगा ?

समाधान- "जो जीव पूजनादि कार्यों द्वारा किंचित् हिंसा लगाता है , और बहुत पुण्य उपजाता है , वह जीव इस उपदेश से पूजनादि कार्य छोड़ दे और हिंसारहित सामायिकादि धर्म में लगे नही , तब उनका तो बुरा ही होगा।" (मो. प्र. ३००)

गुणभद्र के आत्मानुशासन का तो बहुत आदर या प्रचार हो और उनके ही जिनदत्तचरित में आये दुग्धाभिषेक का निषेध हो , या सोमदेवाचार्य के उपासकाध्ययन में आये समयसार पोषक तत्वज्ञान का तो आदर हो और पूजा पाठ प्रकरण में आये पंचामृताभिषेक का निषेध हो यह कैसे संभव है ?

"इसलिए जो उपदेश हो उसे सर्वथा नही जान लेना। उपदेश के अर्थ को जानकर वहाँ इतना विचार करना कि , यह उपदेश किस प्रकार है, किस प्रयोजन सहित है , किस जीव को कार्यकारी है ? इत्यादि विचार करके उसका यथार्थ अर्थग्रहण करें पश्चात अपनी दशा देखें , जो उपदेश जिस प्रकार अपने को कार्यकारी हो , उसे उसी प्रकार आप अंगीकार करें और जो उपदेश जानने योग्य हो तो उसे यथार्थ जान लें।" (मो प्र. ३०१)

"तथा जिनमत के बहुत शास्त्र हैं , उनकी आम्नाय मिलाना जो कथन परपरा आम्नाय से मिले उस कथन को प्रमाण करना , इस प्रकार विचार करने पर भी सत्य असत्य का निर्णय न हो तो , 'जैसे केवलि को भासित हुआ है वैसे प्रमाण है' ऐसा मान लेना। क्यों कि देवादिक का और तत्त्वों का निर्धार हुये बिना तो मोक्ष मार्ग होता नही है। उसका तो निर्धार भी हो सकता है। इस लिये कोई उनका स्वरूप विरुद्ध कहे तो आप ही को भासित हो जायेगा। तथा अन्य कथन का निर्धार न हो या सशयादि रहे या अन्यथा भी जान पणा हो जाये और 'केवलि का कहा प्रमाण है' ऐसा श्रद्धान रहे , तो मोक्षमार्ग में विघ्न नही है ऐसा जानना।" (मो. प्र. ३०३)

अत: मात्र दूध दही से अभिषेक करने वाले को मिथ्यादृष्टि या पापी सबोध कर उनका निषेध करना आगम विरुद्ध है। जो दूध दही से अभिषेक करना नही चाहते उनको जबरदस्ती से अभिषेक करवाना जितना गलत है उतना ही करने वाले का निषेध होना भी गलत है। क्यों कि - 'भावो हि पुण्याय मत. शुभ: पापाय चाशुभ:।' शुभभाव पुण्यबंध का कारण है और अशुभभाव पापबंध का कारण है। दूसरों का निषेध करने के तथा किसी पर बलजोरी करने के दोनों ही भाव सर्वथा अशुभ ही है।

पंडितजी ने यह अनेक बार स्पष्ट किया है कि रूढी या बाह्यक्रिया यह सच्ची जिनपूजा नही है। अशुभ से बचने के लिए तो जिनपूजा, स्वाध्याय, ध्यानादि कहे हैं। ये तीनों परस्पर पूरक हैं। अत: जिनपूजा हो और स्वाध्याय ध्यानादि न हो तो वह जिनपूजा ही नही है। जिनपूजा का मूल उद्देश्य ही स्वाध्याय ध्यानादि में प्रवृत्त करना है। अत: स्वाध्याय ध्यानादि के बिना मात्र जिनपूजा हो नही सकती। इसी कारण पडितजी ने सा. धर्मामृत के द्वितीय अध्याय में चैत्यालय के साथ ही पाठशाला और स्वाध्यायशाला निर्माण करने की तथा साधुभक्ति दानमानादि करने की प्रेरणा दी है।

अतएव भिन्न पूजा पद्धति से समाज मे द्वंद निर्माण करना या पंथभेद बतलाना उचित नही है। इसकी पुष्टि हेतु पडितजी ने सो उपासकाध्ययन का श्लोक न ४७५ को उद्धृत किया है। यथा–

एतद्विधिर्न धर्माय नाधर्माय तदक्रिया।
दर्भपुष्पाक्षत श्रोतृवन्दनादिविधानवत्॥

दर्भ, पुष्प, अक्षत, श्रोतृवन्दना आदि क्रिया करने या होने रूप लोकाचार या रुढ़ीवश होने वाली क्रिया से न धर्म होता है, और वह न करने से अधर्म भी नही होता।

इसमे पडितजी के अनाग्रहीवृत्तिका ही दर्शन होता है। इसी कारण सभी श्रोतागण उनको चाहते थे। पडितजी ने श्रोता के चार भेद कर उसमें दो को ही उपदेश देना चाहिए ऐसा कहा है। यथा–

श्रोतृणां चातुर्विध्याद् द्वयोरेव प्रतिपाद्यत्वं दृढ़यति –
अव्युत्पन्नमनुप्रविश्य तदभिप्रायं प्रलोभ्याप्यलम्,
कारूण्यात्प्रतिपादयन्ति सुधियो धर्मं सदा शर्मदम्।
संदिग्धं पुनरन्तमेत्य विनयात्पृच्छन्तमिच्छावशा।
न्न व्युत्पन्नविपर्ययाकुलमती व्युत्पत्त्यनार्थित्वतः ॥ १७॥

अर्थ– श्रोता चार प्रकार के होते हैं। (१) अव्युत्पन्न (२) संदिग्ध (३) व्युत्पन्न (४) विपर्यस्त। प्रवक्ता आचार्य, धर्म के स्वरूप से अनजान अव्युत्पन्न

श्रोता को, उसके अभिप्राय के अनुसार धर्म से मिलने वाले लाभ , पूजा आदि का प्रलोभन देकर भी कृपाभाव से सदा सुखदायी धर्म का उपदेश देते हैं। तथा धर्म के विषय में संदिग्ध (जिज्ञासु) श्रोता विनयपूर्वक समीप में आकर पूछता है कि, तत्त्व ऐसे ही है या अन्य प्रकार से है ? तो उसको समझाने की भावना से धर्म का उपदेश देते हैं। उसकी जिज्ञासा पूरी करके उसको धर्म में लगाते हैं। व्युत्पन्न श्रोता तो धर्म का जानकार ही है , उसे और क्या समझाये ? तथा जो विपर्यस्त श्रोता होता है उसकी मति विपरीत है , वह शास्त्रोक्त धर्म का अन्यथा समर्थन करने के लिए कटिबद्ध है , ऐसे विपर्यस्तश्रोता को भी उपदेश देना समय बरबाद करना है।

यहाँ यह शंका होती है कि लौकिक फल की इच्छा से जिसकी मति दूषित है वह कैसे उपदेश का पात्र है ? इस आशंका के निराकरण हेतु दृष्टान्तद्वारा समझाते हैं –

य: श्रुणोति यथा धर्म मनु वृत्यस्तथैव स: ।
भजन् पथ्यमपथ्येन बाल: किं नानुमोदते ।। १७१/१

जो जिस प्रकार धर्म को सुनता है उसे उसी प्रकार धर्म सुनाना चाहिए। क्या अपथ्य के द्वारा पथ्य का सेवन करने वाले बालक की सब अनुमोदना नही करते हैं ?

विशेषार्थ– जैसे बालक रोग दूर करने के लिए कटुक औषधिका सेवन यदि नही करता तो माता-पिता मिठाई आदि का लालच देकर उसे कटुक औषधि खिलाते है। यद्यपि मिठाई उसके लिए हितकारी नही है तथापि जब बालक मिठाई के लोभ से कटुक औषधि खाता है तब माता-पिता उसकी प्रशंसा करते हैं कि 'बड़ा अच्छा लड़का है।' उसी प्रकार जो सांसाग्कि प्रलोभन के बिना धर्म की ओर आकृष्ट नही होते , उन्हें सांसारिक सुख का प्रलोभन देकर धर्म सुनाना बुरा नही है। यद्यपि सांसारिक सुख अहितकर है , किन्तु धर्म सुनने से वह उसे आगे अहितकर जानकर छोड़ सकेगा। इसी भावना से ऐसा किया जाता है।

५ - पंथभेद का भ्रामक आधार तेरा या बीसपंथ

आशाधरजी के समय याने विक्रम की तेरहवी शताब्दी के अंततक एक ही पूजा पद्धति प्रचलित थी। समयानुसार पूजा विधि में कम ज्यादा आचरण चलता था। कोई किसी का विधि निषेध भी नही करता था। जो पद्धति जिसको रुचती वह उसका पालन करता था। सभी श्रावकगण एक ही मदिर में तथा एकही स्वाध्याय भवन मे जिनेन्द्र भगवान की और जिनवाणी की आराधना करते थे।

किंतु मूल सघ और काष्टासघ ऐसे भिन्न पूजा पद्धति का आभास निर्माण करने वाले सघभेद का बीजारोपण उस समय हो रहा था। इस सघ भेद का शिकार स्वय आशाधर जी को होना पड़ा था। पडितजी सहिष्णु, मुमुक्षु तथा दूर द्रष्टा पुरुष थे। इसलिए उन्होने सघभेद के प्रभाव को पचाकर समाज को एक अखड रखने में प्रेरित किया।

आगे चलकर यह स्थिति कायम नही रह सकी। सघभेद का परिणाम ही पथभेद के रूप मे फलित हुआ। पडितजी के करीबन ३५०/४०० वर्ष बाद बीसपथ या तेरापथ ऐसे दो प्रकार मे समाज विभक्त हुआ।

इस तेरा या बीस पथियो का विस्तृत विवरण डॉ हुकुमचद जी भारिल्ल ने 'पण्डित टोडरमल व्यक्तित्व और कर्तृत्व' इस ग्रन्थ मे पृष्ठ १७ से ३१ तक दिया है। उनका कहना है कि "उक्त तेरहपथ मे बाह्याचार की अपेक्षा आत्मशुद्धि पर विशेष बल दिया गया है तथा बिना आत्मज्ञान के बाह्य क्रियाकाण्ड व्यर्थ गाना गया। पूज्य के स्थान पर केवल पच परमेष्ठि को मान्य किया। पूजन मे शुद्ध जलाभिषेक व प्रासुक द्रव्यो को अपनाया। मूर्ति पर किसी प्रकार का लेप या पुष्पारोहण अमान्य ठहराया, क्योकि उससे वीतराग छवि मे दूषण लगता है।"

तेरह पथ की उत्पत्ति के बारे मे पण्डित टोडरमल के समकालीन व प्रमुख प्रतिद्वदी भट्टारकीय परपरा के टोडरमल के पोषक पण्डित बखतराम साह संवत् १८२१ मे लिखते है कि, यह पथ सबसे पहले वि. स. १६७३ मे आगरा मे

चला, श्वेतांबराचार्य मेघविजय (वि. की. अठारहवीं शती) ने वि. सं. १६८० में इसकी उत्पत्ति मानी है।" (वही २९)

डॉ. भारिल्लजी के कथनानुसार इस तेरहपंथ के पाँच अर्थ प्रचलित हैं। (१) जैनियों का आध्यात्मिक-मूलमार्ग याने आध्यात्मिक लोगों का पंथ (२) तेरह, लोगों से बना हुआ पंथ। (३) तेरा याने भगवान का कहा हुआ पंथ। (४) तेरा प्रकार के चारित्र के धारक ऐसे निर्ग्रन्थ गुरु को माने और परिग्रहधारी गुरु को न माने ऐसे गुरु की अपेक्षा पंथ। तथा (५) तेरह बातों का निषेध करने वाले का पंथ।

वे तेरह बातें ये हैं- (१) दस दिग्पालो को नही मानना (२) भट्टारकों को गुरु नही मानना। (३) भगवान के चरण पर चंदन का लेपन नही करना। (४) सचित फूल भगवान को नही चढ़ाना। (५) दीपक से पूजा नही करना। (६) आसिका नही लेना। (७) फूलमाल नही करना। (८) भगवान का पंचामृताभिषेक नही करना (९) रात मे पूजन नहीं करना (१०) शासनदेवी को नही पूजना। (११) राधा अन्न भगवान को नही चढ़ाना। (१२) हरे फलों को नहीं चढ़ाना। (१३) बैठकर पूजन नही करना। (वही २७)

ऊपर दिये पाँच लक्षण मे से पहले तीन लक्षण से पंथ भेद स्पष्ट नही होता। चौथे तथा पाँचवे लक्षण से पंथभेद का सच्चा कारण स्पष्ट होता है। पच परमेष्ठी में गर्भित आचार्य- उपाध्याय साधु परमेष्ठी को गुरु मानने में किसी जैन को बाधा नही है। अब सवाल है भट्टारकों को गुरु मानने का, तो शास्त्र की आज्ञा तेरा प्रकार के चारित्र के पालक को ही धर्म गुरु मानने की है। ये तो सवस्त्र रहते हैं, स्थावर आदि परिग्रह रखते हैं, बेपार भी करते हैं; अत ये निर्ग्रन्थ जैसे धर्मगुरु नही हैं। हाँ सप्त प्रतिमाधारी श्रावक जैसे शोभते हैं।

तेरा प्रकार के चारित्रधारी निर्ग्रन्थ गुरु ही तेरह पंथी है। उनके भक्तों को भी तेरह पथी कहना यह सच तो उपचार हुआ। अतः पं. आशाधर जी के कथनानुसार सभी निर्ग्रन्थ मुनिराज तेरहपन्थी और श्रावक बीसपथी ही है। यथा–

(१) ५ समिति + ५ इद्रियजय + ३ गुप्ति के पालक (प्र. सार गाथा २४०)

(२) ५ समिति + ५ महाव्रत + ३ गुप्ति के धारक (चा. भक्ति)

(३) ६ आवश्यक + ५ परमेष्ठिस्तव + नि.सही तथा असही क्रिया के धारक को तेरह पथी (निर्ग्रन्थ =मुनि) कहते हैं।

प्रश्न– यह तीसरा विकल्प कहाँ बताया है ?

समाधान– "आवश्यकानि षट् पंच परमेष्ठिनमस्क्रीयाः।

निःसही चासही साधो क्रियाः कृत्यास्त्रयोदश॥ अन. ध.१३०/८

इस प्रकार तेरापथ का अर्थ गुरु की अपेक्षा निश्चित होने पर श्रावक के पथ का श्रावक की अपेक्षा ही निर्णय करने के लिए आशाधर की धर्मामृत सूक्ति सहायक होती है, श्रावक बीस गुणो के धारक होते हैं अतः वे बीस पथी हैं। यथा–

सम्यक्त्वममलममलान्यनुगुणशिक्षाव्रतानि मरणान्ते।
सल्लेखना च विधिना पूर्णः सागार धर्मोऽयम्॥ १२/१ सा. ध.

अष्टाग सम्यग्दर्शन ८ + अनुव्रत ५ + गुणव्रत ३ + शिक्षाव्रत ४ = ऐसे आजन्म २० गुणों से युक्त रहना और मरण समय में सल्लेखना लेकर मुनिपद धारण करना यह ही पूर्ण सागार धर्म का संक्षिप्त सार है। याने आजीवन बीसपंथी और मरण समय मे तेरा पथी होना ही मनुष्यमात्र का कर्तव्य है।

इसको दूसरे शब्दो मे भी पडितजी ने ऐसे ही व्यक्त किया है –

"मूलोत्तरगुणनिष्ठा मधितिष्ठन् पंच गुरुपदशरण्यः।
दान यजन प्रधानो ज्ञान सुधां श्रावकः पिपासु स्यात्॥ १५/१ सा. ध.

८ मूलगुण + १२ उत्तर गुण के पालन मे तत्पर ऐसे पच परमेष्ठियों को ही शरण मानने वाले, उनकी पूजा भक्ति दान करने वाले स्वाध्याय प्रेमी ही श्रावक होते हैं।

समतभद्राचार्य ने भी श्रावक या सम्यग्दृष्टि के लिए २० पंथो की ही आवश्यकता बताई है। यथा–

श्रद्धानं परमार्थानामाप्तागमतपोभृताम्।
त्रीमूढापोढमष्टांगं सम्यग्दर्शनमस्मयम्॥ ४॥ र. श्रा.

आप्त-आगम-साधु का श्रद्धान १+ ३ मूढता रहितता + ८ अष्टांग सम्यग्दर्शन + ८ मदों से रहितता ऐसे बीसगुण के धारक मुमुक्षु या श्रावक ही सच्चे बीसपंथ के पालक हैं।

इस प्रकार तेरा या बीस संख्या का स्वरूप स्पष्ट होने पर पांचवा जो लक्षण - 'तेरह बातों का निषेध करना ही तेरह पथ है।' इसको कोई महत्व नही रहता। जैसे चारित्र में अतिचार (दोष) लगते ही हैं वैसे कालदोष से बाह्यक्रियाओ में कुछ न्यूनाधिक होने से श्रावक का बीसपंथी कह कर उपहास करना उचित नही है। हां, **बीसपंथियों को भी बाह्य में अतिरेक टालना उचित ही होगा।**

चरणानुयोग के अनुसार चारित्र में प्रत्येक के लिए अलग अलग या न्यूनाधिक, यथा शक्ति पालन की विधि तो स्वीकार्य है। किंतु द्रव्यानुयोग की मान्यता सबके लिए एक सी ही होती है। उसमें कुछ भी न्यूनाधिक नहीं होता।

द्रव्यानुयोग का ज्ञान याने अध्यात्म को समझना ही सम्यग्ज्ञान है, उसका चिंतन ही स्वाध्याय है और द्रव्यानुयोग शून्य इतर अनुयोग का चिंतन स्वाध्याय तो नही पराध्याय ही है और आस्रव का कारण ही है। यथा - द्रव्यादिशुद्धा ह्यधितं शास्त्रं कर्मक्षयाय स्यादन्यथा कर्मबन्धाय इति भावः। (अन. ध. टीका)

अतः बाह्य क्रिया विधि में कुछ कम ज्यादा होने से पंथभेद बतलाना अनुचित ही है। क्योकि उन कम ज्यादा क्रिया से सम्यक्त्व में कोई बाधा नही आती। सोमदेवाचार्य कहते हैं कि जिससे सम्यक्त्व में बाधा न आय ऐसी सभी लौकिक क्रिया जैन को प्रमाण ही है। यथा–

सर्वमेव ही जैनानां प्रमाणं लौकिको विधिः।
यत्र न सम्यक्त्वहानिर्न यत्र व्रतदूषणम्॥

अत जहाँ सम्यक्त्व की हानि नही ऐसी कुछ कम ज्यादा क्रिया से जैनत्व का खडन नही होता। कुछ न्यूनाधिक क्रिया से अखड जैन समाज को खडित करना या उनमे भेद बतलाना मात्र अज्ञान का ही प्रदर्शन है।

प टोडरमलजी कहते हैं - "प्रथमानुयोग मे , उपचाररूप किसीधर्म का अग होने पर सपूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। जैसे ...तथा कोई भला आचरण होने पर सम्यक् चारित्र हुआ कहते है। वहाँ जिसने जैन धर्म अगीकार किया हो व कोई छोटी मोटी प्रतिज्ञा ग्रहण की हो, उसे श्रावक कहते हैं।" (मो. प्रा. २७३)

"तथा प्रथमानुयोग मे कोई धर्म बुद्धि से अनुचित भी कार्य करे , उसकी भी प्रशसा करते है। जैसे विष्णुकुमार ने मुनियो का उपसर्ग दूर किया , सो धर्मानुराग से किया। परतु मुनिपद छोडकर यह कार्य करना योग्य नही था ; क्यो कि ऐसा कार्य तो गृहस्थ धर्म मे सभव है और गृहस्थ धर्म से मुनि धर्म ऊँचा है , सो ऊँचा धर्म छोड़कर , नीचा धर्म अगीकार किया यह अयोग्य था। परतु वात्सल्य अग की प्रधानता से विष्णुकुमार जी की प्रशसा की है।" (मो प्र २७४)

इन दोनो उद्धरणो से यह स्पष्ट होता है कि , प टोडरमलजी भी किसी वैयक्तिक छोटी मोटी भूल से उसे दूषण देना नही चाहते थे और सपूर्ण जैन समाज़ को एक अखड रखना चाहते थे। तथा कोई छोटी मोटी प्रतिज्ञा करने वाले को भी 'श्रावक' कहकर पुकारते थे। सपूर्ण समाज पर उनका वात्सल्यभाव ही था। किसी से एकाद भूल भी हुयी , और उसने धर्मानुराग से कोई कार्य किया तो उससे उसका सन्मान करके वात्सल्य रखने की प्रेरणा देते थे। उनके समय तक भी तेरा और बीस का कोई प्रकट भेद नही था। उनके पुत्र गुमानी राम ने ही एक स्वतत्र पथ - 'गुमानी पथ' स्थापन करने की सूचना मिलती है। कितु आगे चलकर इसकी कोई परपरा भी नही चल सकी। हा , तबसे तेरा और बीस का भेद प्रकट हो गया।

इस बाबत प. आशाधर के विचार चिंतनीय है। यथा–

स्फुरत्येकोऽपि जैनत्वगुणो यत्र सतां मत:।
तत्राप्यजैनै: सत्पात्रैर्द्योत्यं खद्योतवद्रवौ ॥ ५२/२ सा. ध.

वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः ।
दलादि सिद्धान् कोऽन्वेति रससिद्धे प्रसेदिवु ॥ ५३/२
नामतः स्थापनातोऽपि जैनः पात्रायते तराम् ।
स लभ्यो द्रव्यतो धन्यैर्भावतस्तु महात्मभिः ॥ ५४/२
प्रतीत जैनत्व गुणेऽनुरज्यन्निर्व्याजमासंसृति सद्गुणानां ।
धुरि स्फुरन्नभ्युदयैरहप्त स्तृप्तस्त्रिलोकोतिलकत्वमेति ॥ ५५/२

अर्थ- "ज्ञान और तप से रहित किंतु जिनदेव ही मुझे शरण है ऐसी मान्यता वाला एक जैनत्वगुण जिसको है वह अनेक अजैन सत्पात्र से भी उचित अनुग्रह करने लायक है। एक भी जैन का उपकार करना श्रेयस्कर किन्तु हजारों अजैन को उपकृत करना हितकारक नही है। क्यों कि पारे से गरीबी, रोग, बुढापा आदि दूर कर सकने की शक्ति से युक्त पुरुष के प्रसन्न होने पर बनावटी सुवर्ण आदि बनाने वाले पुरुष को कौन पसद करेगा ?

अजैन पात्रो से नाम जैन तथा स्थापना जैन विशिष्ट पात्र ही है। द्रव्यजैन याने भविष्य मे सच्चे जैनत्व को प्रकट करने वाला तो पुण्यवानों को ही प्राप्त होता है और जिनको भावजैन पात्र मिले वे महात्मा ही है।

जिसका एक जैनत्वगुण प्रकट दिखता है ऐसे पुरुष में निश्छल अनुराग करने वाला व्यक्ति ससार पर्यंत अर्थात भवभवों में जैनत्वगुणवाले पुरुषों में अग्रणी होता हुआ, अनेक अभ्युदय से संपन्न, मदरहित, सतोषी होकर अन्त मे तीनो लोको के तिलकपनो को अर्थात परमपद को प्राप्त करता है।"

सपूर्ण जैन समाज के प्रति यह था पंडितजी का वात्सल्य भाव। इससे कभी कभी पडितजी पर प्रतिकूल प्रसंग भी आये। तो भी पंडितजी ने न कभी उसकी वाच्यता की, न कभी उन आत्मार्थी को दुर्वचन से दूषित किया। अतः सपूर्ण समाज के हित को दृष्टि में रखते हुए बाह्य क्रिया - आचरण को गौण करके सबके हित के लिए द्रव्यदृष्टि के उपदेश को प्राधान्य दिया जाय तो सम्यक्त्व में बाधा नही आयेगी और समाज की अखण्डता बनी रहेगी। सम्यक्त्व के लिए - "सात तत्व कहे, इनके यथार्थ श्रद्धान के आधीन मोक्षमार्ग है। इनके शिवाय औरों का श्रद्धान हो या न हो, या अन्यथा हो, किसी के आधीन मोक्षमार्ग नही है ऐसा जानना।" (मो. प्र. २१७)

इससे स्पष्ट है कि चरणानुयोग के भक्तिपूजन में कुछ न्यूनाधक होवे तो वह मोक्षमार्ग में बाधक नही है।

श्रवणबेलगोल शिलालेख नं. १०५ में लिखा है–

सिताम्बरादौ विपरीतरूपेऽखिले विसंघे वितनोतु भेदं।
तत्सेन - नंदि - त्रिदिवेश - सिंहसंघेषु यस्तं मनुते कुदृक्सः ॥ २७ ॥

भावार्थ– श्वेतांबरादि सपूर्ण विपरीत विरुद्ध सघो में भले ही भेद करो, (उनसे दूर रहो)। किंतु यदि सेनसंघ , नंदिसंघ , देवसघ , तथा सिंहसंघ इनमें जो वैसा ही भेदभाव रखेगा उसको मिथ्यादृष्टि जानना।

६ - *भावलिंगी मुनि की पहिचान*

जिन निर्ग्रन्थ गुरु के मान्यता के कारण तेरापंथ यह नाम पड़ा उनका स्वरूप या तेरह प्रकार के चारित्र का स्वरूप कथन करना , इस प्रकरण का उद्देश्य नही है। उसके लिये जिज्ञासु को प्रवचन सार का तीसरा अध्याय या प आशाधर जी के अनगारधर्मामृत का स्वाध्याय करना चाहिए।

यहाँ तो उन साधुसन्तो की पहिचान किस चिन्हो से होती है उसका दिग्दर्शन प जी के शब्दो मे करना है। **"सम्यग्तत्व की उत्पत्ति भावलिंग है और बाह्यत तदनुरूप त्याग होकर शरीर की दिगंबर अवस्था होना द्रव्यलिंग है।"**

अनगार धर्मामृत के पहले इष्टोपदेश की टीका बनी थी। उस टीका के समय इष्टोपदेशपर मानो उनका प्रवचन होता था जिज्ञासु थे सागरचद्र के शिष्य मुनि विनयचद्र उन्होने जिज्ञासा प्रगट की थी कि, सम्यक्त्व के अस्तित्व का क्या गमक है ?

समाधान करते हुए पडितजी ने कहा कि– "विषयो के प्रति अरुचि ही योगियो के सम्यक्त्व की गमक है।" यथा– विषयारुचिरेव योगिनः

स्वात्मसवित्तेर्गमिका ।' (इष्टोपदेश श्लोक ३७ टीका - येन येन प्रकारेण संवितौ उत्तमं विशुद्ध आत्मस्वरूपं समायाति ,तेन तेन प्रकारेण अनायास लभ्या अपि विषयाः न रोचन्ते । तत्वं भोग्यबुद्धिं नोत्पादयन्ति । अतो विषयारुचिरेव योगिनः स्वात्मसंवित्तेर्गमिका ।)

अब अन-धर्मा. लिखते समय भी उनके सामने वही सवाल आया था। यथा—"स्वपरगत सम्यक्त्व सद्भाव निर्णयः केन स्यात् ? (अपने और परके सम्यक्त्व के सद्भाव का निर्णय कैसे हो ? इत्याह—

तैः स्वसंविदितैः सूक्ष्मलोभान्ताः स्वांदृशं विदुः ।
प्रमत्तान्तान्यगां तज्ज वाक्चेष्टानुमितैः पुनः ॥ ५३/२ अन. ध.

अविरतसम्यग्दृष्टि से सूक्ष्मसांप्रराय गुणस्थान तकवाले जीव स्वसंवेदन से स्वय जिसका निर्णय किया ऐसे प्रशमादिकसे सम्यक्त्व का वेदन (अनुभवन) करते हैं। इसी तरह दूसरों की वाणी और कायचेष्टा, प्रशमादिक गुणही उनके सम्यक्त्व के होने में निर्णय देते हैं।

प्रशमादिना लक्षणमाह— (प्रशमादि गुणों का स्वरूप कहते हैं)

प्रशमो रागादिनां विगमोऽनंतानुबंधिनां संवेगः ।
भवभय मनुकंपाखिल सत्वकृपाऽस्तिक्यमखिल तत्त्वमतिः ॥ ८२/२

(१) अनतानुबधी रागादिका अभाव होना , दब जाना प्रशम है।

(२) ससार संबंध मे भीति निर्माण होना , वैराग्य होना सवेग है।

(३) अखिल प्राणिमात्र पर दयाभाव, करूणाभाव होना अनुकपा है।

(४) अखिल याने पूर्ण (सात यानव)तत्त्वों को जानना, मनन करना आस्तिक्य है। इनमें से एक या चारों भी लक्षण जहाँ हों वहाँ सम्यक्त्व के अस्तित्व का अनुमान किया जाता है। चाहे इसे व्यवहार सम्यग्दर्शन ही कहें। निश्चय सम्यग्दर्शन केवली ही जाने।

पडितजी अन. ध. श्लोक ४/अ. १ मे कहते हैं कि "हम उन धर्माचार्यों की स्तुति करते हैं कि जिन्होंने रत्नत्रय को स्वय धारण किया। और शिष्यों को भी धारण कराया।"(ये ग्राहयन्त्यु भयनीतिबलेन सूत्र रत्नत्रयप्रणयिनो गणिनः स्तुमस्तान्।) तथैव–

धर्म केऽपि विंदन्ति तत्रधुनते सन्देहमन्येऽपरे,
विष्वग्निर्जरयंच नंदति शुभैः सा नंदता देशना ॥ ५/१ अन. ध.

"धर्म के उपदेश को ही देशना कही, कि जिसे सुन अन्य श्रोतागण सन्देह को दूर करते हैं, –और जिस देशना के अनुग्रह से वक्ता तथा श्रोता अपने शुभपरिणामो से आगामी पापबन्ध को रोकता है और पूर्व उपार्जित कर्म की निर्जरा करता हुआ आनदित होता है, वह देशना फूले-फले उसकी खूब वृद्धि हो।" यथा–

सन्मूर्तिस्तीर्थ तत्त्व प्रणयन निपुण. प्राणदाज्ञोऽभिगम्यो,
निर्ग्रन्थाचार्यवर्य परहितनिरत सत्पथं शास्तु भव्यान्॥ ७/१

'जो प्रशस्तमूर्ति है, व्यवहार निश्चय नयरूप जो तीर्थतत्व उसके कथन करने मे जो निपुण है, जो सदा परोपकार मे लीन है, ऐसे श्रेष्ठ निर्ग्रन्थाचार्य भव्य जीवो को सन्मार्ग का उपदेश देवे।'

"आगे अध्यात्मरहस्यके ज्ञाता गुरु की सेवा मे मुमुक्षुओ को लगने की प्रेरणा देकर, उपदेशकाचार्य और अध्यात्मरहस्य के उपदेष्टा का लोक में प्रभाव फैले ऐसी आशा करते हैं।" –

स्वार्थैकमतयो भान्तु मा भान्तु घटदीपवत्।
परार्थे स्वार्थमतयो ब्रह्मवद् भान्त्वहर्दिवम् ॥ ११/१ अन. ध.

जिनकी मति परार्थ मे न होकर केवल स्वार्थ मे ही रहती है, वे घट मे रखे दीपक की तरह लोक मे चमके या न चमके, उनमे हमे कोई रुचि नही है। किन्तु जो स्वार्थ की तरह परार्थ मे भी तत्पर रहते है, वे ब्रह्म की तरह दिन रात प्रकाशमान रहे।

ऐसे आचार्यो मे पडितजी ने 'कुदकुदाचार्यादि' ऐसा जो नामोल्लेख किया है, उससे कुदकुदाचार्य के प्रति उनकी महान निष्ठा प्रदर्शित होती है।

इन विवेचनों से पंडितजी भावलिंगी मुनि का निर्णय किस तरह करते थे इसका ज्ञान होता है। इनकी सेवा-दान-मान आदि की प्रेरणा पंडितजी देते थे। यह स्पष्ट होता है।

पंडितजी पात्र के दो भेद करते हैं– धर्मपात्र और कार्यपात्र।

इनका यथायोग्य सन्मानादिक करने की प्रेरणा दी है। यथा–

धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये।
कार्यपात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्य माचरेत्॥ ५०/२ सा. ध.

महापुराण और उपासकाध्ययन का अध्ययन कर पंडितजी ने धर्मपात्र के पांच भेद बतलाये हैं। यथा–

समयिक- साधक- समयद्योतक - नैष्ठिक - गणाधिपान् धिनुयात्।
दानादिना यथोत्तर गुणरागात्सद्‌गृही नित्यम्॥ ५१/२ सा. ध.

(१) गृहस्थ हो या साधु जो जैनधर्म का अनुयायी है, उसे **समयी** या **समयिक** कहते हैं।

(२) जिनकी बुद्धि परोक्ष अर्थ को जानने में समर्थ है उन ज्योतिषशास्त्र मत्रशास्त्र , निमित्तशास्त्र के ज्ञाताओ को तथा प्रतिष्ठाशास्त्र के ज्ञाताओ को **साधक** कहते है।

(३) जो लोकज्ञता , तत्त्वज्ञता , कवित्त्व , आदि के द्वारा तथा शास्त्रार्थ , वक्तत्व, कौशल्य के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करते है, उनको **समयदीपक** या **समयद्योतक** कहते हैं।

(४) मूलगुण और उत्तरगुणो से युक्त तपस्वी- (साधु) को **नैष्ठिक** कहते है।

(५) जो ज्ञान तथा आचार मे चतुर्विधसघ के मुखिया होते हैं तथा संसार समुद्र से पार उतारने मे समर्थ होते हैं, उनको **आचार्य** या **गणाधिप** (प्रवर्तक) कहते है। सम्यग्दृष्टियों को इनका दानमानादिसे यथोचित (भक्ति भाव से) पूजन, सत्कार , विनय करना चाहिए।

प्रश्न– ऐसे धर्मपात्र कहाँ मिलते हैं? आज जहाँ भी देखो, उनमें कुछ दोष नजर आते ही हैं। तो क्या करना चाहिए?

समाधान– विनस्यैदं युगीनेषु प्रतीमासु जिनानिव।
भक्त्या पूर्वमुनीनर्चेत् कुतः श्रेयोऽतिचर्चिणां॥

जैसे प्रतिमामे जिनदेव की स्थापना करके पूजन करते हैं, उसी प्रकार इस युग के साधुओं में पूर्व मुनियों की स्थापना कर के भक्ति पूर्वक पूजा करें। कोरी चर्चा करने वाले का कल्याण कैसे हो सकता है ?

प्रश्न– पडितजी, यह तो बताइए कि, सम्यक्त्वको ही भाव लिग कैसे कहा ?

समाधान– "भावो हि पढम लिंगम्।",ऐसा कुदकुदाचार्य ने भावपाहुड़ मे गाथा २ मे कहा है। इसका अर्थ है- आत्माका शुद्धपरिणाम ही आत्मा का लिंग है। लिग का अर्थ है- चिन्ह, गमक, स्वरूप, धर्म। रत्नत्रय ही आत्मा का शुद्ध परिणाम है, उसे आत्मा का गमक कहो, स्वरूप कहो, धर्म कहो या मोक्षमार्ग कहो, एक ही अर्थ है। भावपाहुड़ के गाथा न. ६ मे रत्नत्रय को भावलिंग स्पष्ट कहा है और सम्यक्त्व के साथ सम्यग्ज्ञान, सम्यक् चारित्र अविनाभावी रहते हैं। अतः यहाँ सम्यक्त्व को भावलिंग कहा है।

प्रश्न– सम्यक्त्व को ही भाव लिंग माना जाय तो देश व्रत या सकलव्रतरूप जो परिणाम है उसका अभाव रहने पर भी उनको भावलिंगी मानना पड़ेगा। सो कैसे ?

समाधान– ये व्रतरूप परिणाम स्वरूपाचरणचारित्र में कितनी वृद्धि हुई उसकी मापक-गमक है। इन व्रतरूप परिणाम को प्रवृत्तिरूप होने के कारण शुद्धभाव न कहकर शुभभाव ही कहा है। तथा ये भाव, आत्मा के साथ कायम रहने वाले भी (त्रिकाली) भाव नही है। अत. आत्मा के चिन्ह कैसे हो सकते हैं ? इसी कारण यह विरतिरूप आत्मा का परिणाम भी भावलिग नही है। यथा-

सद्वृतं सर्वसावद्ययोग व्यावृत्तिरात्मनः।
गौणं स्याद्वृत्तरानंद सान्द्रा कर्मच्छिदाऽजंसा॥ ७०॥ अ. र.

सर्व पापों का त्यागरूप जो आत्मा का सदाचार है वह गौण अर्थात् व्यवहारचारित्र है और अखड आनंद में जो प्रवृत्ति-लीनता है वही निश्चय चारित्र है। इससे ही कर्मकच्छेद होता है।

मो. प्र. २२९-" हिंसादि सावद्ययोग के त्याग को चारित्र मानता है, वहाँ महाव्रतादिरूप शुभोपयोग को उपादेयपने से ग्राह्य मानता है। परन्तु तत्वार्थसूत्र में आस्रव पदार्थ का वर्णन करते हुए महाव्रत अणुव्रत को भी आस्रवरूप कहा है। वे उपादेय कैसे हो ? तथा आस्रव तो बंधका साधक है और चारित्र मोक्षका साधक है। इसलिये महाव्रतादिरूप आस्रवभावों के चारित्रपना संभव नही होता; सकल **कषायरहित जो उदासीनभाव उसी का नाम चारित्र है।** जो चारित्र मोह के देशघाती स्पर्द्धकों के मन्द उदय से प्रशस्त राग होता है, वह चारित्रका मल है। उसे छूटता न जानकर उसका त्याग नही करते, सावद्ययोग का ही त्याग करता है। परन्तु जैसे कोई पुरुष कन्दमूलादि बहुत दोषवाली हरितकाय का त्याग करता है और कितनी ही हरितकायों को भक्षण करता है, परन्तु उसे धर्म नही मानता; उसी प्रकार मुनि हिंसादि तीव्रकषायरूप भावों का त्याग करते हैं और कितने ही मन्दकषायरूप महाव्रतादि का पालन करते हैं, परन्तु उसे मोक्ष मार्ग नही मानते।"

"**प्रश्न**– यदि ऐसा है तो चारित्र के तेरह भेदों में महाव्रतादि कैसे कहे हैं? **समाधान**– वह व्यवहारचारित्र कहा है। और व्यवहार का नाम उपचार है। सो महाव्रतादि होने पर ही वीतरागचारित्र होता है - ऐसा सबध जानकर महाव्रतादि में चारित्र का उपचार किया है, निश्चय से नि:कषायभाव है वही सच्चा चारित्र है।"(वही)

प्रश्न– यदि ऐसा है तो, सभी निर्ग्रन्थ मुनि के चतुर्थ, पंचम या छष्ठमादि गुणस्थानवर्ती ऐसे भेद नही रहेंगे। सभी को भावलिंगी मानना पड़ेगा। किसी आचार्यो ने तो चतुर्थ तथा पचम गुणस्थानवर्ती मुनियो को स्पष्ट द्रव्यलिंगी कहा है। सो कैसे ?

समाधान– यह भेद कथन करणानुयोग प्रधान है। करणानुयोग, चारित्र में भेद प्रभेद मानता है। किन्तु अध्यात्मशास्त्र तो, मिथ्याचारित्र और सम्यक्चारित्र ये दो ही भेद स्वीकार करता है। जैसे - समयसार में ज्ञानगुण के ज्ञान और अज्ञान ये दो ही भेद बताये और अविरत सम्यग्दृष्टि से ऊपर के सभी को ज्ञानी ही बताया। वैसा ही अनंतानुबंधी कषाय को - राग को ही राग माना। उसका जहाँ अभाव है उसको आस्रव-बंध से मुक्त ही कहा। यथा–

रागो दोसो मोहो य आसवा णत्थि सम्मदिट्ठस्स।
तम्हा आसव भावेण विणा हेदू ण पच्चया होंति ॥ १७७ ॥ स. सार

सम्यग्दृष्टि को रागद्वेष और मोह ये आस्रव के भाव नही होते हैं , तथा इस आस्रवभाव के बिना जो प्रत्यय (रागद्वेष) हैं , वे बन्ध के हेतु नही है।

मात्र कुदकुदाचार्य ने ही ऐसा नही माना है , तो सूत्रकार गृद्धपिच्छ , पूज्यपाद , विद्यानदी , अमृतचद्राचार्य आदि सूत्र के टीकाकार आचार्य भी उसी मत के थे। अत उन्होने पुलाक , बकुश ऐसे चतुर्थ पंचम गुणस्थानवर्ती मुनि को भी भावलिंगी कहा है।

प्रश्न– पुलाक बकुशमुनि चतुर्थ पचम गुणस्थानवर्ती होते हैं , यह आपने कैसे जाना ?

समाधान– उनके कषाय , लेश्या तथा उपपाद का जो वर्णन आया है उससे इसका निर्णय होता है। यथा– (१) कषायकुशील मुनि का स्वरूप इस प्रकार है - 'वशीकृतान्य कषायोदया सज्वलनमात्रतत्रा कषायकुशील.।' जिन्होंने अन्य कषाय के उदय को जीत लिया है (अभाव किया है) तथा जिन का मात्र सज्वलन कषाय का उदय रहता है वे कषाय कुशील मुनि है। इसका स्पष्ट अर्थ यह हुआ कि पुलाक , बकुश तथा प्रतिसेवना कुशील मुनि को यथा सभव अप्रत्याख्यानावरण , प्रत्याख्यानावरण कषायो का उदय सभवनीय है।

(२) **लेश्या–** "पुलाकस्य उत्तरास्तिस्त्र·। बकुश प्रतिसेवना कुशीलयों: षडपि।" पुलाक मुनि को उत्तर तीन याने पीत , पद्म और शुक्ल ये तीन लेश्या रहती है। तथा बकुश , प्रतिसेवना कुशील मुनि को छह भी लेश्या हो सकती है।

प्रश्न– कृष्ण- नील- कपोत ये तीन लेश्या किसको होती है ?

उत्तर– "लेश्यानुवादेन-कृष्णनीलकपोतलेश्या मिथ्यादृष्टयादयोंऽसंयत-सम्यग्दृष्टयता· सामान्योक्त सख्या:। तेज पद्मलेश्या मिथ्यादृष्टयादय: सयता सयतान्ता: स्त्रीवेदवत्।" कृष्णनील और कापोतलेश्यावाले जीव मिथ्यादृष्टि से लेकर असंयत सम्यग्दृष्टि तक होते हैं ऐसा सामान्य कथन है। तथा पीत

पद्मलेश्या वाले जीव मिथ्यादृष्टि से संयतासंयत गुणस्थान तक होते हैं। स्त्रीवेद का उदयवाली द्रव्यस्त्री जैसा। (सा. ध. ज्ञा. टीका १२१) पर गाथा दी गई है—

षट् षट् चतुर्षु विज्ञेयास्तिस्त्रस्तिस्त्रः शुभास्त्रिषु।
शुक्ला गुणेषु षट्स्वेका लेश्या निर्लेश्यमंतिमम्॥

(३) उपपाद— "पुलाकस्योत्कृष्ट उपपादः उत्कृष्ट स्थितिदेवेषु सहस्त्रारे। बकुशप्रतिसेवना-कुशीलयोः द्वाविंशतिसागरोपमस्थितिषु आरणाच्युतकल्पयोः।" पुलाकमुनि का उत्कृष्ट उपपाद उत्कृष्ट स्थितिवाले सहस्त्रार (१२वें) स्वर्ग में होता है। बकुश, प्रतिसेवनाकुशील मुनि का उत्कृष्ट उपपाद आरण, अच्युत इस कल्प में याने १६ वें स्वर्ग में होता है।

छहढालाकार स्पष्ट कहते हैं कि, 'यों श्रावक व्रत पाल स्वर्ग सोलम उपजावे।' याने श्रावक के व्रत का पालन करके श्रावक सोलहवें स्वर्ग में उत्पन्न हो सकता है,और इन भावलिंगी मुनि का उत्कृष्ट उपपादभी १२ वें तथा सोलहवें स्वर्ग में ही बताया है। अतः इन मुनि का अंतरंग श्रावक जैसा ही परिणाम होगा।

जब पुलाक, बकुश मुनि के उत्तर गुणभावना ही नही होती तथा पुलाक के मूलगुण पालन में भी क्वचित कदाचित् विराधना संभव है, तब भी इनको स्पष्ट भावलिंगी ही कहा है। अतः जहाँ सम्यक्त्व, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र है वहाँ यदि निर्ग्रन्थ दशा है तो नियम से भावलिंग है, ऐसा समझना।

पुलाक शब्द का अर्थ है -भीतर से कीडो ने खाया हुआ (पोल किया हुवा) अनाज, मात्र बाहर से अच्छा दीखने वाला। और बकुश शब्द का अर्थ है— काई या शैवाल जैसे बाहर से भी सदोष दीखने वाला, तथा प्रतिसेवना का अर्थ - स्पष्ट ही है कि प्रतिसेवना अर्थात् विराधना करने वाला निरतिचार पालन न करने वाला।

शंका— शास्त्र में जो गुरु का स्वरूप कहा है उसमें ऐसे कथन से पूरी बाधा आयेगी और गुरु के लक्षण में कोई मेल नहीं बैठेगा।

समाधान— शास्त्र में जो गुरु का लक्षण कहा है वह खुद गुरु बनने वालों के लिये है। उस मापदण्ड से दूसरों की परीक्षा नहीं करनी चाहिए। तथा कभी

कही दोष दिखे तो उससे उनकी (गुरु की) निंदा नही करनी चाहिए। उनके साथ उपगूहन , स्थितिकरण , वात्सल्य की दृष्टि से ही व्यवहार होना चाहिए। यथा- "जैन शास्त्रों में अनेक उपदेश हैं , उन्हें जाने परन्तु ग्रहण उसी का करें जिनसे अपना विकार दूर हो जाये। तथा आप तो दोषवान है और इस उपदेश को ग्रहण करके गुणवान पुरुषों को नीच दिखलाये तो बुरा ही होगा। सर्व दोषमय होने से तो किंचित् दोषरूप होना तो बुरा नही है। **इसलिए तुझसे तो वह भला है।** _यदि गुणवान की किंचित् दोष होने पर भी निंदा है तो सर्व दोषरहित तो सिद्ध ही है , **निचली दशा में तो कोई गुण कोई दोष होता ही है।"** (मो. प्र. २७७)

इसी कारण प आशाधर जी ने पुलाक बकुश आदि पाचों मुनिराजों को परमऋषि कहा है। यथा—

सूत्रे पुलाकबकुशाः कथिताः कुशीलाः ,
निर्ग्रन्थनामकलिताः सकलावबोधाः।
ये स्नातकास्त इह पंचतयेऽप्यसंगाः,
स्वस्ति क्रियासुरसकृत्परमर्षयो नः ॥ २७ ॥ (स्वस्त्ययन स्तोत्र)

तत्त्वार्थ सूत्र मे (या शास्त्र में) पुलाक , बकुश , कुशील , निर्ग्रन्थ और स्नातक इन पाचो निर्ग्रन्थ का वर्णन किया हुआ है।

स्वरचित जिनसहस्रनाम स्तोत्र में प. जी ने पुलाक और बकुश की व्याख्या इस प्रकार दी है—

पुलाकः सर्वशास्त्रज्ञो , बकुशो भव्यबोधकः।
कुशीले स्तोकचारित्रं , निर्ग्रन्थो ग्रन्थहारक. ॥
स्नातक. केवलज्ञानी , शेषा सर्वे तपोधनाः।

सर्वशास्त्र के ज्ञाता को **पुलाक** कहते हैं ॥

भव्य जीवो को उपदेश देने वाले को **बकुश** कहते हैं।

थोड़े चारित्रधारी को **कुशील** कहते हैं।

अतरग बहिरग दोनों प्रकार के परिग्रह के त्यागी को **निर्ग्रन्थ** कहते हैं। केवलज्ञानी को **स्नातक** कहते हैं और शेष सभी तपस्वी हैं। ये सभी विनय के पात्र हैं।

वे सभी परमऋषि हमारा हमेशा कल्याण करें।

७ - द्रव्यलिंगी (श्रमणाभासी) मुनि के साथ हमारा कर्त्तव्य

जिनधर्मं जगद्बन्धुमनुबद्धुमपत्यवत्।
यतीन्जनयितुं यस्येत्तथोत्कर्षयितुं गुणैः ॥ ७१/२ सा. ध.

जगद्बंधु ऐसे जिनधर्म की परंपरा चलाने के लिए मुनि बनाना चाहिए तथा अपत्य जैसा उनके गुणों का विकास करना चाहिए।

प्रश्न– मुनि परंपरा चलाने के लिए किसी को मुनि दीक्षा दी और आगे चलकर उसमें मुनिव्रत पालने की क्षमता न रही तथा दोष लगते रहे तो ?

समाधान– उनमे दोष उत्पन्न होने पर गंभीर - धैर्यवान पुरुष को जिनशासन के अनुराग से उनकी रक्षा के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए। इसमें तो शुभ भाव ही है और वे पुण्य के कारण है। तथा उनको वैसा ही निराश्रित छोड़ने पर अशुभभाव होने पर पापबंध के ही कारण होते हैं। यथा–

भावो हि पुण्याय मतः शुभः पापाय चाशुभः।
तद् दुष्यन्तमतो रक्षेद्धीरः समयभक्तितः ॥ ६२/२ सा. ध.

प्रश्न– उनकी रक्षा के भाव शुभभाव है यह तो समझ में आता है किन्तु उनको वैसा ही छोड़ देने पर अशुभभाव कैसे होंगे ?

समाधान– गुरु की उपासना यह श्रावक का आवश्यक कर्त्तव्य है, उसमें प्रमादी होना, उनका निरादर करना या उनके गुणों का विकास में प्रयत्न न करना अशुभराग-प्रमाद ही है।

प्रश्न– गुरु की भक्ति में हम उनको शास्त्र जी भेट देते हैं यह ज्ञानदान हुआ, उनको रोगादि होने पर अस्पताल में मुफ्त औषधी की व्यवस्था कराते हैं या उन तक डॉक्टरों को लाकर औषधी दिलवाते हैं यह औषधदान हुआ। तथा उनके निवास के लिए वसतिकादि बनवाते हैं यह अभयदान हुआ। इतना करने पर भी हमारा राग अशुभ कैसा ?

समाधान– ये तीन दान तो आप देते हैं, किंतु एक दान और होता है उसका नाम आहारदान है। आप इसे क्यों नही करते हो ? इसके स्पष्टीकरण में ही ऊपर के तीन दान शुभ है या अशुभ इसका खुलासा हो जायेगा।

शिष्य– आहारदान देते समय नवधा भक्ति करना पड़ती है, और 'शुद्ध सम्यक्त्वी को मिथ्यादृष्टि की वंदना नहीं करनी चाहिए' ऐसा शास्त्र वचन है। **(भयाशास्नेह लोभाच्च कुदेवागमलिंगीनां। प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्धदृष्टयः ॥ र. श्रा)** इसलिए प्रथम उनकी परीक्षा करके ही हम आहारदान में प्रवृत्त होते हैं अन्यथा नही।

पंडितजी - मात्र आहारदान के लिए ही तपस्वी की परीक्षा क्यों कर रहे हो ? वे सत् हो या असत् (सम्यक्त्वी हो या मिथ्यादृष्टि) उनको आहारदान देने में ही श्रावकों का आचार शुद्धाचार कहा जायेगा। वे मिथ्यादृष्टि हो तो भी उनमें स्थापना या द्रव्यनिक्षेप से ये वर्तमान मुनि दानमानादि सर्व क्रिया के पात्र हैं। यथा– सा. ध. ज्ञा ६६/२ टीका–

भुक्तिमात्रप्रदाने तु का परीक्षा तपस्वीनां।
ते सन्तः सन्त्वसन्तो वा गृही दानेन शुद्धति॥
ते नामस्थापनाद्रव्यभाव न्यासैश्चतुर्विधाः।
भवन्ति मुनयो सर्वे दानमानादि कर्मसु॥ (मूल-सो. उपा.)

प्रश्न– प टोडरमल जी तो ऐसी स्थापना करने के अनुकूल नही है यथा- "यहाँ कोई कहे - ऐसे गुरु तो वर्तमान मे यहाँ नहीं हैं। इसलिए जिस प्रकार अर्हन्त की स्थापना प्रतिमा मे होती है, उसी प्रकार गुरुओ की स्थापना करें तो ?

उत्तर– जिस प्रकार राजा की स्थापना चित्रादिद्वारा करे तो वह राजा का प्रतिपक्षी नही है, और कोई सामान्य मनुष्य अपने को राजा मनाये तो राजा का प्रतिपक्षी होता है। उसी प्रकार अरहन्तादि की पाषाणादि में स्थापना बनाये तो उनका प्रतिपक्षी नही है, और कोई सामान्य मनुष्य अपने को मुनि मनाये तो वह मुनियों का प्रतिपक्षी हुआ। इस प्रकार भी स्थापना होती हो तो अपने को अरहन्त भी मनाओ और उनकी यदि स्थापना है तो बाह्य में तो वैसा ही होना चाहिए। परंतु वे निर्ग्रन्थ यह बहुत परिग्रह के धारी - यह कैसे बनता है ?" (मो. प्र. १८५) और आप स्थापना का समर्थन करते हो यह कैसे ?

समाधान- पं. टोडरमल जी ने वेषधारियों में अर्थात् वस्त्रधारियों में स्थापना का निषेध किया है। साथ में यह भी स्पष्ट किया है कि - 'यदि उनकी स्थापना है तो बाह्य में तो वैसा होना चाहिए।' इससे स्पष्ट है कि निर्ग्रन्थमुनि में चतुर्थ कालीन भावलिंगी मुनि की स्थापना हो सकती है।

तथा यह स्थापना निक्षेप और द्रव्यनिक्षेप भी भावनिक्षेप की तरह पूज्य ही होता है। यह रामजी भाई दोशी ने मोक्षशास्त्र की टीका में स्पष्ट किया है। (देखो, अ. १ सूत्र ५)

प्रश्न- धर्मपात्र के उत्तम, मध्यम, जघन्य ऐसे तीन ही भेद किये हैं। तथा इनको छोड़ अन्यको अपात्र कहा है। इन अपात्रों को दान देना व्यर्थ है (व्यर्थ स्त्वपात्रे व्यय:। सा. ध. ६७/२) अत: कुपात्र को दान देकर कुभोग भूमि में जन्म लेना तथा अन्य भी हीन फल प्राप्त करना क्या उचित है ?

समाधान- शास्त्र में जो फल विपरीतता बतायी है वह मिथ्यादृष्टि दाता की अपेक्षा से बतायी है। सम्यग्दृष्टि दाता तो नियम से स्वर्ग को ही जाता है। वहाँ भी कल्पवासी ही होता है। अत: मुनि को दान देने में संकोच नही करना चाहिए।

प्रश्न- शास्त्र में पात्र, अपात्र, कुपात्र का स्वरूप बताकर मात्र पात्रको ही दान देने की प्रेरणा की है। सो कैसे ?

समाधान- पात्र-अपात्र का निर्णय इसलिए कराया है कि दाता को भी आगे स्वयं पात्र बनना है। दान देते समय उत्तम, मध्यम जघन्य ऐसा व पात्र-अपात्र ऐसा भेद नही रखना चाहिए। हाँ उनके साथ होने वाली विधि में फरक होगा, किंतु देय द्रव्य मे फरक नही होगा। पंडितजी तो 'जहाँ एक भी जैनत्व स्फुरायमान हो, ऐसे अजैन को भी सत्पात्र कहते हैं' (सा. ध. ८२/२) वहाँ सात पीढी के दि. जैन कुल मे उत्पन्न होकर यथाशक्ति संयम का पालन करने वाले को अपात्र कैसे कहाँ जाय ? तथा जो कुलिंगी है, उसे ही अपात्र कहते हैं।

प्रश्न- शास्त्र में तो कुलिंगी के दान का निषेध है, और आप इनको दान देने की प्रेरणा दे रहे हैं, सो कैसे ?

समाधान- मुनिलिंग तो जिनलिंग अर्थात सुलिंग ही है। अतः इनके दान का कही निषेध भी नहीं है। प्रत्युत कुलिंगी को भी बिना भक्ति आहार आदि देने का विधान है। उसका ही नाम करुणादान है। हाँ, जहाँ दान का निषेध है वहाँ कुदान का ही निषेध समझना। प. जी देय द्रव्य का निर्णय कराते हैं-

तपः श्रुतोपयोगिनी निरवद्यानि भक्तितः।
मुनिभ्योऽन्नौषधावास पुस्तकादीनि कल्पयेत्॥६९/२ सा.ध.

जिससे नि· पाप भक्ति सिद्ध हो ऐसे निर्दोष अन्न, औषध, आवास तथा शास्त्र दानमे देना ही चाहिए।

प्रश्न- कुदान किसे कहते हैं ?

समाधान- जिस वस्तु के ग्रहण से पात्र वा कुपात्र को पापभाव उत्पन्न हो ऐसे भू-घर-लोहा (पेटी), गाय, घोडा, आदि (कन्या, स्त्री, सुवर्ण, धन (पैसा), दासी-दास, कपड़ा) इनका दान कभी मुनि को देना नही चाहिए। यथा-

हिंसार्थत्वान्न भूगेह लोहगोश्वादि नैष्ठिकः।
दद्यान्नग्रहसंक्रांति श्राद्धादौ च सुदृग्गृही॥ ५३/२ सा. ध.

इसी कारण ग्रह सक्राति तथा श्राद्धदान का भी सम्यग्दृष्टि को निषेध कराया है।

प्रश्न- प. टोडरमल जी सदोष मुनिदान को अज्ञान कहते है। यथा - "लोगो की अज्ञानता तो देखो, कोई एक छोटी सी प्रतिज्ञा भग करे उसे तो पापी कहते हैं, और ऐसी बड़ी प्रतिज्ञा भंग करते देख कर भी उन्हें गुरु मानते हैं। उनका मुनिवत सम्मानादि करते हैं। सो शास्त्र में कृत-कारित-अनुमोदना का फल समान कहा है। इसलिये उनको (दाता को) भी वैसा ही फल लगता है।" यह कैसा ?

समाधान- दान का उद्देश्य ही यदि मुनि को शिथिलाचारी बनाना यां उनके शिथिलाचार का पोषण होना, ऐसा हो तो ही दाता उस पाप के भागीदार होंगे। यहाँ मुनि को चतुर्विध जो दान दिया जाता है उसमें पाप की अनुमोदना नही है।

प्रश्न– हमने मुनि को आहार आदि देने से उनकी सदोष वृत्ति - पापवृत्ति भी चलती रहेगी। वह छुड़ाने के लिये तो उनको आहारादिक भी नही देना चाहिए।

उत्तर– यह सच है कि आपके आहार से जीवन में और भी पाप प्रवृत्ति चलती रहेगी। तो क्या उनको भूखा मारने से धर्म की प्रवृत्ति चलेगी? अरे, उनको तू सुधारने की चिंता क्यों करता है ? तू सम्यक्त्वी है ना ? फिर एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्ता-हर्ता नही है, यह सिद्धान्त स्मरण कर। 'माध्यस्थभावं विपरीतवृत्तौ' अर्थात विपरीत आचरण करने वालों के प्रति माध्यस्थभाव रखना यही तेरा धर्म है। यथा–

रे सुधारक, जगत की चिंता मत कर यार।
तेरे दिल में जग बसे, पहले उसे सुधार॥

प्रश्न– प टोडरमल जी कहते हैं - "हंसों का सद्भाव वर्तमान में कहा है, परन्तु हंस दिखायी नही देते तो, अन्य पक्षियों को तो हस माना नही जाता। उसी प्रकार वर्तमान मे मुनियों का सद्भाव कहा है, परन्तु मुनि दिखायी नही देते तो औरों को तो मुनि माना नही जा सकता।" (मो. प्र. १८४) और आप मुनि की स्थापनारूप से भक्ति करके, क्या पापरूप प्रवृत्ति का ही पोषण करना चाहते हो ?

उत्तर– नही, यहाँ पं. टोडरमलजी का स्थापना निक्षेप में विरोध नही है। हंस और बगुला दोनों में अतर जानकर हंस में ही हस की या चित्रादि में हस की स्थापना करना, बगुलादि अन्य पक्षी में नही करना, ऐसा स्पष्ट निर्देश उन्होने दिया है। क्यो कि उसका ज्ञान तो दाता को होना ही चाहिए, उसी प्रकार मुनिपद का ज्ञान भी दाता को होना जरूरी है।

प्रश्न– विधर्मी हस - परमहस साधु भी नग्न रहते हैं, तो क्या उनको मुनिमानकर दानमानादि करना योग्य है ?

उत्तर– नही, मात्र नग्नता मुनिपद का गमक नही है चर्या, उपदेश, तथा उपकरण भी उनके बाह्य गमक है। इसे जानकर इनका निर्णय हो सकता है। पीछी दया के तथा कमंडल शुद्धि का उपकरण है ये इन्ही के ही पास होते हैं।

प्रश्न– ऐसे में से कोई सात तत्त्व का विपरीत उपदेश देता हो तो वह प्रकट रूप से मिथ्यादृष्टि ही है। इनको गुरु मानकर आहारादि कैसे देवे ?

उत्तर– तत्त्व ज्ञान की सूक्ष्म बात किसी के ध्यान में न आये और उससे तत्त्व का उपदेश विरूद्ध हो सकता है। किन्तु मूल मे वह पाच या दस ऐसे तत्त्व का प्रतिपादन कर जिनरहस्य का खंडन नही करेगा। उनकी श्रद्धा यदि ऐसी रहे कि, जो जिनेंद्र देव का कहा है वही सत्य है तो, उससे इन को आज्ञा सम्यक्त्वी कह सकते हैं और यदि वे प्रकट मिथ्यादृष्टि है तो भी उनसे विपरीत आचरण करना योग्य नही है। यथा–

"प्रथमानुयोग मे उपचाररूप किसी धर्म का अग होने पर सपूर्ण धर्म हुआ कहते हैं। ____तथा कोई भला आचरण होने पर सम्यक्चारित्र हुआ कहते हैं। वहॉ जिसने जैन धर्म अगीकार किया हो, उसे श्रावक कहते है। ____तथा **जो सम्यक्त्वरहित मुनिर्लिग धारण करे व द्रव्य से भी कोई अतिचार लगाता हो उसे मुनि कहते हैं।** सो मुनि तो षष्ठादिगुणस्थानवर्ती होने पर होता है, परन्तु पूर्ववत उपचार से उसे मुनि कहा है। समवसरण सभा मे मुनियो की सख्या कही, वहा सर्व ही शुद्ध भावलिंगी मुनि नही थे। परन्तु मुनिलिग धारण करने से सभी को मुनि कहा है।" (मो. प्र. २७३)

देखिये, जहाँ देवोद्वारा समवसरण सभा मे द्रव्यलिंगी-भावलिंगी ऐसा भेद नही किया जाता है, वहॉ हम, अल्प अपथ्यसेवन करने वाले का अनादर कैसे करे ? प आशाधर जी कहते है - "भजन् पथ्यमपथ्येन बालः किं नानुमोद्यते ?" अर्थात् अपथ्य के साथ पथ्य का भी सेवन करने वाले बालक की क्या प्रशसा नही की जाती ? अत जिस प्रकार मुनि धर्म सुने उसी प्रकार उन्हे धर्म सुनाना चाहिए। इसके लिए उनसे वात्सल्य का बर्ताव करें।

प्रश्न– यह तो ठीक, किन्तु मुनि होने पर गुरु कुल के लिए दान का उपदेश देना या तीर्थ क्षेत्र के लिए दान की प्रेरणा करना क्या उचित है ?

उत्तर– यदि यह कार्य साधर्मी सबधी वात्सल्य भाव से या धर्मानुराग से किया जाता है तो प्रशसनीय ही है। यथा— "प्रथमानुयोग में - कोई धर्मबुद्धि

से अनुचित भी कार्य करे , उसकी भी प्रशंसा करते हैं । जैसे- विष्णुकुमार मुनि ने मुनियों का उपसर्ग दूर किया सो धर्मानुराग से किया । परंतु मुनिपद छोड़कर यह कार्य करना योग्य नही था । _परंतु वात्सल्य अंग की प्रधानता से विष्णुकुमार जी की प्रशंसा की जाती है ।" (मो. प्र. २७४)

.यहाँ तो मुनि चर्या का पालन करते हुए ही ज्ञान दान की या तीर्थ सुरक्षा. की प्रेरणा की जाती है । अतः मुनिपण की अपेक्षा गुरुकुल या तीर्थ क्षेत्र के लिये दान की प्रेरणा योग्य ही है तथा मात्र धर्मानुराग से वह कार्य होने से प्रशसनीय भी है ।

पडितजी सा. ध. ज्ञा. (१०४) टीका में लिखते हैं कि आर्षग्रंथ में पात्र - अपात्र का लक्षण जो राजर्षि भरत के लिये समझाया गया , उसका भी यहाँ विचार होना चाहिए । वह है–

जघन्यं शीलवान्मिथ्यादृष्टिश्च पुरुषो भवेत् ।
सद्दृष्टिर्मध्यमं पात्रं निःशीलव्रतभावनः ॥
सद्दृष्टिः शीलसंपन्नः पात्रमुत्तममिष्यते ।
कुदृष्टियों विशीलश्च नैव पात्रमसौ मतः ॥ (महापु. अ. २०-१४०, १४१)

"पात्र के तीन भेद हैं , उसमें मिथ्यादृष्टि किंतु शीलवान जघन्य पात्र है । व्रतशीलभावना से रहित किंतु सम्यग्दृष्टि मध्यमपात्र है । तथा सम्यग्दृष्टि और शीलसपन्न को उत्तमपात्र कहते हैं । किन्तु मिथ्यादृष्टि और शीलरहित पुरुष पात्र नही हो सकता ।"

प्रश्न– मिथ्यादृष्टि मुनि को आहारादि देने से क्या उनके पाप की अनुमोदना नही होगी ।

समाधान– नही , यदि इनको आहारादि देने मात्र से पाप की अनुमोदना का फल लगता हो तो करुणादान में , अपने आश्रित या निराश्रित , दीन-दरिद्री आदि को दान देने की प्रेरणा कैसे की जा सकती है ? अतः इस दान प्रवृत्ति मे पाप की कारित-अनुमोदित का भय नहीं करना चाहिये । मिथ्यादृष्टि गृहस्थ का भी हम जैसा उचित सन्मान करते हैं भोजनादि कराते हैं वहाँ मिथ्यादृष्टि

मुनि को भी आहारादि देने में संकोच नही होना चाहिये। यथा-"चरणानुयोग में व्यवहार-लोक प्रवृत्ति की अपेक्षा ही नामादिक होते हैं। जिस प्रकार सम्यक्त्वी को पात्र कहा तथा मिथ्यादृष्टि को अपात्र कहा, सो यहाँ जिसके जिनदेवादिक का श्रद्धान पाया जाये वह तो सम्यक्त्वी, जिसके उसका श्रद्धान नही है वह मिथ्यात्वी जानना क्योंकि दान देना चरणानुयोग में कहा है, इसलिए चरणानुयोग के ही अनुसार सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करना। करणानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व-मिथ्यात्व ग्रहण करने से वही जीव ग्यारहवे गुणस्थान में था और वही अतर्मुहूर्त मे पहले गुणस्थान मे आये तो वहा दातार पात्र अपात्र का कैसे निर्णय कर सके ? तथा द्रव्यानुयोग की अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व ग्रहण करने पर मुनिसघ मे द्रव्यलिगी भी है और भावलिंगी भी है। सो प्रथम तो उनका ठीक निर्णय होना कठिन है क्योकि बाह्य प्रवृत्ति समान है। तथा यदि कदाचित् सम्यक्त्वी के किसी बाह्य चिन्हद्वारा ठीक निर्णय हो जाये और वह उनकी भक्ति न करे तो औरो को सशय होगा कि, इनकी भक्ति क्यो नही की? इस प्रकार उसका मिथ्यादृष्टिपण प्रगट हो तब सघ मे विरोध उत्पन्न होगा। इसलिए यहाँ व्यवहार अपेक्षा सम्यक्त्व मिथ्यात्व का कथन जानना।" (मो. प्र. २८३)

यहाँ प. टोडरमलजी ने दो बाते स्पष्ट की है। (१) किसी का मिथ्यादृष्टिपणा प्रगट न करे। तथा (२) मिथ्यादृष्टि मुनि को भी नवधा भक्ति पूर्वक आहारादि देवे।

"यहाँ कोई प्रश्न करे- सम्यक्त्वी तो द्रव्यलिगी को अपने से हीनगुणयुक्त मानता है, वह उसकी भक्ति कैसे करे ?"

"**समाधान**– व्यवहार धर्म का साधन द्रव्यलिगी के बहुत है,और भक्ति करना भी व्यवहार ही है। इसलिए आप सम्यक्त्वगुण सहित है परतु जो व्यवहार धर्म में प्रधान हो उसे व्यवहारधर्म की अपेक्षा गुणाधिक मानकर उसकी भक्ति करता है, ऐसा जानना।"(मो. प्र. २८४)

प्रश्न– तो क्या आप वर्तमान मुनियों के मिथ्यात्व का तथा उनके शिथिलाचारका पोषण करना चाहते हो ?

उत्तर- नहीं, मैं जैसा उनके दोषों का पोषण नहीं करना चाहता; वैसे उनके दोषों का प्रदर्शन भी नही चाहता। श्रावकों की चर्या मुनि ने नही करना ऐसा चाहनेवाले श्रावक ही अपनी मर्यादा को लांघकर संघ प्रवर्तक या आचार्य बनना चाहे तो वह कैसा संभव है ? अत: पं. आशाधरजी ने सम्यक्त्वी के आठ अंगों में जो उपगूहण, स्थितिकरण , वात्सल्य तथा प्रभावना अंग का कथन किया है, उसका पालन करना-कराने की मात्र भावना रखता हूँ।

आइए , इन चार अंगों का स्वरूप उन्ही के शब्दों में पढिये-

"अनूपगूहणादिकारिणः सम्यक्त्ववैरिणः इत्याचष्टे-
यो दोषमुध्दावयति स्वयुथ्ये नयः प्रत्यवस्थापयतीममित्ये।
न योऽनुगृणह्णाति न दीनमेनं, मार्गं च यः प्लोशति दृग्विशस्ते ॥१०४/२
अन.ध.

उपगूहन आदि नही करने वाले सम्यक्त्व के वैरी है , ऐसा कहते हैं- जो साधर्मी में विद्यमान या अविद्यमान दोष को प्रकाशित करता है, जो सम्यग्दर्शनादि से चिगते हुये साधर्मी को पुन: उसी मे स्थापित नही करता , जो साधन से हीन-दीन साधर्मी को साधन सम्पन्न नही करता तथा जैसे मोक्ष मार्ग को उसकी महत्ता से भ्रष्ट करता है ये चारों सम्यक्त्व के विराधक है।"

पंडितजी स्वय इन अगों का स्पष्टीकरण करते है-

१) *उपगूहण*- धर्मं स्वबंधुमभिभूष्णुकषायरक्षः,
क्षेप्तुं क्षमादिपरमास्त्र पर : सदा स्यात्।
धर्मो पबृहणधियाऽबलिवालिशात्म-
यूथ्यात्ययं स्थगयितुं च जिनेंद्र भक्त : ॥१०५ /२
अन.ध.

अब गुणो के उत्पन्न करने का उपदेश देते हैं- उसमें प्रथम अंतर्वृत्ति और बहिर्वृत्तिरूप से दोनों प्रकार के उपगूहन को अनिवार्यत: पालन करने का उपदेश देते हैं- धर्म को बढ़ाने की भावना से मुमुक्षु को अपने बंधु के समान रत्नत्रयरूप धर्म की शक्ति को कुंठित करने वाले कषायरूपी राक्षसों का निग्रह करने के लिए सदा उत्तमक्षमादि दिव्य आयुधों से सुसज्जित होना चाहिये। उसके लिये अपने अशक्त तथा अज्ञानी साधर्मी जनों के दोषों को ढाँकने के लिये जिनेंद्र भक्त की तरह वर्तना चाहिये।

(२) अपना और दूसरो का स्थितिकरण करने की प्रेरणा करते हैं–

दैवप्रमादवशतः सुपथश्चलन्तं,
स्वंधारयेल्लघुविवेक सुहृद्दलेन।
तत्प्रच्युतं परमपि दृढयन्बहुत्वं,
स्याद्वारिषेणवदलं महतां महार्हः ॥१०६/२

दैव से या प्रमाद से सुपथ से चलयमान होने वाले को अपने युक्ता-युक्त विचार रूप मित्र की सहायता से शीघ्र ही सन्मार्ग मे स्थिर करना चाहिए। तथा पतित ऐसे दूसरों को भी सन्मार्ग में दृढ करने वाले वारिषेण की तरह पूज्य होते है।

(३) अतर तथा बाह्य वात्सल्य गुण की प्रेरणा–

धेनु. स्ववत्स इव रागरसादभीक्ष्ण,
दृष्टिं क्षिपेन्न मनसापि सहेत् क्षतिं च।
धर्मे स्वधर्मसु सुधीः कुशलाय बद्ध–
प्रेमानुबंधमथ विष्णुवदुत्सहेत ॥ १०७॥/२

गाय अपने बछड़े पर जैसे अखड अनुराग करती हुई दृष्टि रखती है, उसकी हानि मनसे भी नही सह सकती, उसी प्रकार अपने धर्म के या साधर्मी के कल्याण के लिए विष्णुकुमार मुनि. की तरह उत्साही होना चाहिए।

(४) प्रभावना का स्वरूप कहते हैं–

रत्नत्रयं परमधाम सदानुबध्दन्,
स्वस्य प्रभावमभितोऽभ्द्रूतमारभेत।
विद्यातपोयजन दानमुखावदानैः,
वज्रादिवज्जिनमत श्रियमुद्धरेच्च॥ १०८। २

परमधाम ऐसे रत्नत्रय धर्म का सदा पालन करते हुये आत्मप्रभाव सब तरफ से डालना चाहिये। उसके लिये वज्रकुमार मुनि की तरह विद्या (मंत्र) तप, जिन पूजा-विधान, चतुर्विधदान आदि कार्य की प्रमुखत्ता से अवलंब लेना चाहिये।

प्रश्न– इस मार्ग से अपने धर्म की वृद्धि करना अपने हाथ में है, उसे तो जरूर करना चाहिये। किन्तु इसी मार्ग से दूसरों के गुणों में कोई उन्नति नहीं देखी जाती। अत: उसके उत्पन्न करने का प्रयत्न क्या, निष्फल नहीं है?

समाधान– पंचमकाल के दोष से वा उनके पाप के उदय से मुनियों के गुणों में विशेषता लाने के प्रयत्न सफल नहीं होने पर भी प्रयत्नशील का कल्याण अवश्य होता है। यथा –

श्रेयो यत्नवतोऽस्त्येव कलिदोषाद्गुणद्युतौ।
असिद्धावपि तत्सिद्धौ स्वपरानुग्रहो महान्॥ ७२/२ सा. ध.

प्रश्न– क्या पं. आशाधर जी उस काल के मुनि को नमस्कार करते थे?

उत्तर– यद्यपि अन. ध. के द्वितीय अध्याय के टीका में पंडितजी ने कही कही मुनियो पर कठोर प्रहार किया है। तथापि उसी अध्याय में ऊपर लिखे अनुसार मृदुता भी लायी है। तथा आगे चतुर्थ अध्याय में पंडितजी ने स्पष्टतया उस युग के मुनि को नमस्कार भी किया है। यथा–

सर्वावद्यनिवृत्तिरूपमुपगुर्वादाय सामायिकं,
यश्छेदैर्विधिवद् व्रतादिभिरूपस्थाप्याऽन्यदन्वेत्यपि।
वृत्तं बाह्य उतान्तरे कथमपि छेदेऽप्युपस्थापय -
त्यैतिह्यानुगुणं धुरीणमिह नौम्यैदं युगीनेषु तं॥ १७६/४

इस भरत क्षेत्र के इस युग के साधुओं में अग्रणी उस साधुको मैं नमस्कार करता हूँ - उनका स्तवन करता हूँ।'

८ - पंचलब्धि और सम्यक्त्व के उत्पत्ति में चारों अनुयोगों का प्रभाव

अथ एवंविधतत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणस्य सामग्री विशेषं श्लोक द्वयेनाह–

दृष्टिघ्नसप्तक स्यान्तर्हेतावुपशमे क्षये।
क्षयोपशम आहोस्विभ्दव्य: कालादिलब्धि भाक्॥ ४६/२ अन. ध.
पूर्ण: संज्ञी निसर्गेण गृण्हात्यधिगमेन वा।
त्रयज्ञानशुध्दिदं तत्त्वश्रध्दानात्म सुदर्शनम्॥ ४७॥

दृष्टिघ्नसप्तकस्य-दृष्टिघ्नानि मिथ्यात्व , सम्यग्मिथ्यात्व , सम्यक्त्व अनंतानुबंधि क्रोधमानमायालोभाख्यानि कर्माणि। कालादिलब्धि भाक् - कालः आदि येषा वेदनाभि भवादिना ते कालादयस्तेषालब्धिः सम्यक्त्वोत्पादने योग्यता तां भजन्।

चतुर्गतिभवो भव्यः शुद्धः संज्ञी सुजागरी।
सल्लेशो लब्धिमान् पूर्णो ज्ञानी सम्यक्त्वमर्हति॥

अथ कालादिलब्धिविवरणम् - भव्यः कर्माविष्टोऽर्धपुद्‌गलपरिवर्तं परिमाणेऽवशिष्टे प्रथमसम्यक्त्वयोग्यो भवति, इति काललब्धिः आदि शब्देन वेदनाभिभवजाति स्मरण - जिनेंद्रार्चादर्शनादयो गृण्हन्ते। श्लोक —

क्षयोपशमिकीं लब्धिं शौद्धीं देशनिकीं भवीं।
प्रायोगिकीं समासाद्य कुरुते करणत्रयम्॥

प्रागुपात्तकर्मपटलानुभागस्पर्धकानां शुद्धियोगेन प्रतिसमयानंत गुणहीनानामुदीरणा क्षयोपशमिकी लब्धिः॥ १॥ क्षयोपशम विशिष्टो दीर्णानुभागस्पर्धक प्रभवः परिणामः सातादिकर्मबधनिमित्तं, सावद्यकर्म बधविरूध्दा शौध्दी लब्धिः। २॥ यथार्थ तत्त्वोपदेश - तदुपदेशकाचार्याद्युपलब्धिः, उपदिष्टार्थग्रहण धारण विचारण शक्तिर्वा देशनिकी लब्धिः। ३। अन्तः कोटा कोटी सागरोपम स्थितिकेषु कर्मसु बधमापद्यमानेषु विशुध्दपरिणामयोगेन सत्कर्मसु संख्येयसागरोपम सहस्त्रोणायामन्तः कोटा कोटी सागरोपमस्थितौ स्थापितेषु आद्यसम्यक्त्व योग्यता भवति, इति प्रायोगिकीलब्धिः। ४॥ श्लोक —

अथाप्रवृत्त का पूर्वा निवृत्ति करणत्रयम्।
विधाय क्रमतो भव्यः सम्यक्त्वं प्रतिपद्यते॥

आगे तत्वार्थ श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शनकी विशेष सामग्री दो श्लोको से कहते हैं - कालादिलब्धि से युक्त सज्ञी, पर्याप्तक, भव्यजीव सम्यग्दर्शन का घात करने वाली सात कर्मप्रकृतियों के उपशम, क्षय व क्षयोपशमरूप अन्तरग कारण के होने पर निसर्ग से या अधिगम से तत्त्व श्रद्धान स्वरूप सम्यग्दर्शन को ग्रहण करता है। उस सम्यग्दर्शन के होने पर कुमति, कुश्रुत और कुअवधिज्ञान सम्यक् हो जाते हैं। (४६-४७)

कर्मों से बद्ध भव्य जीव अर्धपुद्गलपरावर्तन प्रमाण काल शेष रहने पर प्रथम सम्यक्त्व के योग्य होता है। क्योंकि एक बार सम्यक्त्व होने पर जीव इससे अधिक समय तक संसार में नही रहता। इसे ही काल लब्धि कहते हैं। यहाँ आदि शब्द से बाह्य में वेदनाभिभव, जाति स्मरण, धर्मश्रवण, जिनबिंबदर्शन, देवर्धिमहिमा दर्शन का ग्रहण किया गया है।

इस लब्धि के पांच भेद हैं - भव्य जीव ही (१) क्षयोपशमलब्धि, (२) विशुद्धिलब्धि (३) देशनालब्धि (४) प्रायोग्यलब्धि करके (५) तीन करणों को करता है। (१) पूर्वबद्ध अप्रशस्त कर्मपटल के अनुभाग स्पर्धकों का विशुद्ध परिणामों से प्रतिसमय अनंतगुणहीन होकर उदीरणा होना **क्षयोपशमलब्धि** है।

(२) क्षयोपशम से युक्त उदीरणा किये गये अनुभाग स्पर्धकों को निमित्त होने वाले परिणाम को **विशुद्धिलब्धि** कहते हैं। ये परिणाम साता आदि शुभकर्मो के बंध मे कारण होते हैं। पापकर्म के बंधको रोकते हैं।

(३) यथार्थ तत्त्व का उपदेश और उपदेशक आचार्य की (अथवा ग्रंथ की) प्राप्ति होना बाह्य देशनालब्धि है। और उपदिष्ट अर्थ को ग्रहण धारण, विचारणा की शक्ति को **अंतर्देशना लब्धि** कहते हैं।

(४) पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति अन्त: कोटा कोटी सागर की होने पर तथा विशुद्ध परिणाम के प्रभाव से नये बधने वाले कर्मों की स्थिति उसमें संख्यात हजार सागर की स्थिति कम हो जाने पर प्रथम सम्यक्त्व को ग्रहण करने की योग्यता होती है, इसे **प्रायोग्यलब्धि** कहते हैं।

इन चारो लब्धियो के होने पर भी सम्यक्त्व की प्राप्ति होने का नियम नही है। हाँ, करणलब्धि होने पर सम्यक्त्व होता ही है। कहा है - अथाप्रवृत्तकरण (अध: प्रवृत्तकरण), अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण को क्रम से करके भव्यजीव सम्यक्त्व को प्राप्त होता है।

प्रश्न— अर्धपुद्गल परावर्तन काल संसार शेष रहे, उस समय होने वाले सम्यक्त्व को प्रथम (आद्य) सम्यक्त्व कहना योग्य है। किंतु प्रायोग्यलब्धि के अनंतर होने वाले सभी सम्यक्त्व को प्रथम सम्यक्त्व कैसे कहते हैं ?

उत्तर– मिथ्यादृष्टि सादि हो या अनादि उसको जब-जब सम्यक्त्व होता है, तब-तब उस सम्यक्त्व को प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं। तथा उमशम श्रेणी में आरूढ जीवों के जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसको द्वितीयोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

प्रश्न– क्या देशना लब्धि के समय ही उपदिष्ट तत्व को ग्रहण, धारण, विचारणा की शक्ति होती है ? या अन्य लब्धियों मे भी होती है ?

उत्तर– तत्त्व (अध्यात्म) समझने की, ग्रहण करने की जिज्ञासा पांचो लब्धियो मे समान है। प्रथम चार लब्धियो मे वह बुद्धि पूर्वक होती है, तथा करणलब्धि मे अबुद्धिपूर्वक उपयोग मे रहती है। यहाँ जो देशना लब्धि में उसका उल्लेख किया, उसको मध्यमदीपक न्याय से सर्वत्र लगा लेना।

यहाँ इतना विशेष जानना कि, जब ये दोनो मिथ्यादृष्टि प्रथमोपशम सम्यक्त्व को ग्रहण करने के अभिमुख होते हैं, तो उनको तत्वजिज्ञासा उत्पन्न होती ही है। वह तत्त्व जिज्ञासा शुभपरिणाम ही है। अतर्मुहूर्तकाल तक उनकी विशुद्धि अनत गुण वृद्धि के साथ वर्धमान होती है, सक्लेश परिणाम हट जाते है और कषाय हीयमान होते है याने मदमदतर होते हैं। इसको ही **विशुद्धिलब्धि** कहते हैं।

उस समय ज्ञानावरण, दर्शनावरण तथा अतराय कर्म का क्षयोपशम होकर जो तत्त्वार्थ को ग्रहण करने को उद्यत ज्ञानगुण की शक्ति उसको **क्षयोपशमलब्धि** कहते है। उसी समय जो बाह्य उपदेशक निमित्त उपस्थित रहते हैं उनको **बहिर्देशनालब्धि** कहते है, तथा तत्वार्थग्रहण की जिज्ञासा को ही **अंतर्देशनालब्धि** कहते है। उसी वर्धमान शुभ परिणाम के योग से अशुभप्रकृतियो के अनुभाग मे हीनता आना, शुभप्रकृतियो के अनुभाग मे वृद्धि होना और कर्मप्रकृतियो की स्थिति सख्यात हजार सागर कम अत: कोटा कोटी सागर की बनना यह प्रायोग्यलब्धि है। इस समय होने वाला नया स्थितिबध भी इससे कम स्थितिका होता है।

तथा यद्यपि इन चारो को लब्धि यह संज्ञा है, तथापि ये चारो उपयोग रूप ही होते हैं और वह उपयोग साकार ही होता है। उस समय यदि उपयोग

की शुद्धता प्रकट होकर तीन करणरूप भाव हो जाय तो उसको करणलब्धि कहते हैं। इसके अन्त्य समय में दर्शनमोहनीय के प्रकृतियों का उपशम होकर जो सम्यक्त्व होता है उसे प्रथमोपशम सम्यक्त्व कहते हैं।

यहाँ लब्धि का अर्थ सम्यक्त्व प्रकट होने की पात्रता ऐसा समझना चाहिए। उसे ही काल लब्धि कहते हैं। इसके दो भेद हैं, सामान्य और विशेष। अर्धपुद्गल परावर्तन काल ससार शेष रहने पर जो पात्रता आती है उसे सामान्य काल लब्धि कहते हैं। और इसके अनंतर बीच बीच में संख्यात बार जो-सम्यक्त्व ग्रहण के प्रसग आते हैं उस समय की योग्यता को विशेषकाललब्धि कहते हैं।

इसी प्रकरण को, दूसरे शब्दों में सागार धर्मामृत के प्रथम अध्याय में पंडितजी समझाते हैं--

आसन्नभव्यता - कर्महानि - संज्ञित्व - शुद्धिभाक्।
देशनाद्यस्तमिथ्यात्वो जीवः सम्यक्त्वमश्नुते॥ ६॥

आसन्नभव्य जीव - संज्ञित्व, शुद्धि, देशना, कर्महानि तथा मिथ्यात्व का अस्त इन पांच प्रक्रिया के द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त होता है। इनका खुलासा-
(१) संज्ञित्व- स्थूल में यह क्षयोपशमलब्धि है, और इसमें भव की अपेक्षा लब्धि होती है। इसकी परिपक्वता पर्याप्तक तथा मनुष्य की अपेक्षा आठ वर्ष के होने पर ही आती है। तथा इसमें ज्ञान - दर्शनावरण का और अंतराय कर्म का ऐसा क्षयोपशम अपेक्षित है कि उसमें तत्वजिज्ञासा जाग सके।

प्रश्न- भावेन्द्रिय स्वरूप लब्धि और इस क्षयोपशम लब्धि में क्या अतर है?

उत्तर- यद्यपि भावेन्द्रिय स्वरूप लब्धि मे इन कर्मों का क्षयोपशम ही कारण है तथापि वह लब्धि संज्ञी - असंज्ञी दोनों को होती है। उस भव में सदा रहती है, निद्रावस्था में भी रहती है तथा अशुभ परिणाम (अशुभोपयोग) में भी रहती है। किंतु यह क्षयोपशमलब्धि मात्र संज्ञी को, विशुद्ध परिणाम के समय, जागृत अवस्था में तथा अतर्मुहूर्त काल तक ही होती है।

(२) **शुद्धिभाक्**– विशुद्धिलब्धि, यह विशुद्ध भाव की अपेक्षा काललब्धि है। जब जब मिथ्या दृष्टि के तत्वजिज्ञासा के भाव जागे तब तब इसकी पात्रता बनी रहती है।

(३) **देशना**– यह निमित्त की अपेक्षा काललब्धि है। सम्यक्त्व के होने मे बाह्य निमित्त भूत - उपदेश, शास्त्र स्वाध्याय, वक्ता या वेदनाभिभव, जाति स्मरण, धर्म श्रवण (धर्म स्मरण), जिनबिंब दर्शन, देवर्धिदर्शन, आदि जब जो भी निमित्त बने तब उनको देशनालब्धि या बहिरग काललब्धि कहते हैं।

(४) **कर्महानि**– विशुद्ध परिणामों से पूर्वबद्ध कर्मों की स्थिति अंतः कोटा कोटी सागर से भी कुछ कम की होना यह कर्मस्थिति अपेक्षा काल लब्धि है।

प्रश्न– विशुद्धिलब्धि तथा प्रायोग्यलब्धि दोनो मे शुभकर्मबध तथा अशुभ प्रकृति का घटना समान है तो इसमे क्या अतर है ?

उत्तर– विशुद्धि लब्धि तथा प्रायोग्यलब्धि मे प्रकृति बध और अनुभागबंध की अपेक्षा समानता होने पर भी स्थिति बध में विशेषता है। विशुद्धिलब्धि मे स्थितिबध की तथा पूर्वबद्ध कर्म की स्थिति की कोई मर्यादा नही है और प्रायोग्यलब्धि मे मर्यादा है। तथा विशुद्धि लब्धि कारण है और प्रायोग्यलब्धि कार्य है।

(५) **अस्तमिथ्यात्व**– करणलब्धि, यह साधकतम ऐसे सूक्ष्म परिणाम या अबुद्धिपूर्वक परिणाम की अपेक्षा काललब्धि है, कि जिसके होने पर सम्यक्त्व नियम से होता है। अर्थात् पूर्वबद्ध मिथ्यात्वकर्म का अभाव या अनुदय ही सम्यक्त्व के उत्पत्ति मे कारण है।

यहाँ यह स्पष्ट किया है कि क्षयोपशम लब्धि से प्रायोग्यलब्धि की स्थिति युगपत ही रहती है तथा उत्पत्ति की अपेक्षा प्रथम तीन लब्धि एक साथ ही होती हैं। इन तीन या चारों मिलकर इनका काल एक अतर्मुहूर्त ही होता है। क्योंकि ध्यान का उत्कृष्ट काल ही अंतर्मुहूर्त है। तथा ये चारों लब्धियाँ भव्य-अभव्य दोनों को भी होती रहती हैं।

प्रश्न– इन चारों लब्धियों का अस्तित्व, उत्पत्ति एक साथ कैसे होती है ?

उत्तर– जैसे , जब ज्ञान सम्यग्दर्शन का सहचारी होता है तब वह सम्यकचारित्र का भी सहचारी होता है , उसी समय उसको सम्यग्ज्ञान या प्रमाण ऐसी सज्ञा प्राप्त होती है ; उसी प्रकार जब तत्त्व बोध (जिज्ञासा) , मनोरोध (पापनिवृत्ति) , आत्मशुद्धि (तत्त्वस्वीकार या विशुद्धवृत्ति) , श्रेयोराग (शुभ में प्रवृत्ति) तथा मैत्रीभाव (स्वगुणों में - स्वपरिणामों में- करण में एकता) होती है उसे ही जिनशासन में प्रमाण या सम्यग्ज्ञान कहते हैं । ज्ञानोपयोग विशुद्ध रहते समय उसी काल कितनी बातें होती हैं इसका यहाँ स्पष्ट बोध होता है । यथा-

तत्त्व बोध मनोरोध श्रेयोरागात्मशुद्धयः ।
मैत्रीद्योतश्च येन स्युस्तज्ज्ञानं जिनशासने ॥ ६/७ अन. ध.

यहाँ इतना विशेष समझना कि जैसे अर्धपुद्गल परावर्तन शेष काल ऐसी अनतकाल की एक अखड काललब्धि नही है , तो इसमें जिस-जिस समय सम्यक्त्व की उत्पत्ति योग्य पात्रता आये उस उस समय को काललब्धि कहते हैं , उसी प्रकार जिस भव में संज्ञी पंचेन्द्रियपणा प्राप्त होवे वहाँ वह पूरा भव काललब्धि (क्षयोपशमलब्धि)नही है । तो जिस जिस समय सम्यक्त्व उत्पत्ति योग्य प्रक्रिया होगी उस उस समय की पात्रता को क्षयोपशमलब्धि कहते हैं ।

तथा करणरूप परिणाम -सम्यक्त्व होने के पूर्व और श्रेणी में आरूढ़ ऐसे दो समय में होते हैं । वहाँ श्रेणि में जैसे तीनों करणलब्धि का काल स्वतंत्र अतर्मुहूर्त और तीनो मिलकर भी एक अतर्मुहूर्त ही है , उसी प्रकार यहाँ सम्यक्त्व होने के पूर्व होने वाले तीन करण का काल भी स्वतंत्र स्वतत्र अतर्मुहूर्त और तीनों मिलकर भी एक ही अंतर्मुहूर्त है ।

यहाँ और विशेष जानना कि प्रथम चार लब्धियों में होने वाले शुभ शुभतर ऐसे विशुद्ध परिणामों से मोक्षमार्ग अनुकूल ऐसा सवर नही होता है । जब उसमें वीतरागता और आत्मजागृति आती है तभी करण की प्रक्रिया होकर संवर होता है ।

प्रश्न– शुभतर ऐसे विशुद्ध परिणाम से पुण्य का बंध और पाप का जो निरोध होता है क्या उसे पाप का संवर नहीं कहते हैं ?

उत्तर– केवल अघातिया कर्म की अशुभ प्रकृति को रोकने का नाम संवर नही है। ऐसे परिणाम तो अभव्य को भी होते हैं , उनको भी संवर मानना पड़ेगा। तथा एक को रोककर दूसरे का बंध करने का नाम संवर हो तो जब पुण्य को रोककर पाप प्रकृति का बंध होता है तब अशुभ परिणाम से पुण्य का संवर हुआ ऐसा मानना पड़ेगा। अत: जिसका आस्रव नही हुआ उसका संवर हुआ ऐसा मानना योग्य नही है।

जब 'पाप का निरोध संवर है' ऐसा कहा जाता है तब ऐसा समझना कि सबसे बड़ा पाप मिथ्यात्व है , उसको रोकने का नाम संवर जरूर है। यही सवर मोक्षमार्ग में अभिप्रेत है। ऐसे ही मिथ्यात्व का अस्त करने से सम्यक्त्व उत्पन्न होता है और उस समय से कर्मों के १६ + २५ ऐसे एकतालीस प्रकृति का संवर होता है। अत: बुद्धिपूर्वक विशुद्ध परिणाम का पुरुषार्थ करना , तब अबुद्धिपूर्वक करणरूप कार्य बने तो बने , ना बने तो ना बने। बुद्धि पूर्वक पुरुषार्थ ही इसके आधीन है। उस समय कर्म का आस्रव-बंध , उदय - उदीरणा, सक्रमण - अपकर्षण - उत्कर्षण , विसयोजन सवर आदि जो होता है उसमे आत्मा का कुछ भी पुरुषार्थ नही है। इसका सही पुरुषार्थ तो स्वरूपाचरण ही है।

प्रश्न– कर्मों के विसयोजन - सवर मे क्या आत्मा का पुरुषार्थ नही है ?

उत्तर– भावसवर तो आत्मा का ही शुद्ध परिणाम है , वही शुद्धोपयोग या पुरुषार्थ रूप है। किंतु द्रव्य सवर तो कर्म के स्वतंत्र योग्यता से होता है। चाहे उसमें आत्मपरिणाम को निमित्त कहा जाय , किंतु वह कार्य तो है स्वतंत्र ही। अत परद्रव्य के परिणमन मे आत्मपुरुषार्थ नही है। अत· तत्त्वजिज्ञासारूप विशुद्धिलब्धि होवे उस समय शेष दो लब्धि तो होती ही है। उनके आगे पीछे या क्रम से होने का नियम नही है।

प्रश्न– विशुद्धिलब्धि होवे और उस समय अध्यात्म के उपदेशक गुरु न मिले या उनके शास्त्र का स्वाध्याय न होवे तो देशनालब्धि कैसी बने ?

समाधान– तो पूर्व अनुभूत सस्कार याने धर्मस्मरण , जातिस्मरण ही देशनालब्धि का काम करते है। इसी कारण नरक तथा देवगति मे इसको तथा

वेदनाभिभव , देवर्धिदर्शन आदि को सम्यक्त्व के उत्पत्ति में निमित्त माना है। अत: गुरु के अभाव में देशनालब्धि रुकती नही है और सम्यक्त्व के उत्पत्ति में बाधा भी नहीं आती है।

प्रश्न– क्या बिना बाह्य देशनालब्धि के किसी को सम्यक्त्व होता ही नही है ?

उत्तर– बाह्य देशनालब्धि के बिना भी सम्यक्त्व उत्पन्न हो सकता है। उसे निसर्गज सम्यग्दर्शन कहते हैं। यथा–

बिना परोपदेशेन सम्यक्त्वग्रहणक्षणे।
तत्त्वबोधो निसर्गः स्यात्तत्कृतोऽधिगमश्च सः ॥ ४८/२ अन. ध.

किन्तु यहाँ भी अतर्देशना लब्धि की सत्ता कायम रहती ही है। यह ही उपादान की उस समय की योग्यता (काललब्धि) है। यथा–

"निसर्गतो वाधिगमात्रजानामुत्पद्यते यत्किल काललब्ध्या।
साष्टांगमर्चामि सुदर्शनं तद्वत्नं मुदा रत्नभवप्रदीपैः ॥ ५२ ॥ अ. र.

प्रश्न– देशनालब्धि के पूर्व विशुद्धिलब्धि का उपदेश क्यों है ?

उत्तर– देशना ग्रहण की पात्रता ही विशुद्धि से आती है। यथा–

यावज्जीवमितित्यक्त्वा महापापानि शुद्धधीः।
जिनधर्मश्रुतेर्योग्यः स स्यात्कृतोपनयोद्विजः ॥ २२/१ सा. ध.

जीवन पर्यत महापापो का एकदेश वा संपूर्ण त्याग करने वाला विशुद्ध बुद्धि वाला ही जिनधर्म श्रवण का अधिकारी होता है। इससे एक बात स्पष्ट हुई है कि , मात्र चरणानुयोग का निरतिचार पालन भी धर्म नही है , वह मात्र सदाचार है और यदि चरणानुयोग के अनुसार कुछ भी पालन नही है तो उसको धर्म धारण करना तो दूर वह धर्म श्रवण का भी अधिकारी नहीं है। अत एव चरणानुयोग सापेक्ष द्रव्यानुयोग अथवा द्रव्यानुयोग सापेक्ष चरणानुयोग का पालन ही मोक्षमार्ग का अनुसरण है।

आसंसारविसारिणोऽन्धतमसान्मिथ्याभिमानान्वया -
च्च्युत्वा कालबलान्निमीलितभवानन्त्यं पुनस्तद्बलात्।

मीलित्वा पुनरुन्नतेन तदपक्षेपाद्विद्याच्छिदा।
सिद्धौ कस्यचिदुच्छ्रयत्स्वमहसा वृत्तं सुहृन्मृग्यते॥ १/२ अन. ध.

इस श्लोक में पंडितजी कहते हैं कि, 'सम्यग्दर्शन रूपी अपने तेज से ऊंचा उठता हुआ निकट भव्य स्वात्मा की उपलब्धि के लिए अपने मित्रचारित्र की अपेक्षा करता है।' इसका यह अर्थ नही लेना कि पंडितजी 'पहले सम्यग्दर्शन होता है पीछे स. चारित्र होता है' ऐसी मान्यता के थे। किंतु इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि, सम्यग्दृष्टि को सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति के समय चारित्र मे जो निर्मलता आई थी, उसमें विकास ही स्वात्मा की उपलब्धि है। आगे चारित्र की महिमा का वर्णन करते हुये पंडितजी कहते हैं, 'अहो व्रत का महात्म्य क्या बताये, सम्यग्दर्शन को भी उत्पत्ति समय, नंतर उसमें सातिशयता लाने के लिये और फल सप्राप्ति के लिये जिसका मुख अधीरता से देखना पड़ता है उसी का नाम चारित्र है।' यथा—

अहो व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षते तराम्।
उद्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक्॥ २०/४ अन. ध.

आचार्य अमृतचद्र भी यही फर्माते हैं कि - "कम से कम अष्टमूलगुण को स्वीकार करने पर ही वह शुद्धधी जिनधर्मश्रवण करने योग्य होता है।"

यथा-

अष्टावनिष्टदुस्तरदुरितायतनान्यमूनि परिवर्ज्य।
जिनधर्मदेशनायाः भवन्ति पात्राणि शुद्धधियः॥ पु. सि.

प्रश्न– यदि सम्यग्दर्शन के पहले ही व्रत का स्वीकार होता है तो सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति होने पर उनका गुणस्थान पांचवा ही होना चाहिए।

उत्तर– द्रव्य सयम का प्रयोजन यहाँ कषाय को मात्र मंद करना है। कषाय की मदता का नाम कषाय का अभाव नही है। अतः द्रव्यसयम होने पर भी उतनी आत्मशुद्धि होगी ही, ऐसा नियम नही है। इसी कारण बाह्यतः मुनि बनने पर भी मिथ्यादृष्टि जीव पहले गुणस्थान वर्ती ही रहता है। अनंतानुबंधी कषाय का अभाव किये बिना अन्य कषाय का अभाव भी असंभव है। तथा मिथ्यात्व के तीन और अनतानुबधी के चार ऐसे सात प्रकृति का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर ही सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति का तो नियम है। अन्य कषाय का जहाँ जितना अभाव होगा वहाँ पर आगे के गुणस्थान भी हो सकेंगे।

यहाँ एक बात ध्यान में रखना कि , यद्यपि संयमाचरण में व्रताचरण का अतर्भाव होता है तथापि , अणुव्रत या महाव्रत का मात्र पालन संयम नही है ।

प्रश्न– सयम और व्रत-विरति में क्या भेद है ?

उत्तर– यदि ये व्रत समिति सहित है तो उसका नाम सयम है और यदि ये व्रत समिति रहित ही होते हैं तब उनको मात्र विरति ही कही जाती है। यथा— "अनुव्रतमहाव्रतानि हि समिति सहितानि सयम स्तद्रहितानि विरति-रिति सिध्दान्तः। तदुक्त 'अणुव्वय महव्वयाइं समिदिसहिदाणि संजमो , समिदिहिं विणा विरदि।' (सा. ध. अ. ५ श्लोक ५५ टीका) इसी प्रकार अन. ध. अ. ४ श्लोक १७१ के टीका में लिखा है - "तथा चोक्त वर्गणाखंडस्य बधनाधिकारे - सजम विरइणं को भेदो ? ससमिदि महव्वयाणुव्वयाइं सजमो। समिदिय विणा महव्वयाणुव्वयाइ विरदीति।"

प्रश्न– नरक तथा देवगति में सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति कही है। वहाँ तो व्रताचरण नही है , फिर उनको विशुद्धिलब्धि कैसे होती है ?

उत्तर– सयमाचरण को वे उपादेय ही मानते हैं। 'कब हमारी यह देवपर्याय छूटेगी और मनुष्य बन कब सयम धारण करेंगे', ऐसे परिणाम उनके बने रहते हैं। तथा धर्मश्रवण , जातिस्मरण से भी इनके पूर्वसंस्कार वहाँ काम करते हैं। अत· उसकी भावना भाने से ही कषायों की मंदता होने से विशुद्धिलब्धि बन जाती है।

प्रश्न– 'तत्त्वार्थ श्रद्धान सम्यग्दर्शनम्।' ऐसा सूत्रकार कहते है। इसमे सयमाचरण का सबंध सम्यक्त्व की उत्पत्ति मे कहाँ आया ?

उत्तर– सम्यक्त्व की उत्पत्ति में सातों तत्व का श्रद्धान अपेक्षित हैं , और सवर निर्जरा तत्त्व के श्रद्धान के लिये संयम का उपदेश इसी कारण तत्त्वार्थ सूत्र के सप्तम तथा नवम अध्याय में किया है।

शंका– तत्त्वार्थ सूत्र के सप्तम अध्याय में तो आस्रवतत्त्व का ही निरूपण है , आप इससे संवर कैसा मान रहे हो ?

समाधान– वहाँ विरति को शुभास्रव का कारण कहा यह बात यद्यपि सत्य है, तथापि विरति के सद्भाव में जो शुद्धांश प्रकट होता है उससे अविरति जन्य पाप प्रवृति को रोक लगने से अविरति जन्य पापास्रव का संवर भी होता है। तथा विरति में जो तरतम भाव होते हैं, उसके कारण ही चतुर्थ-पंचम-षष्ठम इन गुणस्थानों मे अतर है। और चतुर्थ से पचम गुणस्थान में तथा पंचम से षष्ठम गुणस्थान में अधिक सवर बताया है। अतः विरति से मात्र आस्रव ही होता है ऐसा नही समझना।

शंका– विरति को सवर का कारण कही बताया है क्या ?

समाधान– द्रव्यसग्रह मे नेमिचद्राचार्य ने लिखा है कि, व्रत, समिति, गुप्ति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषहजह आदि चारित्र के ही नाना भेद हैं, और इनसे विशेष भावसवर होता है ऐसा जानना। यथा–

वदसमिदिगुत्तीओ धम्माणुपिहा परीसहजओ य।
चारित्तं बहुभेया णायव्वा भावसंवरविसेसा॥

पडितजी स्वय रत्नत्रयव्रत विधान के चारित्राधिकार में लिखते हैं–

दुर्वारकर्मास्रववारणं यत् संसाधनं दुर्जय-निर्जरायाः।
तदत्र मूर्छाविलयैकरूपं, महाव्रतं संततमाश्रयामि॥ ३७॥

तात्पर्य यह है कि, 'दुर्निवार ऐसे कर्मों का आस्रव रोकने के लिये, तथा दुर्जय ऐसे पूर्वबद्ध कर्मों की निर्जरा का जो सम्यक्त्व साधन है और मूर्छा (ममत्व परिणाम) का अभाव ही जिसका स्वरूप है ऐसे महाव्रतो का मै बारबार आश्रय करता हूँ।'

महापडित टोडरमलजी का भी यही अभिप्राय है - "तथा वह व्रतादिक को बधन मानता है, सो स्वच्छदवृत्ति तो अज्ञान अवस्था मे ही थी, ज्ञान प्राप्त करने पर तो परिणति को रोकता ही है तथा उस परिणति को रोकने के अर्थ बाह्य हिंसादिक कारणों का त्याग अवश्य होना चाहिए।"

"फिर वह कहता है- हमारे परिणाम तो शुद्ध है, बाह्य त्याग नही किया तो नही किया ? **उत्तर**– यदि यह हिंसादि कार्य तेरे परिणाम बिना स्वयमेव

होते हों तो हम ऐसा माने और यदि तू अपने परिणाम से कार्य करता है, तो वहाँ तेरे परिणाम शुद्ध कैसे ?_" (मो . प्र. २०३)

"फिर वह कहता है— परिणामों को रोके, बाह्य हिंसादिक भी कम करे परंतु प्रतिज्ञा करने में बंधन होता है, इसलिये प्रतिज्ञा रूप व्रत अंगीकार नहीं करना। **समाधान**— जिस कार्य को करने की आशा रहे उससे राग रहता है। उस राग भाव से बिना कार्य किये ही अविरति से कर्मबंध होता रहता है। इसलिये प्रतिज्ञा अवश्य करने योग्य है। तथा कार्य करने का बंधन हुए बिना परिणाम कैसे रुकेंगे ?

प्रयोजन पड़ने पर तद्रुप परिणाम होंगे ही होंगे। तथा बिना प्रयोजन पड़े, उसकी आशा रहती है। इसलिये प्रतिज्ञा करना योग्य है।"(मो. प्र. २०४)

तत्त्वार्थ सूत्रकार भी अविरति को ही बंध का कारण मानते हैं। यथा— "मिथ्यादर्शनाविरति प्रमादकषाय योगा: बन्धहेतव:।" मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद कषाय, और योग ये ही बन्ध के कारण हैं। विरति तो अविरतिका विरोधी भाव होने से निश्चयविरति को संवर-निर्जरा का ही कारण मानना।

प. भूधरदास जी बारहभावना में इसी ही प्रकार कहते हैं—

'पंच महाव्रत संचरण, समिति पंच परकार।
प्रबल पंच इंद्री-विजय, धार निर्जरा सार॥ १०॥

तत्त्वार्थ सूत्र का वर्णन भी तीनो अनुयोगो के अनुसार ही हुआ है। उसके प्रथम पांच अध्याय में द्रव्यानुयोग का, षष्ठम-अष्टम-दशम अध्याय में करणानुयोग का तथा सप्तम-नवम अध्याय में चरणानुयोग के प्राधान्य से वर्णन है।

प्रश्न— चरणानुयोग निरपेक्ष द्रव्यानुयोग का श्रद्धान सम्यक्त्व के उत्पत्ति में समर्थ क्यों नही है ?

उत्तर— द्रव्यानुयोग, वस्तु के शुद्ध स्वरूप को कथन करता है। मात्र उसे जानकर अज्ञानी जीव निश्चयाभासी हो सकता है। वर्तमान में तो यह जीव अशुद्ध ही है, वह अशुद्धता नष्ट करने के लिये व्यवहारप्रधान चरणानुयोग का

आश्रय लेना आवश्यक है। जब ये दोनों परस्पर सापेक्ष, परस्पर पूरक होते हैं मानो एक के ही ये दो रूप बनते हैं तब ही सही अर्थ में तत्त्वार्थ का श्रद्धान होकर सम्यक्त्व की उत्पत्ति होती है।

अतः चारों अनुयोगों की परंपरा याने पूर्व-अनंतर संबंध ही सम्यग्दर्शन के उत्पत्ति में अभिप्रेत है। पंडितजी ने उसको ही 'सम्यगाम्नायधर्ता' ऐसा कहा है। इसका व्याख्यान पंडितजी ने इस प्रकार किया है - 'सम्यक् संपूर्णः प्रथमाद्यनुयोगचतुष्टय विशिष्टः आम्नायः आगमः। (अन. ध. ७/१ टीका) तथा 'आम्नाय· कुलमागमः' (ज्ञा. दी. अन. ध. १७/१ टीका) अर्थात् - प्रथमादि अनुयोगचतुष्टय का परस्पर सुमेल ही आम्नाय है। या आगम के सम्यक् समूह को आम्नाय कहते हैं।

प्रश्न– सम्यक्त्व के उत्पत्ति में जातिस्मरण, धर्मस्मरण, देवर्धिदर्शन या जिनमहिमादर्शन को निमित्त कारण बताया है, इसमे किस अनुयोग की अपेक्षा है ?

उत्तर– जाति स्मरण में प्रथमानुयोग की प्रधानता है, धर्मस्मृति या देवर्धिदर्शन में चरण-करण अनुयोग की प्रधानता है तथा जिन महिमा दर्शन में द्रव्यानुयोग की प्रधानता दिखलायी है।

प्रश्न– पाच लब्धियों में किस अनुयोग की मुख्यता है ?

उत्तर– वैसे तो सभी लब्धियो में करणानुयोग की ही मुख्यता है। तथापि (१) **क्षयोपशमलब्धि में–** ज्ञान-दर्शनावरण तथा अंतराय कर्म का क्षयोपशम और द्रव्यानुयोग सापेक्ष प्रथमानुयोग की प्रधानतापूर्वक भावना, भव से मुक्त होने की जिज्ञासा मुख्य है।

(२) **विशुद्धिलब्धि में–** चारित्र मोहनीय की मदता और द्रव्यानुयोग सापेक्ष चरणानुयोग की मुख्यता है। व्रत-विधान, शुभाचार मे तत्परता, पापों का त्याग अभिप्रेत है।

(३) **देशनालब्धि में–** दर्शन मोहनीय की मदता और चरणानुयोग सापेक्ष द्रव्यानुयोग की मुख्यता है। छह द्रव्य व नवतत्व के उपदेश मिलना तथा उसको ग्रहण की जिज्ञासा होना।

(४) **प्रायोग्यलब्धि में**– द्रव्यानुयोग सापेक्ष करणानुयोग की प्रधानता है। अर्थात् द्रव्यानुयोग के उपदेश को अमल में लाने का पुरुषार्थ करने को उद्यत होना , या योग्यता की प्राप्ति होना , वैराग्य भाव जागृत रहना तथा करणानुयोग के अनुसार कर्मस्थिति बनना।

(५) **करणलब्धि में**– द्रव्यानुयोग पूर्वक करणानुयोग के अनुसार अबुद्धिपूर्वक अधःकरण, अपूर्वकरण , अनिवृत्तिकरण रूप परिणाम होना अभिप्रेत है। दर्शनमोहनीय की तीन तथा चारित्र मोहनीय अनंतानुबंधी की चार प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम इसी लब्धि के अन्त्य समय में होता है।

ऐसा ही खुलासा जयसेनाचार्य ने प्रवचनसार के तात्पर्यवृत्ति के गाथा ७० की टीका में किया है। यथा– "**अध्यात्मभाषया** निजशुद्धात्मभावनारूपेण, सविकल्पस्वसवेदन-ज्ञानेन ; तथैव **आगमभाषया** " अधः प्रवृत्तकरणापूर्वकरणा-निवृत्तिकरण सज्ञ दर्शनमोहनीय क्षपण समर्थ परिणाम विशेष बलेन पश्चादात्मनि योजयति।"

शंका– सम्यग्दर्शन के सिद्धि में प्रशम-दया-आस्तिक्य और संवेग की व्यक्तता बतायी जाती है। यथा-'संवेग प्रशमास्तिक्य दयादि व्यक्त 'लक्षणम्।' (ज्ञा दी अन.ध.१४९) इनके साथ लब्धि का क्या संबंध है ?

समाधान– (१) प्रशम– यह क्षयोपशमलब्धि के साथ करणलब्धि का दर्शक है। क्योकि इसमें दर्शनमोह तथा अनंतानुबधीकषायों का उपशम आदि अपेक्षित है।

(२) अनुकंपा (दया) –यह विरति अर्थात् विशुद्धिलब्धि का गमक है।

(३) आस्तिक्य-सातों तत्व की भावना रूप देशनालब्धि का दर्शक है।

(४) संवेग– यह प्रायोग्यलब्धि का द्योतक है, इसमें संसार भीरूता तथा कर्मों के अभाव के लिए पुरूषार्थ करने की भावना निर्माण होती है। इस प्रकार इनमें चारों अनुयोगों का भी संपर्क बना रहता है, अतः मरण आने पर भी सिद्धि के लिए स्वाध्याय सतत् करते रहना चाहिये, ऐसी भावना पंडितजी ने व्यक्त की है।यथा-(अन.ध.२३/३)- "स्वाध्यायः सततं क्रियेत स मृतावाराधनासिद्धये ॥"

इस तरह चारों अनुयोगों का परस्पर संपर्क ऐसा आम्नाय यह अर्थ प्रगट होने पर आम्नायपूर्वक श्रुतका अभ्यासकरने का उपदेश पंडितजी देते हैं - 'परमागमरूपी समुद्र से सग्रह करके भगवज्जिनसेनाचार्य आदि सत्पुरुषरूपी मेघों के द्वारा बरसाये गये प्रथमानुयोगादि का भव्यचातक बारंबार प्रीतिपूर्वक पान करे। (अन.ध. ६/३) यथा--

दृष्टं श्रुताब्धेरुद्धृत्य सन्मेघैर्भव्यचातकाः।
प्रथमाद्यनुयोगाम्बु पिबन्तु प्रीतये मुहुः॥

प्रथमानुयोग के अभ्यास की प्रेरणा करते हुए पडितजी कहते हैं-- तत्वजिज्ञासु भव्यजीव बोधि (रत्नत्रय) और समाधि (साधना) को देने वाले तथा परमार्थ सत् वस्तुस्वरूप को प्रकाशित करने वाले पुराण और चरितरूप प्रथमानुयोग का अधिक अभ्यास करे। यथा--

पुराणंचरितं चार्थाख्यानं बोधिसमाधिदं।
तत्वप्रथार्थी प्रथमानुयोगं प्रथयेतराम्॥

यहाँ स्पष्ट किया है कि, प्रथमानुयोग का मूल उद्देश्य ही बोधि और समाधि की प्राप्ति याने रत्नत्रय की उत्पत्ति कराना है तथा जिन्होने पूर्ति की उनके दृष्टात बतला कर प्रेरित करना है।

गणित, लोक विभाग, सूक्ष्म परिणाम आदि का वर्णन करने वाले क्लिष्ट करणानुयोग का अध्ययन करने से होने वाले लाभ को बताते है- "पंच परावर्तन का यदि नाश करना है तो उसका वर्णन जिसमे है ऐसे करणानुयोगशास्त्र का अभ्यास करना ही चाहिये।" (अन. ध १०/३ भ टीका) चतुर्गति मे रहने वाले जीव द्रव्य का, उत्सर्पिनी-अवसर्पिनी कालका, लोक-अलोक रूप क्षेत्र का, तथा इनके अनुसार जीवो के भावो का और भवो का परिवर्तन जानकर इससे छुटकारा पाने के लिए करणानुयोग का अभ्यास जरूरी है। (अन.ध. १०/३) यथा--

चतुर्गतियुगावर्तन लोकालोक विभागवित्।
हृदि प्रणेय करणानुयोगः करणातिगैः॥

चरणानुयोग का महत्व बताते हुए पं जी कहते हैं--

"चारित्र ही धर्म है, उसको पाने में तत्पर पुरुष को सकलचारित्र और विकलचारित्र की उत्पत्ति, रक्षा, और विशिष्ट वृद्धि को करने वाले चरणानुयोग का चिंतन करना चाहिये।" (अन.ध. ११/३) यथा—

सकलेतर चारित्र जन्म रक्षाविवृद्धि कृत्।
विचारणीयश्चरणानुयोग श्चरणा द्वुतैः ॥

द्रव्यानुयोग में भावना लगाने के लिये पं.जी कहते हैं - "तीक्ष्ण बुद्धिशाली पुरुष को जीव-अजीव, बंध-मोक्ष, पुण्य-पाप, आदि का निर्णय करने के लिये सिद्धान्तसूत्र, तत्वार्थसूत्र आदि द्रव्यानुयोग शास्त्र का अभ्यास समीचीन रीति से करना चाहिये।" यथा—

जीवाजीवौ बन्धमोक्षौ पुण्यपापे च वेदितुं।
द्रव्यानुयोगसमयं समयन्तु महाधियः ॥ १२/३ अन. ध.

प्रश्न– ऐसे सकल श्रुत के आराधन का फल क्या है ?

उत्तर– ऐसे सकलश्रुत भावना से ही पृथक्त्ववितर्क और एकत्व वितर्करूप शुक्लध्यान की प्राप्ति होती है। शुक्ल ध्यान से केवल ज्ञान की प्राप्ति होती है और केवल ज्ञान से अन्त में परममुक्ति की प्राप्ति होती है। यथा—

श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्वलक्षणम्।
शुक्लं ततश्च कैवल्यं ततश्चान्ते पराच्युतिः ॥ २४/३

जो इस तरह सापेक्ष भाव रखकर अध्ययन नही करते हैं, किसी पक्ष के, पथ के या विषय के राग से पीड़ित होकर पूछने पर भी इष्ट तत्व को गूगे की तरह कहता नही है, दिखाने वाला आये तो, अंधे की तरह देखता नही है और बतानेवाला आये तो बहिरे की तरह सुनता नही है, उनका मन पर तावा न रहने से वचन तथा कायको वश मे रखने वाले सत् चारित्र भी चलनी में डाले जल की तरह शीघ्र ही खिर जाता है। यथा—

नो मूकवद्वदति नांधवदीक्ष्यते यद्रागातुरं बधिरवन्न श्रुनोति तत्वं।
यत्राऽयते यतवचोवपुषोऽपि वृत्तं, क्षिप्रं क्षरत्यवितथं तितवोरिवांभः ॥ २१/३

अतएव सम्यग्दर्शन- ज्ञान-चारित्र की याने धर्म की प्राप्ति के लिये चारों अनुयोगों का प्रभाव दृष्टि में रखकर अध्ययन करना चाहिये। पंडितजी की सदैव भावना थी कि, 'आगमरूपी समुद्र का मंथन करके शब्द से, अर्थ से और आक्षेप समाधान के द्वारा पूरी तरह विमोचन करके उससे उत्पन्न तत्व ज्ञान रूपी अमृत का पानकर भव्यजीव अमरत्व को प्राप्त होवे।' (१७/३ अन. ध.)

निर्मथ्यागम दुग्धाब्धिमुद् धृत्यातो महोद्यमाः।
तत्वज्ञानामृतं सन्तु पीत्वा सुमनसोऽमराः ॥१७॥

१ - रत्नत्रय की उत्पत्ति युगपत्

रत्नत्रय यह शब्द ही स्वयं अपना स्वरूप घोषित करता है कि, 'तीन जिसके अवयव हैं ऐसे तीन रत्नों के समुदाय को रत्नत्रय कहते हैं।' 'ये तीन रत्न है- सम्यग्दर्शन-ज्ञान और सःचारित्र।' यथा- सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्राणि त्रयोऽवयवा; यस्य तत् त्रयम्। रत्नाना त्रय रत्नत्रयम ॥(अन.ध. ४/१ टीका)

अन. ध. के मगलाचरण मे आशाधरजी कहते हैं कि इस रत्नत्रय की उत्पत्ति अंतरग और बहिरग कारणों से होती है, और वह इन्द्रिय तथा मनको सयमित करने वाले अंतरग तथा बहिरग परिग्रहों के यथा योग्य त्याग से ही स्वात्मोन्मुख सवित्तिरूप सुश्रुत याने सम्यग्ज्ञान से जिनका प्रतिभास होता है वे सिद्ध मेरी आत्मा में भासमान हों। यथा– हेतुव्दैत बलान् ______ते भान्तु सिद्धा मयि ॥१ ॥

मिथ्यात्व तथा अन्य अतरग परिग्रह का त्याग सम्यग्दर्शन से और बहिरंग परिग्रह का त्याग सयम से सूचित होने से यहाँ सम्यक्वाराधना और चारित्राराधना इन दो ही आराधना का सक्षेप रुचिवाले शिष्यों के लिये प्रतिपादन है। क्योंकि ज्ञान का दर्शन के साथ और तप का चारित्र के साथ अविनाभावी संबंध होने से उनका उसमें अंतर्भाव हो जाता है। यथा- 'एतेन सम्यक्त्वचारित्राराधनाद्वयं सक्षेप रुचि शिष्यापेक्षया सूचित प्रतिपत्यव्यम्। ज्ञानेन दर्शनस्य तपसा च चारित्रस्याविनाभावात्तत्र तयोरन्तर्भावविभावनात्।'

प्रश्न– क्या स. ज्ञान का मात्र सम्यग्दर्शन के साथ ही अविनाभावी संबंध है या स. चारित्र के साथ भी है ?

उत्तर– ज्ञान जैसा सम्यक्त्व का सहचारी है वैसा स. चारित्र का भी सहचारी जानना। यथा- "अत्र सम्यक्त्व सहचारिज्ञानं च चारित्र सहचारिज्ञानं सूत्रकारेणोपवर्णित मवंसेयम्।" (अन. ध. ज्ञा. टीका ६४६)

तथैव अन. ध. चतुर्थ अध्याय के चारित्राराधना में स्पष्ट कहते हैं कि, जैसे सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान अज्ञान ही होता है वैसा स. ज्ञान के बिना चारित्र भी अचारित्र ही होता है। यथा–

ज्ञानमज्ञानमेव स्याद्विना सद्दर्शनं यथा।
चारित्रमप्यचारित्रं सम्यग्ज्ञानं विना तथा ॥३॥

शंका– चारित्राराधना में सयमाचरण चारित्र का प्ररूपण है। अतः जो संयम सम्यग्ज्ञान के बिना होता है वह असंयम या मिथ्यासंयम ही है, और सम्यग्ज्ञान के साथ जो संयम होता है उसे स. चारित्र जानना, ऐसा भाव यहाँ सूचित होता है। सम्यग्ज्ञान की उत्पत्ति के समय ही स. चारित्र की उत्पत्ति का नियम नही कहा है। इसीलिए तो ऊपर सम्यग्दर्शन के साथ ज्ञान का ही अविनाभावी सबध बताया है।

समाधान– ऊपर जो कथन है वह दो आराधना में चारों आराधना का अंतर्भाव कैसे होता है, उसका मात्र सूचक है। इससे रत्नत्रय के युगपत् उत्पत्ति में कालभेद की शंका नही लेना। अथवा तप के साथ जो चारित्र लिया है वह सयमाचरण ही है। इस सयमाचरण की उत्पत्ति स. ज्ञान के साथ युगपत् होने पर भी क्रम से मानी जाती है। यथा–

सम्यक्त्वस्यावलंबेन स्वयमुत्पद्य यत् क्रमात्।
उत्पादयति चारित्रं तदहं ज्ञानमाश्रये ॥ ५ चा. र. व्र. वि.

सम्यक्त्व के अवलंबसे जो स्वयं उत्पन्न होता है और क्रम से चारित्र को भी उत्पन्न कराता है उस ज्ञान का मैं आश्रय लेता हूँ।

शंका– पंडितजी भी दर्शन- ज्ञान की उत्पत्ति तो एक साथ ही मानते हैं किन्तु स. चारित्र की उत्पत्ति क्रम से होती है, ऐसा मानते हैं। इसीलिये यहाँ 'क्रमात्' यह स्पष्ट निर्देश किया है।

समाधान– ऐसा नही है। उसका सामान्य अर्थ यही है कि, 'जिस क्रम से ज्ञान में सम्यकता आती है उसी क्रम से चारित्र में भी सम्यकता आती है।' अथवा - जैसे सम्यग्ज्ञानरूप कार्य का कारण सम्यग्दर्शन है वैसे सम्यक्चारित्ररूप कार्य का कारण सम्यग्ज्ञान है। अतः सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ अनन्तर उत्तर समय उत्पन्न होने वाली चारित्रगुण की पर्याय सम्यक्चारित्र के रूप ही होती है। इस अर्थ में कारण कार्य की अपेक्षा पूर्व उत्तरवर्ती ऐसा क्रम माने तो बाधा नही आती है। राजवार्तिककार अकलकदेव भी ऐसा आशुकालभेद स्वीकार करते ही हैं।

अथवा– क्रम शब्द का अर्थ पद याने चरण भी होता है, इस अर्थ में क्रमात् = चरणात् ऐसा अर्थ करने पर 'स्वरूपे चरण चारित्रं। इस रूप में "ज्ञान जब सम्यक्त्व का अवलब लेता है तब स्वय जो सम्यग्ज्ञान रूप में उत्पन्न होता है वह स्वरूप में अर्थात् ज्ञान का ज्ञान में रमण रूप जो स्वरूपाचरण = सम्यक्त्वाचरण चारित्र को उत्पन्न करता है, उस ज्ञान का मैं आश्रय लेता हूँ। ऐसा पंडितजी का आशय समझना।"

अन. ध. के द्वितीय अध्याय के श्लोक ९५ में पंडितजी कहते हैं कि, "सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र की एकता को जो मोक्षमार्ग न मानकर विकलता को मोक्षमार्ग मानते हैं वे सात प्रकार के मिथ्या दृष्टि हैं।"

प्रश्न– सम्यग्दर्शनादि में एकता तो पाचवें गुण स्थान से आती है इसी कारण देशव्रती-सकलव्रती को मोक्षमार्गी कहा है। अतः चतुर्थ गुण स्थान में सम्यग्दर्शन ज्ञान के साथ स. चारित्र की एकता कैसी मानना ?

उत्तर– सभी अंतरात्मा मोक्षमार्गी ही है, तथा अविरतसम्यग्दृष्टि को चाहे जघन्य कहें किंतु अंतरात्मा ही कहते हैं। इसी कारण छहढालाकारने 'जघन कहे अविरत समदृष्टि तीनों शिवमगचारि।' ऐसा स्पष्ट कहा है। चौथे गुण स्थान से

ही संवर का प्रारंभ माना है, अतः वहाँ से शुद्धात्म परिणतिरूप चारित्र को मानना युक्त ही है। पंडितजी त. श्लो. १-५४ की कारिका उध्दृत कर स्पष्ट करते हैं कि 'चर्यात्वं कर्महन्तृता।' कर्मों का अभाव ही सम्यक्‌चारित्रका द्योतक है। अतः जहाँ संवर है वहाँ स. चारित्र है।

आराधना, भक्ति, स. चारित्र, प्रवृत्ति आदि एकार्थवाचक है। यथा–

वृत्तिर्जातसुदृष्टयादेस्तद्गतातिशयेषु वा।
उद्योतादिषु सा तेषां भक्तिरा राधनोच्यते॥ ९८/१ अन.ध.

उत्पन्न सम्यग्दर्शन आदि के उद्योतन (प्रकाशन - अनुभवन) में तथा तत्संबंधी अतिशयों में जो प्रवृत्ति है उसी का नाम भक्ति या आराधना है।

जहाँ 'चारित्रं खलु धम्मो' ऐसा कहा है वहाँ भी सम्यग्दर्शन ज्ञान से युक्त चारित्र को ही धर्म कहा है। ऐसी एकता को ही शुद्धोपयोग कहते हैं। यथा– "धर्मे, सम्यग्दर्शनादि यौगपद्य प्रवृत्तैकाग्रत्व लक्षणे शुद्धात्मपरिणामे." (अन. ध. २४/१ टीका)

यहाँ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की युगपत्प्रवृत्ति का नाम ही धर्म, शुद्धात्म परिणाम है, ऐसा स्पष्ट किया है।

तथैव– धर्म का अर्थ विशुद्धि ऐसा भी होता है, वह विशुद्धि सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र रूप ही होती है; जो कि स्व के आश्रय से ही होती है। यथा - "धर्मः पुसो विशुद्धिः सुदृगवगमचारित्र रूपा, स च स्वां सामग्री प्राप्य भवति।" (अन. ध. ९०/१)

सम्यग्दर्शन ज्ञान चारित्र इन तीनों से ही मोक्ष तत्व की याने इष्टार्थ की सिद्धि होती है। जैसे रोग से मुक्ति पाने के लिये औषधीका श्रद्धा ज्ञान और सेवन यह तीनों ही आवश्यक है। यथा–

श्रद्धानबोधानुष्ठानैस्तत्वमिष्टार्थ सिद्धिकृत्।
समस्तैरेव न व्यस्तै रसायन मिवौषधम्॥ ९४/१ अन. ध.

शंका– अविरत सम्यग्दृष्टि को यदि सम्यक्चारित्र का सद्भाव माना जाय तो विरति रूप सम्यक्चारित्रका महत्व कम हो जायेगा, और उसके स्वीकार में रुचि भी नहीं होगी।

समाधान– सम्यक्चारित्र के जघन्य-मध्यम- उत्कृष्ट ऐसे तीन भेद हैं। अविरत सम्यग्दृष्टि को जघन्य स. चारित्र, देशव्रती को मध्यम तथा सकल व्रती को उत्कृष्ट चारित्र का सद्भाव मानने में कोई बाधा नही है। चारित्र के इस तरतमसद्भाव के कारण ही इनको जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट पात्र कहा है। जहाँ मोक्ष के तीनों गुणो का संयोग होता है उनको ही पात्र कहा है। यथा–

पात्रं त्रिभेदमुक्तं संयोगो मोक्षकारण गुणानाम्।
अविरत सम्यग्दृष्टि: विरताविरतश्च सकल विरतश्च॥ पु. सि.

अत: जहाँ स. चारित्रगुण का सद्भाव है वहाँ उसके उत्कृष्टता का आदर होगा ही होगा। उस तरतम भाव को वे उपादेय ही मानकर अग्रसर होंगे। तथा स्वरूपाचरण चारित्रवाला सयमाचरण को धारण करने की भावना में तत्पर होता ही है। यथा– तत्रादौ सम्यक्ताराधना प्रक्र में मुमुक्षुणा स्वसामग्रीत: समुभ्दूतमपि सम्यग्दर्शन मासन्नभव्यस्य सिद्धिसपादनार्थ आरोहत्प्रकर्षचारित्रं अपेक्षत इत्याह - सिद्धौ कस्यचि दुच्छ्रयत् स्वमहसा वृत्त सुहृन्मृग्यते।" इसका तात्पर्य यह है कि, आसन्नभव्य ऐसे मुमुक्षु जीवो को अपने ही निमित्त से उत्पन्न हुआ सम्यग्दर्शन भी उत्तरोत्तर उन्नतिशील चारित्र की अपेक्षा करता है। क्योकि मोक्ष मार्ग मे ऊपर चढ़ने के लिए स. दर्शन का चारित्र ही मित्र है। चारित्र के आधार बिना मोक्ष मार्ग मे वृद्धि नही है।

इसी कारण चारित्र की महिमा का वर्णन करते हुये पडितजी लिखते है–

अहो - व्रतस्य माहात्म्यं यन्मुखं प्रेक्षतेतराम्।

उद्योतेऽतिशयाधाने फलसंसाधने च दृक् ॥ २०/४ अन. ध.-

अहो, सयमाचरण चारित्र की महिमा का क्या वर्णन करे ? सम्यक्दर्शनको भी उत्पन्न होते समय, उत्पन्न होने पर सातिशयता लाने के लिये और उसका फल प्राप्त करने के लिये जिसके मुख के तरफ अधीरता से देखना पड़ता है, उसका ही नाम विरति है।

सा. ध. के मगलाचरण मे ही पडितजी प्रतिज्ञापूर्वक कहते हैं कि उत्कृष्ट सयमाचरण के धारी ऐसे यतिधर्म के जो अनुरागी है उनके धर्म को अर्थात् श्रावक धर्म को सविस्तार कहता हूँ।

इस तरह सम्यग्दर्शन के साथ सद्ज्ञान और सच्चारित्र की भी उत्पत्ति युगपत् जानकर उसके वृद्धि के लिये तपाचरण करने की प्रेरणा पंडितजी देते हैं–

श्रद्धानं पुरुषादितत्वविषयं सद्दर्शनं बोधनं।
सज्ज्ञानं कृतकारितानुमतिभिर्योगैरवद्योज्झनम्॥
तत्पूर्वं व्यवहारतः सुचरितं तान्येव रत्नत्रयं।
तस्याविर्भवनार्थमेव च भवेदिच्छानिरोधस्तपः॥ अन. ध. ९३/१

जीवादि सात तत्वों का श्रद्धान ही सम्यग्दर्शन है, उन तत्वों को समझना ही सम्यग्ज्ञान है, तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक कृतकारित अनुमोदना से हिंसादि पापों से दूर होना ही व्यवहार सुचारित्र है, (निश्चय चारित्र तो स्वरूपाचरण ज्ञानदर्शनरूप ही है), इनको ही रत्नत्रय कहते हैं। इसके अभिवृद्धि के लिये किये ही तप का आविर्भाव कहा है।

प्रश्न– हिंसादि से दूर होना तो संयमाचरण में अंतर्भूत है। विरति के बिना हिंसा का त्याग नही और हिसा के त्याग बिना सुचरित्र नही । अत अविरतसम्यग्दृष्टि को सुचरित्र कैसे सभव है ?

उत्तर– हिंसा दो प्रकार से होती है। एक हिंसा परिणमन रूप और दूसरी हिंसा से अविरमण रूप। यहा चौथे गुण स्थान मे संकल्पी हिंसा रूप परिणमन का अभाव है। इस अपेक्षा से सुचरित्र ही है। यथा–

"अथ, हिंसायाः परिणतिरिव अविरतिरपि हिंसात्वात् तत्फलप्रदा इति, हिंसा न करोमीति स्वस्थमन्यो भवान्माभूदिति ज्ञानलवदुर्विदग्ध बोधयति–

स्यान्न हिंस्यां न नो हिंस्यामित्ये व स्यां सुखीति मा।
अविरामोऽपि यद्वामो हिंसायाः परिणामवत् ॥३२/४ अन. ध.

हे सुख की इच्छा करने वाले आत्मन्। 'मैं यदि अहिंसा का पालन नही करता तो हिंसा भी नही करता, अतः मुझे अवश्य सुख प्राप्त होगा' ऐसा मानकर मत बैठ क्योंकि हिंसा के परिणाम की तरह 'मैं प्राणी के प्राणों का घात नही करूंगा' इस प्रकार के संकल्प का न करने रूप अविरति भी दुःखकारी है।

अमृतचंद्राचार्य ने पु. सि. उ श्लोक ४८ में इसी भाव को स्पष्ट किया है– "हिंसायाः अविरमणं हिंसा परिणमनमपि भवति हिंसा।"

अतः संकल्पी हिंसा का जहाँ अभाव ही है, वहाँ सुचरित्र मानना युक्त ही है। तथा पूर्व के प्रकरण में स्पष्ट किया है कि सातिचार व्रताचरण भी पाक्षिकाचार याने अविरतसम्यग्दृष्टि के सदाचार रूप ही है। रत्नत्रयव्रतविधान में पं. जी लिखते हैं कि 'समस्त पापों के अभाव रूप संवेग परिणाम से अलंकृत सम्यग्दर्शन होता है।' यथा–

संवेग मुख्यैः परमैः गुणौघैरलंकृतं ध्वस्तसमस्त पापं।
साष्टागमर्चामि सुदर्शनं तत्..... ॥५३ (दर्शनाधिकार)

अरे, मिथ्यात्व जैसा महापाप जहाँ नष्ट होता है वहाँ अन्य पापों की क्या कथा ? ऐसे सम्यग्दर्शन से सपन्न सुचरित को हमारा वन्दन हो। यथा– 'वन्दे दर्शनगोचर सुचरित मूर्ध्ना नमन्नादरात्।' र. व्र. वि.

जहाँ मिथ्यात्व के सद्भाव में ज्ञान के साथ चारित्र भी मिथ्या कहलाता है, वहाँ सम्यक्त्व के सद्भाव मे सम्यग्ज्ञान के साथ सुचरित्र की उत्पत्ति जानना और मानना यही सही बोधि दुर्लभ भावना है।

१० - *सम्यक् रत्नत्रय का स्वरूप तथा कार्य एकरूप*

पिछले प्रकरण मे रत्नत्रयकी उत्पत्ति युगपत ही होती है, यह समझाया। यहाँ दर्शन-ज्ञान और चारित्र का कार्य भी एक है इसको समझाते हैं।

प्रश्न– पापो का नाश तो सम्यक् चारित्र से ही होता है। उसे धारण करे बिना उसकी उत्पत्ति युगवत् कैसी ?

उत्तर– सम्यग्दर्शन के साथ सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र की भी उत्पत्ति होती है। सम्यग्दर्शन के कारण विद्यमान ज्ञानगुण जैसा सम्यक् होता है वैसा चारित्रगुण भी सम्यक् चारित्र हो जाता है। रत्नत्रय से पाप का नाश होता ही है, और मात्र सम्यग्दर्शन का वह कार्य है ऐसा भी कहा जाता है। यह अविनाभाव संबध के कारण एक गुण का दूसरे गुण पर आरोप ही है। यथा–

संवेगमुख्यैः परमैः गुणौघैरलंकृतं व्यस्त समस्त पापम्।
अष्टांगमर्चामि सुदर्शनं तद् धूपैः सुगंधीकृतदिग्विभागैः ॥ ५३ ॥ र. त्र. वि.

अर्थ– संवेग प्रधान गुणों से सुशोभित तथा समस्त पापों से रहित ऐसे अष्टांग सम्यग्दर्शन की जिनसे सब दिशाएं सुगंधित होती हैं ऐसे दशांग धूपों से पूजा करता हूं।

भावार्थ– सम्यग्दर्शन की बाह्य पहिचान जिन चार लक्षणों से होती है, उन प्रशम-संवेग-अनुकंपा और आस्तिक्य में मात्र आस्तिक्य ही सम्यग्दर्शन-ज्ञान का दर्शक है। तथा प्रशम-संवेग-अनुकंपा सम्यक् चारित्र के ही अंग हैं। यथा–

यो रागादिरिपून्निरस्य रभसा निर्दोषभावं गतः।
संवेगच्छल मास्थितो विकचयन् विश्वक् कृपाम्भोजिनीं॥
व्यक्तास्तिक्य पथ स्त्रिलोक महितः पंथा शिवश्रीजुषा-
माराद्धुं प्रणतीक्षितैः स भवतः सम्यक्त्व सूर्योऽवतात्॥ ८३ ॥ र. त्र. वि.
तथा ६५/२ अन. ध.

जो रागादि शत्रुको तत्काल दूर कर निर्दोषता को प्राप्त हुआ है (ऐसा प्रशम) जो सवेग भाव से युक्त है, जिसने संपूर्ण तथा कृपारूपी कलिका को विकसित किया है, तथा जो त्रिलोक पूज्य ऐसा मुक्ति पंथ (सप्त तत्वों का यथार्थ श्रद्धान ज्ञान रूप) जिनसे निर्णीत किया है ऐसा सम्यक्त्वसूर्य आप सभी का कल्याण करे।

यहा विशेष इतना समझना की, जैसे रागद्वेष आदि कषाय, नो कषाय चारित्र के ही घातक हैं, वैसे इंद्रिय विषय भोग (असंवेग) और हिंसादि पाप रूप प्रवृत्ति (अविरति या अनुकंपा अभाव) सम्यक् चारित्र का ही घात करने वाली है। अतः जहां प्रशम, संवेग और दया का एकदेश प्रादुर्भाव होता है, वहां सम्यक् चारित्र का सद्भाव ही समझना चाहिए।

अष्टांग सम्यग्दर्शन का स्वरूप समझाते समय पंडितजी कहते हैं कि सम्यग्दर्शनाराधना रूप , सम्यग्दर्शनाचार ही सम्यक् चारित्र है। यथा–

यो कस्मादपि नो बिभेति , न किमप्याशंसति क्वाप्युप-
क्रोशं नाश्रयते, न मुह्यति, निजाः पुष्णाति शक्तीः सदा।
मार्गान्न च्यवतेऽञ्जसा शिवपथं स्वात्मानमालोकते,
माहात्म्यं स्वमभिव्यनक्ति च तदा साष्टांग- सद्दर्शनम् ॥ ८१ ॥ र. त्र. वि.

(१) जिसको किसी भी प्रकार का भय नही है, (२) जो किसी की भी (पुण्य की व मोक्ष की) अभिलाषा (राग) नही करता, (३) जो किसी पर भी द्वेष-ग्लानि नही करता, (४) जो मूढ़ता (मोह) मूर्छारूप परिणाम नही करता, (५) आत्मगुणों का ही गुणगान करता है या पर दोषकथन न करके वचनगुप्ति-भाषासमिति का पालन करता है, (६) जो मोक्ष मार्ग में ही अपने को (तथा परको भी) देखता है याने लगाता है, (७) जो अपने समान सभी को शक्ति सपन्न करता है, और (८) जो मोक्षमार्ग से च्युत न होने के लिये सदा सभी के विकास की ही भावना भाता है वही साष्टांग सम्यग्दृष्टी जानना।

इससे स्पष्ट होता है कि पंडितजी दर्शनाचार, ज्ञानाचार तथा चारित्राचार ऐसी तीन धाराएं युगपत् मानते थे। जहां आगम प्रामाण्य याने आप्तवचन प्रमाणरूप ज्ञानधारा उत्पन्न होती है वहा आज्ञा सम्यक्त्व रूप दर्शनाचार तथा आज्ञाविचयरूप धर्मध्यान (चारित्राचार) का अस्तित्व स्वयमेव होता ही है।

यहा इतना विशेष समझना कि, (१) जहां संशयरहित सत् ज्ञान होता है वहा निशंकित दर्शनाचार तथा निर्भय चारित्र होता है, (२) जहा शंकारहित सम्यग्ज्ञान होता है वहा निःकांक्षित दर्शनांग तथा हास्य-रति नोकषाय और रागरूप मायालोभ कषायका यथा संभव अभाव से सम्यक् चारित्र होता है। (३) जहा विभ्रमरहित सज्ज्ञानाचार होता है वहां भी निर्विचिकित्सा ये दर्शनाचार तथा शोक अरति जुगुप्सा ये नोकषाय और द्वेषरूप क्रोधमान कषाय के अभाव के कारण भी सम्यक् चारित्र होता ही है। (४) जहां विपरीत (मोह) रहित सज्ज्ञान होता है वहा अमूढ़दृष्टि दर्शनाचार तथा षडायतन भक्ति रूप चारित्राचार होता ही है। (४) जहां उपधान समृद्धि रूप ज्ञानाचार होता है वहा उपबृहण दर्शनाचार तथा स्वग्रहण-(पर ग्रहण का अभाव) रूप (स्व पर भेद विज्ञान से उत्पन्न) मनोगुप्ति, संकल्पविकल्प रहित अहिंसारूप चारित्र होता ही है। अथवा जहां उपगूहण दर्शनाचार होता है वहां वचनगुप्ति, भाषासमिति, सत्यव्रतरूप चारित्र

रहता ही है। (६) जहां विनयमहात्म्य रूप ज्ञानाचार होता है वहां सुस्थितिकरण रूप विनयदर्शनाचार तथा विनय रूप चारित्राचार, तपाचार, उपचाराचार होता ही है। (७) जहां बहुमानसमृद्धिरूप ज्ञानाचार होता है, वहां वात्सल्य रूप दर्शनाचार तथा निर्व्याज प्रेम-आर्जवधर्मरूप चारित्र होता है। और (८) गुर्वाद्यनपन्हवरूप ज्ञानाचार होता है, वहां प्रभावनारूप दर्शनाचार तथा प्रथमादि चारों अनुयोग प्रकाशन, सभी जीवों के जीवन विकास के लिए सदाचार पालना या पालन कराना रूप चारित्राचार होता ही है।

इससे सिद्ध होता है कि सभी दर्शनाचार या चारित्राचार से पाप का अभाव अपेक्षित है। उदाहरण रूप में पं. जी उपबृहण अंग में सभी पापों का अभाव बताते हैं। उनका कहना है कि हिंसादि पंचपाप से विरति यदि सज्ज्ञानपूर्वक है तो सत् रूप ही है। उससे दर्शन तथा चारित्रका बृहण ही होता है। उपबृहण या उपगूहण में ऊपर हिंसा तथा असत्य का अभाव बताया ही है। तथा जहां, पर ग्रहण ही नही है, वहां चोरी कैसी ? जहां, पर का सेवन ही नही वहा अब्रह्म सेवन कैसा, तथा जहां, पर में मूर्छा नही, वहां परिग्रह पाप कैसा ? यथा--

हिंसाऽनृतचुरा ब्रह्मग्रन्थेभ्यो विरतिर्व्रतम्।
तत्सत्सज्ज्ञानपूर्वत्वात् सद्दृशश्चोपबृहणात्॥ १९/४ अन. ध.

इसका ऐसा अर्थ नही करना कि, अविरत सम्यग्दृष्टि को सभी पापों का सपूर्ण अभाव होता है। जहां जो जितना अभाव होगा वहां वह उतना मानना जरूरी है।

पंडितजी कहते हैं कि, सिद्धान्तग्रन्थों में सम्यग्दर्शन को पुष्ट करने वाले चार ही गुण सुने-देखे जाते हैं। यथा - "सिद्धान्ते तु चत्वारः एव दृग्विशुद्धर्थाः गुणाः श्रूयंते।" (अन. ध. १०३/२ टीका) तथैव आगे और भी समझाते है कि, 'विपरीत ज्ञान से ही मूढदृष्टि तथा आगे के चार दृष्टि दोष उत्पन्न होते हैं। यथा- "एतद् विपर्ययाश्चान्येऽनूपगूहनादयश्चत्वारो दर्शनदोषाः संभवंति।" (अन.ध. १०३/२ टीका)

अर्थात संशय, विभ्रम और मोह (विपरीत) के कारण ही ज्ञान मिथ्याज्ञान कहलाता था, वैसा दर्शन और चारित्र भी मिथ्या ही होता था। इनके अभाव में ज्ञान के साथ दर्शन और चारित्र भी सम्यक् हो जाते हैं।

उपर के कथन का यह अर्थ नही करना कि पंडितजी दर्शन के सिर्फ चार ही अग मानते थे। प्रथम चार अगों में शेष चार गुणों का अंतर्भाव सहज ही होता है। क्योंकि दर्शन के प्रथम चार अग निश्चय रूप अंतरंग निर्मलता के दर्शक हैं तो शेष चार अंग व्यवहार (बाह्य) चारित्र के (दर्शनाचार के) दर्शक है।

प्रश्न– प्रथम चार अगों में शेष चार अंगों का अंतर्भाव किस प्रकार होता है ?

उत्तर– (१) निःशकित अंग में - सुस्थितिकरण का

(२) निःकांक्षित में - निरपेक्ष प्रेम = वात्सल्य का

(३) निर्विचिकित्सा मे - दोषवादे च मौनं, या परदोषनिगूहनमपि रूप उपगूहण का, तथा

(४) अमूढदृष्टि में प्रभावना अंग का अंतर्भाव हो सकता है।

अत. मिथ्यात्व जैसे महापाप का जहा अभाव होता है वहां हिंसादि रूप पच पापों का यथा सभव अभाव मानना चाहिये।

प्रश्न– हिंसादि पच पापों के त्याग का तो सयमाचरण चारित्र में अंतर्भाव किया है। वह सयम पंचम गुणस्थान से ही प्रगट होता है ऐसा कहा- माना जाता है। और आप अविरत सम्यग्दृष्टि को ही समस्त पापों का यथासंभव अभाव बता रहे हैं। सो कैसे ?

उत्तर– यद्यपि व्यवहाररूपी बाह्य देशसयम पचम गुणस्थान से ही प्रारंभ होता है, तथापि निश्चय रूप एकदेश सयम का प्रारभ चतुर्थ गुणस्थान से ही मानना शास्त्र सम्मत है। क्योंकि अनतानुबंधी कषाय को संयम का भी घातक

कहा है। यथा– "असंयम स्त्रिविधः। अनंतानुबंध्य प्रत्याख्यान प्रत्याख्यानोदयविकल्पात्। तत्प्रत्ययस्य कर्मणः तदभावे संवरोऽवसेयः।" (सर्वार्थसिद्धि तथा रा.वा.) अतः जहां जिस कारण का अभाव है वहां उसके अभावरूप संवर (चारित्र) मानना चाहिये। इसी कारण अनंतानुबंधि कषाय के अभाव के कारण चतुर्थी गुणस्थान में निश्चय से अंशतः संयम की उपलब्धि मानी गयी है। (२) धर्म के दशलक्षण में भी असंयत् सम्यग्दृष्टि को संयमधर्म का अस्तित्व माना है। (३) निःशल्यो व्रती ऐसा सूत्रकार कहते ही है।

प्रश्न– यदि ऐसा है तो फिर चौथे गुणस्थान को असंयत् क्यों कहा ?

उत्तर– जैसे देवायु से च्युत होने पर जीव मनुष्यायु को तो धारण करता है किंतु जब तक वह गर्भ से बाहर नही आता तब तक उसका 'जन्म हुआ' ऐसा कहा नहीं जाता। उसी प्रकार अविरत सम्यग्दृष्टि संयम को उपादेय मानता है तथा संयम की विराधना भी नही करता है किंतु जब तक वह द्रव्यतः संयम को स्वीकार नहीं करता तब तक उसको असंयत ही कहते हैं। इसका ऐसा अर्थ नहीं करना कि जैसा प्रथम गुणस्थान में जीव असंयत होता है, वैसा ही चतुर्थ गुण स्थान में होगा। क्योंकि असंयत के भी असंख्यात भेद होते हैं। अतः असंयत परिणाम में तरतमभाव समझना योग्य है।

पहले गुणस्थान से यहा च. गुणस्थान के असंयम में अधिक विशुद्धि होती ही है।

प्रवचनसार टीकाकार श्री अमृतचंद्राचार्य कहते है कि - "संयमः सम्यग्दर्शनज्ञान पुरस्सरं चारित्रम्।" सम्यग्दर्शन तथा सम्यग्ज्ञानपूर्वक होने वाला चारित्र ही सयम है। इसी प्रकार धवला में कहा है - "सो संजमो जो सम्मत्ताविणाभावी।" अर्थ- संयम उसे कहते हैं जो सम्यक्त्व से अविनाभावी होता है।

प्रश्न– संयम का गुप्ति और समिति से भी संबंध बताया जाता है। तो क्या गुप्ति और समिति का भी अस्तित्व चतुर्थ गुण स्थान में होगा ? यदि हां तो उनका स्वरूप और कार्य का स्पष्टीकरण कीजिए।

उत्तर– मन-वचन-काय के दुष्प्रवृत्ति से निवृत्ति को गुप्ति कहते हैं। निश्चय गुप्ति तो स्वरूपाचरण चारित्र ही है। निवृत्ति सापेक्ष ऐसे सम्यक् प्रवृत्ति को समिति कहते हैं। यह समिति वस्तुतः पंचेंद्रिय के तथा मन के विषय से निवृत्ति रूप होती है। अतः इसे भाव संयम भी कहते हैं। यह संयम निश्चय गुप्ति का याने स्वरूपाचरण का पूरक ही होता है। इस समय जो बाह्य आचरण (प्रवृत्ति) होता है उसे द्रव्य संयम कहते हैं, तथा पंच पापों से निवृत्ति को या पचस्थावर और त्रसकी हिंसा से निवृत्ति को विरति कहते हैं।

यद्यपि अविरति के बारह भेदों में असंयम को गिनाया है तथापि जो त्याग इंद्रियों के तथा मन के विषय को रोकता है उसे संयम कहते हैं, और जो पापो का अभेदरूप या भेदरूप त्याग होता है उसे विरति कहते है। विषय सेवन मे अभिलाषा मूल है और हिंसा मे प्रमाद परिणति मूल है।

मन के विकार वचन तथा कायसे व्यक्त होते हैं। अतः दुर्वचन को रोकने के लिए वाग्गुप्ति या भाषा समिति कही है। तथा कायके दुश्चेष्टा को रोकने के लिये कायगुप्ति या ईर्याएषणा-आदान निक्षेपण और उत्सर्ग समिति का विधान है। इसी कारण सिद्धान्त मे समिति विरति को ही सयम कहा है।

तथैव सम्यग्दर्शन के जो पाच अतिचार कहे हैं उसका अभाव होना ही निश्चयगुप्ति है। यथा-शका तथा काक्षा-मन में ही उत्पन्न होती है।

अत· उनका अभाव ही मनोगुप्ति है। विचिकित्सा और परप्रशसा यह वचन के दोष है, अत इनका अभाव ही वचनगुप्ति है। तथा अनायतन सेवा का अभाव ही सही कायगुप्ति है। सच्चे देव-गुरु-शास्त्र तथा उनके धारक इनका ही वैयावृत्य करना सही भक्ति या आराधना है, याने सम्यक् चारित्र का ही अनुसरण है।

प्रश्न– सयमाचरण चारित्र के सामायिकादि भेद कहे हैं, तो क्या सामायिक चारित्रका अशत. सद्भाव चतुर्थ गुण स्थान में मानना ?

उत्तर– "आर्तरौद्रपरित्याग स्तद्धि सामायिकव्रतम्।"ऐसा श्रुत वचन है। अत धर्म ध्यान का प्रारभ ही आर्तरौद्रध्यान का अभाव दर्शाता है। वह ही

निश्चय से सामायिक है। यहां इतना विशेष समझना कि, यद्यपि पंचम-षष्ठम गुण स्थान में भी आर्तरौद्रध्यान का यथा स्थान सद्भाव कभी-कभी पाया जाता है, तथापि जब जहां उसका अभाव होता है तब वहां धर्म ध्यान का सद्भाव माना ही गया है। अत: धर्मध्यानरूप सामायिक चारित्र का सद्भाव चतुर्थ गुणस्थान में मानने मे बाधा नहीं है। तथाहि—

(१) समयो दृग्ज्ञानतपोयमनियमादौ प्रशस्तसमगमनम्।
स्यात्समय एव सामायिकं पुनः स्वार्थिकेन ठणा॥ २०/८

(२) साम्यागमज्ञतद्देहौ तद्विपक्षौ च यादृशौ।
तादृशौ स्तां परद्रव्ये को मे स्वद्रव्यवद् ग्रहः॥

(३) मैत्री मे सर्व भूतेषु वैरं मम न केनचित्।
सर्वसावद्य विरतोऽस्मीति सामायिकं श्रयेत्॥

अर्थ– (१) दर्शन-ज्ञान-तप-यम-नियमादि में सम्यक् जानना-मानना और रमना ही समय है। तथा समय ही सामायिक है।

(२) साम्य-समता ही सामायिक है। कर्म, नो कर्म तथा विपक्षीभूत भाव कर्म जो जैसे होगे वैसे हो, उनमे स्वद्रव्यवत् मेरा ग्रहण कैसा ? यहा बाह्य परिणमन का मात्र ज्ञाता या स्वग्रहण रूप स्वानुभूति ही सामायिक चारित्र बताया।

(३) सपूर्ण जीवो से मेरी मैत्री रहे, किसी से भी वैर न हो। तथा मैं सर्व पापो से विरत होता हूँ ऐसी भावना ही सामायिक है।

इसमे स्पष्ट किया गया है कि, जहा दर्शन-ज्ञान भावना होती है वहा तप-यम-नियम रूप चारित्राराधना रहती है।

प्रश्न– जिस समय यह सम्यग्दृष्टि जीव आर्तरौद्ररूप परिणमता है, उस समय सम्यक् चारित्र का अभाव तो होता ही होगा ?

उत्तर– चारित्र गुण की दो अवस्थाए होती है एक लब्धि रूप और दूसरी प्रवृत्ति रूप। जब यह सम्यग्दृष्टि जीव आर्तरौद्ररूप परिणमता है तब प्रवृत्तिरूप चारित्र मे ही दोष लगाता है। इसे अतिचार भी कहते हैं। यह सयमाचरण

चारित्र का ही परिणमन है। किंतु इसी समय लब्धिरूप याने श्रद्धा-ज्ञान में रमणरूप जो स्वरूपाचरण है वह तो रहता ही है। अतः सम्यग्दृष्टि के आर्तरौद्ररूप परिणति के समय भी उसको सम्यक् चारित्र का सद्भाव माना गया है। यथा—

दंसणभट्टा भट्टा दंसणभट्टस्सणत्थि णिव्वाणं।
सिज्झंति चरिय भट्टा दंसणभट्टा ण सिज्झंति॥ द. पा.

तात्पर्य यह है कि, दर्शन भ्रष्ट ही भ्रष्ट है उसको निर्वाण प्राप्ति नही है। किंतु (सयम) चारित्र से भ्रष्ट होने पर भी यदि वह दर्शन से भ्रष्ट नही है तो वह सिद्ध हो सकता है। क्योंकि वह मिथ्या चारित्रवाला नही है। और निर्वाण का भागीदार (मुमुक्षु) ही है। अतः वह संयम को सुधार कर मोक्ष पा सकता है। दर्शन भ्रष्ट तो सर्वतो भ्रष्ट ही है। उसका चारित्र भी मिथ्याचारित्र है। इसी लिए सम्यग्दृष्टि के दोष लगने पर उसका उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य, आदि द्वारा प्रभावना ही करने को कहा है।

प्रश्न– यदि वे न सुधरे तो ?

उत्तर– उनका जैसा होनहार होगा वैसा होगा। किंतु उनका निमित्त पाकर सम्यग्दृष्टि स्वकी वचनगुप्ति क्यों बिगाड़े ? जुगुप्सा द्वेष में क्यों प्रवर्ते ? विनयाचार या वात्सल्य को क्यो दूषित करे ? तथा विकारी बनकर अपना घात क्यो करे ? अतएव पडितजी कहते हैं कि, "हे आत्मन्। पर पदार्थ के निमित से उत्पन्न होने वाले रागद्वेष को उत्पन्न होने नही देना ही तत्वज्ञान का सही ग्रहण (फल) है। तू गुणों का पुन. पुनः स्मरण कर तथा निर्विकल्प आनंद का अनुभव ले।"

पडितजी पुन: कहते हैं कि, "सक्षेप से कहता हूँ कि सम्यक्त्व और चारित्र ये दो ही या सम्यक् चारित्र एक ही आराध्य है। क्योंकि वही फल है। यथा— "एतेन सक्षेपतः सम्यक्त्व चारित्रे द्वे एवाराध्ये, सम्यक् चारित्रमेकमेव चेत् फल स्यात्।" (अन. ध. २०/८ टीका)

११ - मोक्ष मार्ग में पाप के समान पुण्य की हेयता

सम्यग्दर्शन की उत्पत्ति में जिन सात तत्वों को यथार्थ ज्ञान श्रद्धान अभिप्रेत है उसके आस्रव तत्व में पाप पुण्य का भी अंतर्भाव हो ही जाता है। कहीं कहीं पाप पुण्य का अलग से भी वर्णन मिलता है, वह इसलिए कि उनके स्वरूप के धारणा में कही गलती न रह जाय। इसीलिये पाप पुण्य के संबंध में पं. आशाधर जी की क्या मान्यता थी ? इस प्रश्न का जवाब आगे के विवेचन में स्पष्ट हो रहा है।

अथ निश्चयरत्नत्रय लक्षण निर्देश पुरस्सरं मोक्षस्य, संवरनिर्जरयोः बन्धस्य च कारणं निरुपयति—

मिथ्यार्थाभिनिवेशशून्यमभवत् संदेहमोहभ्रमं,
वांताशेष कषाय कर्म भिदुदासीनं च रूपं चितः।
तत्वं सदृगवाय वृत्तमयनं पूर्णं शिवस्यैव तत्,
रुंद्धै निर्जरयत्यपीतर दघं बंधस्तु तव्द्यत्ययात् ॥९१/१ (अन. ध.)

विपरीत तथा एकान्त रूप पदार्थ के ग्रहण से रहित स. दर्शन, संदेह-मोह-भ्रम से रहित स. ज्ञान तथा संपूर्ण कषाय- नोकषाय से रहित और कर्मों का अभाव करने वाला ऐसा जो आत्मा का उदासीनरूप स्वरूप है वहीं स. चरित्र तत्व उपादेय (उपासनीय) है। ऐसे सम्यग्दर्शन-ज्ञान- चारित्र रूप परिणाम की पूर्णता तो साक्षात मोक्ष के लिए ही कारण है। तथा रत्नत्रय की अपूर्णता भी पाप रूप कर्मों के संवर निर्जराका कारण है। किंतु जीवको होने वाला जो कर्मबंध है वह सर्वथा मोक्ष में व्यत्यय करने वाले मिथ्यात्व-अज्ञान-अचारित्र से ही होता है। चौथे गुण स्थान के आगे मिथ्यात्व के अभाव में सम्यग्ज्ञान तो होता है किंतु जो अचारित्र शेष रहता है उससे ही कर्मबंध होता है। वह अविरति-प्रमाद- कषाय-योगरूप यथा स्थान समझना।

प्रश्न— यहाँ अघरूप (पापरूप) कर्मों की ही संवरनिर्जरा होती है ऐसा कहा है। इससे अपूर्ण रत्नत्रय से पुण्य बंध होता है ऐसा भाव प्रतीत होता है। तो क्या यह बराबर है ?

उत्तर– नही, यहाँ अघ अर्थात् पुण्य पाप रूप दोनों कर्मों की सवर-निर्जरा अपेक्षित है। क्योंकि दोनों भी कर्म जीवका अपकार करने रूप होने से अशुभ ही है। यथा- "अघम् =अशुभकर्म, पुण्य पापद्वय वा। सर्वस्य कर्मणो जीवोपकारकत्वेन अशुभत्वात्।"

प्रश्न– सपूर्ण जिनागम पाप को अशुभ और पुण्य को शुभ मानता है और आप यहा पुण्य को भी अशुभ कहते हैं सो कैसे ?

उत्तर– समय सार पुण्य पापाधिकार के प्रारभ मे ही कहा है कि, 'संपूर्ण कर्म अशुभ होने से कुशील ही है। इस पर शिष्य पूछता है कि 'शुभकर्मों को तो सुशील कहना चाहिये ?' इस पर आचार्य उत्तर देते हैं कि जो संसार में प्रवेश कराता हो उसको सुशील कैसे कहना ? यथा–

कम्मं असुहं कुशीलं, सुहकम्मं चावि जाणह सुसीलं।
कह तं होई सुशीलं जो संसारं पवेसेदि ॥ स. सार

इसी कारण पुण्य और पाप दोनों कर्मों को अशुभ तथा कुशील ही समझना चाहिये।

इसका आगे चलकर अधिक खुलासा करते हुए पडितजी लिखते हैं "आस्तिक्यमखिलतत्वमति। हेयस्य परद्रव्यादेर्हेयत्वेन, उपादेयस्य च स्वशुद्धात्मस्वरुपस्य उपादेयत्वेन प्रतिपत्ति.। अखिलाना स्व पर द्रव्याना तत्वेन हेयोपादेयत्वेन मति प्रतिपत्तिरिति विग्रह।" पर द्रव्य का हेयरूप और स्वशुद्धात्मस्वरूप का उपादेयरूप जो श्रद्धान-ज्ञान है उसका नाम आस्तिक्य है। इसमे सातो तत्वो का ज्ञान अतर्भूत है।

इसका तात्पर्य यह है कि, सपूर्ण पर द्रव्यो का तत्व से ही हेयरूप और स्व से उपादेय रूप बुद्धि और श्रद्धा होना श्रेयस्कर है। द्रव्यकर्म तो पर द्रव्य ही है, अत सारे कर्म भी हेय ही ठहरे, इसमे पुण्य शुभ और पाप अशुभ ऐसा विकल्प करने से क्या लाभ ?

शंका– यदि आप पुण्य को भी अशुभ और हेय कहते हैं तो शुभाचार भी हेय ठहरा। अत: उसका भी लोप हो जायेगा। तथा इससे व्रताचरण का उपदेश देने वाले चरणानुयोग का ही अपलाप होगा।

समाधान– जिनागम में सर्वत्र शुभाचार को उपादेय मानकर उसमें प्रवृत्त होने का निषेध है। शुभाचार को हेय मानने वाले सम्यग्दृष्टि की प्रवृत्ति केवल स्वामित्व भाव से रहित होकर शुभाचार में ही होती है, यदि वह स्ववश होकर शुद्धोपयोग में आ जाय तो वह अभिप्रेत याने इष्ट ही है। तथा शुभाचार को यदि उपादेय माने तो उसके फल को भी उपादेय मानना पड़ेगा और उस फल की इच्छा करना तो संसार की ही इच्छा करना है। अत: मुमुक्षु पुण्य की भी इच्छा नही करता। यथा–

> या रागात्मनि भंगुरे परवशे सन्तानतृष्णारसे,
> दुःखे दुःखद बंध कारणतया संसार सौख्ये स्पृहा।
> स्याज्ज्ञानावरणोदयैक जनित भ्रान्तेरिदं दृक्तपो,
> माहात्म्यादुदियान्ममेत्यतिचरत्येवैव कांक्षा दृशम् ॥

राग ही जिनका स्वरूप है, जो क्षण भंगुर है, परवश है, संताप और तृष्णा ही जिसका फल है, दुःख रूप है तथा दुःखद ऐसे बंधों का कारण होने पर भी संसार सुख में इच्छा होती है क्योंकि सम्यग्दृष्टि के तप के महात्म्य से मिलने वाले फल संबंधी जो ज्ञानावरणीय कर्मजनित अज्ञान है उससे ही यह भ्रान्ति हुई है। इसमे दर्शनमोहनीय (मिथ्यात्व) का सहाय न होने से यह भी सम्यग्दर्शन का अतिचार दोष ही है।

इतने पर भी यदि जीव, पुण्य फल की इच्छा करता है तो उसके सम्यक्त्व के फल की हानि होती है, ऐसा कहते हैं–

> यल्लीलाचललोचनान्चलरसं पातुं पुनर्लालसाः,
> स्वश्रीणां बहु रामणीयकमदं मृद्नन्त्यपीन्द्रादयः।
> तां मुक्ति श्रियमुत्कयद्विद धते सम्यक्त्वरत्नं भव,
> श्री दासी रति मूल्यमा कुलधियो धन्यो ह्यविद्यातिगः ॥

जिसकी लीला से चंचल हुये नेत्रों के कटाक्ष रूपी रसका पान करने के लिये आतुर इंद्रादि भी अपनी लक्ष्मी के (देवियों के) संभोग के मस्ती को चूर-चूर कर देता है, उस मुक्ति लक्ष्मी को उत्कण्ठित करने वाले सम्यक्त्व रत्न को, विषय सेवन के लिये उत्सुक (आकुलित बुद्धि वाले) पुरुष संसार लक्ष्मी रूपी दासी के साथ संभोग करने के लिये भाड़े के रूप में दे डालते हैं। अत: जो अविद्या के (इच्छा के) जाल में नही फसता वह धन्य है।

आगे कहते हैं कि , सम्यक्त्व आदि से पुण्यकर्म का सचय करने वाले मनुष्यो को संसार सुख की आकांक्षा करने से कुछ भी लाभ नही होता। यथा- 'अथ सम्यक्त्वादिजनितपुण्याना संसार सुखाकांक्षाकरणे न किमपि फलमिति दर्शयति--

तत्त्वश्रद्धान बोधोपहित यम तपः पात्रदानादिपुण्यं,
यद्गीर्वाणाग्रणीभिः प्रगुणयति गुणैरर्हणामर्हणीयैः।
तत्प्राध्वंकृत्य बुद्धिं विधुरयसि मुधा क्वापि संसार सारे,
तत्र स्वैरं हि तत्तामनुचरति पुनर्जन्मनेऽजन्मने वा॥ ७७/२ अन. ध.

तत्वश्रद्धान, तत्वज्ञान, विशिष्ट यम-तप, पात्रदान आदि से प्राप्त पुण्य तो उत्कृष्ट रूप से तीर्थ करत्वादि पद को, जो कि इंद्रों से भी पूजनीय है तथा फिर से जन्म लेना न पड़े ऐसे पुनर्जन्म में याने चरम शरीरी होकर जन्म लेने के लिये कारण है, उस पुण्य से तू क्यों व्यर्थ ही दीन ऐसे संसारपद देने वाले स्वैर फल की इच्छा करता है ?

तात्पर्य यह है कि, 'इस पुण्यो दय से अमुक अभ्युदय या अतिशय प्राप्त हो ऐसी भावना तू, इस आकुलता से ग्रस्त ससार मे कही भी तथा कभी भी मत कर। यथा– "क्वापि क्वचिदाकांक्षा क्रोडीकृते संसार सारे भवरसे अस्मात् पुण्योदयादभ्युदयातिशयो मे भूयादिति वृथा कल्पयसीत्यर्थः।"

तृष्णावान् जीव को जगाते हुये प. जी लिखते हैं - "यह शरीर चाम से आच्छादित होने से ही गृद्ध आदि से बचा हुआ है। फिर भी वही शरीर शुद्ध

स्वरूप को देखने वाले आत्मा का निवास स्थान होने से पवित्रता का कारण है। अतः इससे इस जगत में सर्वोत्कृष्ट पद संपादन कर।" यथा—

> निर्माबास्वगयिष्यदंगमनया वेधा न चोद्वेत् त्वचा,
> तत्क्रव्याद् भिरखण्डयिष्यत खरं दायादवत् खंडशः।
> तत्संशुद्ध निजात्म दर्शनविधावग्रेसरत्वं नयन्,
> स्वस्थित्येक पवित्रमेतदखिल त्रैलोक्य तीर्थं कुरु॥ ६९॥

जैसे पैतृक धन को भाई लोग बंटवारा करके खंड-खंड कर देते हैं उसी प्रकार यदि इस (सुंदर दिखने वाले) शरीर को चाम से न ढका होता तो कौवे इस मास पिण्ड को खंड-खंड कर देते। ऐसे शरीर के संरक्षण संवर्धन में समय न खोते हुये विशुद्ध निज आत्मानुभूति के लिये ही अग्रसर होकर आत्मस्थिरता के द्वारा ही संपूर्ण त्रैलोक्यका तीर्थ बन जा अर्थात् परमात्मा बन जा।

पुण्य रूप शुभराग को आस्रवतत्व ही बताकर उसके दोषों का विचार कराते हैं—

> युक्ते चित्तप्रसत्या प्रविशति सुकृतं तच्दविन्यत्रयोग, -
> द्वारेणाहत्य बद्धः कनक निगडवत्तेन शर्माभिमाने।
> मूर्छन् शोच्यः सतां स्यादतिचिरमयमेत्यात्त संक्लेशभावे,
> यत्वं, हस्तेन लोहान्दुकवदसितच्छिन्नमर्मैव ताम्येत्॥ ७०/६ अन. ध.

जिस समय यह जीव प्रशस्त राग परिणाम से युक्त होता है, तब मन-वचन-काय के योग द्वारा बंधा जाता है। जैसे कोई राजपुरुष सोने की बेडियों से बंधा जाने पर भी अपना बड़प्पन मानकर सुखी होता है, तो वस्तुस्थिति को समझाने वाले उस पर खेद ही प्रगट करते हैं, उसी प्रकार पुण्य कर्म से बद्ध होने पर भी 'मैं सुखी हूं' इस प्रकार का अहंकार करके पल्योपम आदि लम्बे काल तक मोह में पड़े व्यक्ति पर तत्व दर्शीजन खेद ही प्रगट करते हैं। क्योंकि यह प्रशस्त परिणाम वहां भी अखंड नहीं रहते हैं, इष्ट पदार्थ के संयोग में मूर्छा होती ही है, उससे चिरकाल तक (अनंतकाल तक) रहने वाले पाप बंध

होता है। इससे ऐसा दुःखी होता है जैसा कोई अपराधी लोहे की सांकल से बंधे जाने पर मर्मस्थान के छिद जाने से दुःखी होता है।

आगे 'जो मुमुक्षु आस्रव को रोक देता है उसका कल्याण होता है। आस्रव को न रोकने पर तुरन्त ससार में भ्रमण करना पड़ता है,' ऐसा उपदेश देते हैं - (अथ, आस्रवं निरुन्धानस्यैव मुमुक्षोः क्षेमं स्यादन्यथा दुरन्त संसारवासः इत्युपदेष्टुमाह)

> विश्वांतक विमुक्त मुक्ति निलय द्रंगाग्रिमाप्त्युन्मुखः,
> सद्रत्नोच्चयपूर्णमुष्टदविपद्दीतो भवाम्भोनिधौ।
> योगाच्छिद्रपिधान मदधदुरुद्योगः स्वपोतं नये-
> न्नो चेन्मंक्षति तत्र निर्भरविशत्कर्माम्बुभारादसौ॥ ७१/६ अन. ध.

संपूर्ण आतकों से रहित तथा श्रेष्ठतम ऐसा जो मुक्ति महत्व उसके सभोवताल जल की खाड़ी है। उसमे से पार उतरने को सद्रत्नों से भरी हुई नौका में बैठकर यह सम्यग्दृष्टि जीव काल यापन करता हुआ ससार से प्रलोभन रूप अनेक विपत्तियों से घिरा हुआ है। जैसे नावका छेद बंद करके ही नाविक यथा स्थान पहुँच सकता है, उसी प्रकार मन वचन काय योग रूपी आस्रवों के द्वार बद करने पर ही यह मुक्ति महल पहुँच सकेगा। अन्यथा रागभाव से आये कर्मों के भार से यह ससार सागर मे डूब जायेगा।

इसी भाव का समर्थन पंडितजी ने इष्टोपदेशटीका मे भी किया है। यथा– "तदैहिकफलाभिलाष त्यक्त्वा आमुत्रिकफलसिध्यर्थ मेव आत्मा ध्यातव्यः।" (श्लोक २० टीका) इहलोक सबधी फल की अभिलाषा छोड़कर परलोक में उत्कृष्ट फल प्राप्ति के लिये ही आत्मा का ध्यान करना चाहिये।

आगे पुनः पडितजी कहते हैं कि, "जिस अज्ञानी को हेय उपादेय तत्व का ज्ञान नही है, वह पुण्य से प्राप्त देहादिक पर द्रव्यों का गुणगान करता है। उसमें अपना पुरुषार्थ मानता है, उसी का किसी भी गति में कर्म संबंध छूटने वाला नही है।" यथा– यः पुनरविद्वान् हेयोपादेयतत्वानभिज्ञः पुद्गलद्रव्यं

देहादिकमभिनंदति श्रद्धते, आत्मात्मीय भावेन प्रतिपद्यते तस्य जन्तोः तत्पुद्गलद्रव्यं चतुर्गतिषु सामीप्यं संयोग संबंधं न मुंचति।

शंका– यह सब कथन निश्चय नयका है, वह निश्चयनय मात्रमुनि के लिये उपादेय है। श्रावक का धर्म व्यवहार-धर्म है और श्रावक के लिये पुण्य कथंचित्‌ उपादेय भी है। इसलिए पुण्य को सर्वथा हेय मानकर एकान्त नहीं करना चाहिये। क्योंकि जैन धर्म अनेकान्तमय है।

समाधान– निश्चय धर्म और व्यवहार धर्म ऐसे धर्म के दो भेद नहीं हैं। धर्म का कथन मात्र दो प्रकार से होता है। वस्तु को मूल स्वभाव रूप से जानना और मानना यह निश्चय है, तथा वस्तु को संयोग रूप या भेद रूप से जानना और मानना ही व्यवहार है। तथैव मुनिधर्म और श्रावक धर्म ऐसे धर्म के दो भेद नहीं है। मात्र चारित्र के तरतमता के कारण उत्पन्न पात्र भेद से यह भेद है। श्रद्धान और ज्ञान के दृष्टि से श्रावक तथा मुनि में कोई भेद नही है। पुण्य तत्व को हेय मानना यह सम्यग्दर्शन का अंग है। वैसी मान्यता होगी तो वैसा ही वह विरति रूप संयम धारण करेगा। जब सम्यग्दर्शन होता है, तब जीव के देशसयम या सकल संयम होना ही चाहिये ऐसा नियम नही है; किन्तु आस्रव तत्व को हेय ही मानना चाहिये।

इसके समर्थन हेतु सागार धर्मामृत में आये हुए पंडितजी के वचन इस प्रकार हैं–

> भूरेखादिसदृक्कषाय वशगो यो विश्वदृश्वाज्ञया,
> हेयं वैषयिकं सुखंनिज मुपादेयं त्विति श्रद्धधत्।
> चौरो मारयितुं धृतस्तलवरेणैवात्मनिंदादिमान्,
> शर्माक्षं भजते रुजत्यपि परं नो तप्यते सोऽप्यघैः॥ १३/१

भू रेखा आदि के समान अप्रत्याख्यानावरण आदि कषाय के वशीभूत यह जीव, 'वैषयिक सुख हेय है और निज आत्मसुख ही उपादेय है' ऐसी सर्वज्ञदेवकी आज्ञा को मानता है। अतः मारने के लिये पकड़े गये चोर के समान

आत्मनिंदा करने वाला यह सम्यग्दृष्टि जीव इंद्रिय भोग को भोगता है और पर पीड़न भी करता है किन्तु तीव्र पाप से बद्ध नहीं होता है।

आगे पंडितजी कहते हैं कि, "भावी भोगादिकों की इच्छा भी मत कर क्योंकि वह रोगादिकों की तरह दुःखदायी ही है। इष्ट देवता को प्रसन्न कर उसे कौन सूज्ञ पुरुष कालकूट (विष) का वर मांगेगा ?" यथा–

मा कांक्षीर्भाविभोगादीन् रोगादीनिव दुःखदान्।
वृणीते कालकूटं हि कः प्रसाद्येष्ट देवताम्॥६३/८ सा. ध.

यहाँ इतना विशेष समझना कि भावी भोगाकांक्षा का नाम निदान है, और वह है आर्तध्यान। आर्तध्यान संसार बंधका ही कारण है। अतः पुण्य के फल की इच्छा भी संसार बंधका ही कारण है।

प्रश्न– सातिशय पुण्य को परंपरा मोक्ष का कारण कहा है। उसको उपादेय माने बिना तदनुरूप आचरण होगा भी कैसे ?

उत्तर– पुण्यानुबधी पुण्य को सातिशय पुण्य कहते हैं। भावी पुण्य का बध पुण्य के भोग से तो दूर किंतु पुण्य की इच्छा से भी नही होता। मात्र पुण्य फल के त्याग से होता है। यथा– "न विषयभोगो भाग्य, भाग्य विषयेषु वैराग्यम्॥"

अथवा, सम्यग्दृष्टि के पुण्य को सातिशय पुण्य कहते हैं। तथा पुण्य के राग से नही, तो सपूर्ण वीतरागता को ही उपादेय मानने से सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है। अहो। आशा रूप परिणाम तो शल्य ही है, और चाहे मुनि हो या श्रावक, वह यदि निःशल्य है तो ही 'व्रती' कहलाता है अन्यथा नही। यथा - "सागारो वाऽनगारो वा यन्निःशल्यो व्रतीष्यते।"

शंका– चरणानुयोग मे तो पुण्य को कथंचित् उपादेय माना है।

समाधान– अनगार धर्मामृत या सागार धर्मामृत ये चरणानुयोग के ही शास्त्र हैं। चरणानुयोग जब द्रव्यानुयोग सापेक्ष होता है तभी वह कार्यकारी कहा जाता है, यह पहले एक प्रकरण मे स्पष्ट किया ही है।

तथा पूजन विभाग रूप चरणानुयोग भी पुण्य को हेय जानकर ही, उसे भगवान के सामने अर्पण करता है। यथा—

पुण्यानुपुंजैरिव तंडुलौघैः पुंजैः शरच्चंद्रकरावदातैः।
व्रतानि सत्यप्रभृतीनि हर्षात् गुप्तित्रयंचाथ समितिश्च पंच॥ २६ र. व्र. वि.

पुण्य के पुंजरूप तथा शरद् कालीन चंद्रकिरणों के समान स्वच्छ अक्षतों के पुंज से सत्यादि पंच महाव्रत, तीन गुप्ति तथा पंच समिति की हम पूजा करते हैं।

अभिषेक के अनंतर पूजन के प्रारंभ में स्वस्ति वचनरूप जो स्थापना पाठ बोला जाता है उसमें भी पंडितजी कहते हैं—

अर्हन्। पुराणपुरुषोत्तम। पावनानि,
वस्तूनि नूनमखिलान्ययमेक एव।
अस्मिन् ज्वलद् विमलकेवलबोधवन्हौ,
पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि॥

हे अरिहन्त, पुराण पुरूषोत्तम। इस जगत में यदि पावन वस्तु हो तो वह अकेला आत्मा ही है। वह ज्ञानस्वरूप ही है। अतः इस केवल ज्ञान यज्ञ में मैं एकाग्रता से समग्र पुण्य की आहुति देता हूँ। अर्थात् आशय यह है कि, भगवान के सामने केवल ज्ञान प्राप्ति के लिये या शुद्धोपयोग साधने के लिये पुण्य के त्याग का सकल्प करता हूँ। इसी तरह अरिहंताष्टक में पडितजी कहते हैं।

आमोदमाधुर्य निधानकुन्दै सौंदर्य शुम्भत्कलमक्षतानां।
पुंजैः समक्षैरिव पुण्यपुन्जै र्विभूषयाम्य प्रभुवं विभूनाम्॥

आनंद और मिठास के रस से युक्त तथा सौदर्य की खान ऐसे अक्षतों के समूह से जो मानो पुण्य का ही पुज है, उसे प्रभु के चरणों के सामने रखकर उनको विभूषित करता हूँ। अग्रभूमि शब्द का अर्थ ध्येय- आदर्श भी होता है। वैसा अर्थ करने से 'जैसे प्रभु ने वीतरागी बनकर शुद्धोपयोग का अवलंब किया वैसे मैं भी पाप पुण्य की अभिलाषा छोड़कर उनका ही आदर्श सामने रखकर शुद्धोपयोग धारण करने के हेतु से शुद्ध अक्षतको समर्पण करता हूँ।

प्रश्न- क्या भगवान के सामने पुण्य का त्याग बोलने मात्र से केवल ज्ञान की या मोक्ष की प्राप्ति हो सकती है ?

उत्तर- रत्नत्रय की साधना शुद्धोपयोग रूप होती है, और शुद्धोपयोग वीतराग रूप ही होता है। उसे ही मोक्षमार्ग कहते हैं। श्रद्धा में होगा तो ही बोलेगा, बाह्य परिग्रह के संयोग को यह हेय अर्थात् दु:खदायी तो मानता ही है। परिग्रह का जब छूटना होगा तब होगा, किंतु उसकी भावना करना ही आज इसका कर्तव्य है। 'भावना भवनाशिनी' कहा है।

तथा श्रावक दशा में भी रत्नत्रय की साधना कैसी घटित होती है, यह सा.ध. के अन्त में पंडितजी कहते हैं--

श्रद्धा स्वात्मैव शुद्धः प्रमदवपुरुपादेय इत्यंजसी दृक्।
तस्यैव स्वानुभूत्या पृथगनुभवनं विग्रहादेश्च संवित्॥
तत्रैवात्यंततृप्त्या मनसि लयमितेऽवस्थितिः स्वस्य चर्या।
स्वात्मानं भेदरत्नत्रय पर परमं तन्मयं विद्धि शुद्धम्॥

अपनी शुद्ध और आनद रूप आत्मा ही उपादेय है ऐसा श्रद्धान परमार्थत: सम्यग्दर्शन है। शरीरादिसे पृथक् ऐसी स्वात्मा की अनुभूति ही सम्यग्ज्ञान है तथा वीतरागता से अपनी आत्मा में ही स्थिर होना सम्यक्चारित्र है। अपने आत्मा को, जो कि भेद रत्नत्रय से अत्यंत तन्मय है उसको शुद्ध निश्चय रत्नत्रयमय ही जाण। आगे इसी का समारोप करते हुये पंडितजी कहते हैं-

नैरास्यारब्ध नैसंग्य सिद्धसाम्य परिग्रहः।
निरुपाधि समाधिस्थः पिबानंदसुधारसम्॥११०/८ सा. ध.

हे मोक्ष के आराधक। जीवन, धन, आदि की आशा से रहित होकर प्रारंभ किये गये अंतरंग बहिरंग परिग्रह के त्यागरूप नैसंग्य से जिसने परम सामायिक चारित्र को सिद्ध किया है ऐसे तुम निर्विकल्प समाधि में स्थित होकर आनंद रूप अमृत का पान करो।

इष्टोपदेशटीका के अंत में भी पंडितजी लिखते हैं-- "हे सुमते, किं कार्यं बहुनोक्तेन। हेयोपादेयतत्वयो: संक्षेपेणापि प्राज्ञचेतसि निवेशयितुं शक्यत्वात्।"-

हे सुबुद्ध, ज्यादा कहने से क्या लाभ ? हेय तथा उपादेय तत्व का संक्षेप से भी बुद्धिमानों के अंतःकरण में प्रवेश हो सकता है। इति भद्रम्।

१२ - कार्योत्पत्ति में निमित्त का अकिंचित्करत्त्व

उपादेय क्या है इसका निर्णय होने पर उपादान क्या है इसका भी निर्णय सहज हो जाता है; क्योंकि, जो उत्तरपर्यायरूप कार्य को ग्रहण करते समय अत्यंत निकट रहता है उसको उपादान कहते हैं। अथवा जो स्वयं उपादेय कार्य रूप परिणमता है उसको उपादान कहते हैं। अतः शुद्धात्म प्राप्ति का मूल हेतु तथा उसके लिये प्रयत्नशील स्वात्मा ही उपादान ठहरा। इसको भी शुद्धध्येय के कारण शुद्ध ही कहा जाता है। यथा- शुद्ध ध्येयत्वात् शुद्धः।

शंका– उपादेय को कार्य और उपादान को कारण कहते हैं। कारणों के दो भेद हैं- (१) उपादान कारण और (२) निमित्त कारण। इस दोनों कारणों के मिलने को ही समग्र कारण कहा जाता है। यह समग्रता ही कार्योत्पत्ति में सहायक है। यथा- 'बाह्येतरोपाधि समग्रतेयं कार्येषु ते द्रव्यगतः स्वभावः।' अतः 'जो स्वय उपादेय कार्यरूप परिणमता है उसको ही उपादान कहना' कैसे योग्य है ? निमित्तों का भी समान महत्व मानना चाहिये।

समाधान– जैसा कार्य होता हो वैसे निमित्त स्वयमेव जुड़ जाते हैं। किंतु निमित्तो के अनुसार कार्य में परिवर्तन मानना या निमित्तों का कार्य में प्रभाव मानना, अज्ञान ही है। मात्र अज्ञान ही नही पराधीनता भी है। अतः वस्तु स्वरूप को समझने के लिये तथा निमित्तों को हितकारी-अहितकारी (इष्ट-अनिष्ट) मानने का भ्रम मिटाने के लिये पंडितजी इस जीव को समझाते हैं–

भो, निर्जिताक्ष, विज्ञातपरमार्थ, महायशः।
किमद्य प्रतिभांती मे पुद्गलाः स्वहितास्तव॥ ४९/७ सा. ध.

"अहो, समस्त इंद्रियों को जीतने वाले, परमार्थ के ज्ञाता, महायश, मोक्ष के आराधक, क्या आज यह (भोजन आदि के रूप में मिले हुए) पुद्गल तुम्हें आत्मा के उपकार में निमित्त प्रतीत होते हैं ?"

अर्थात् यह बाह्य निमित्तभूत पर द्रव्यों का संयोग कुछ भी हितकारी या सहाय्यकारी नहीं है।

वस्तुतत्व समझाते हुए पडितजी कहते हैं–

अन्योऽहं पुद्गलश्चान्यः इत्येकान्तेन चिंतय।
येनापास्य पर द्रव्य ग्रहा वेशं स्वमाविशेः ॥ ५३/८ सा. ध.

'मैं अन्य हूँ और पुद्गल अन्य है अर्थात् मैं पुद्गल से शरीर से भिन्न हूँ और शरीर मुझसे भिन्न है' इस प्रकार सर्वथा चिंतन करो, जिससे पर द्रव्यों की आसक्ति को छोड़कर अपने आत्मा मे ही उपयोग को लगाओ।

शंका– आपके ना कहने से बाह्य निमित्तों का महत्व कम नही होता है। प. आशाधरजी कहते हैं कि साधना के लिए यदि तीर्थक्षेत्ररूप उत्तमक्षेत्रहो, निमित्तभूत उत्तम सघ का मिलाप हो, उत्तम निर्यापकाचार्य हो तो साधक के पूर्वकृत अशुभकर्म के उदय से भी विघ्न डालना सरल नही है। यथा–

समाधि साधनचणे गणेशे च गणे च न।
दुर्दैवेनापि सुकरः प्रत्युहो भावितात्मनः ॥ २७/८ सा. ध.

क्या यह बाह्य निमित्तभूत निर्यापकाचार्य, सघ, क्षेत्र आदि का प्रभाव नही है ?

समाधान– नही, यहा भी पं. जी ने 'समाधि साधन चणे' अर्थात् समाधि के साधना मे सावधान ऐसा कहकर उपादान साधक के जागृत रहने पर जोर दिया है। आराधक की जागृतता नही है और बाह्य सैंकड़ो अच्छे निमित्त मिले तो भी वे इस भूले भटके अज्ञानी जीव को हठात् परिणमा नही सकते हैं। अन. ध. ४/२ के टीका मे पडितजी कहते है कि, 'भ. महावीर जैसा सर्वोत्कृष्ट निमित्त, समवसरण जैसा उत्तम क्षेत्र, गणधर आदि संघ का निमित्त होने पर भी मष्करी पूरण नाम का मुनि मानकषाय के वश होकर , धर्मसभा से बाहर जाकर, 'महावीर सर्वज्ञ नही है और मुक्तिपाने के लिए सर्वज्ञान की आवश्यकता भी नही है, ऐसा दुर्वचन कहता भया।' इससे स्पष्ट है कि बाह्य निमित्तों का उपादान पर कुछ भी असर नही पड़ता है।

इसी बात को इष्टोपदेश टीका में पंडितजी ने अधिक स्पष्ट किया है कि, 'हे भद्र, जो मूल में ही अज्ञानी है, तत्वज्ञान उत्पत्ति के अयोग्य है वह धर्माचार्य के हजार उपदेशों से भी तत्वज्ञ नहीं होता है। कहा भी है जो जिसका स्वभाव होता है, उस रूप किया गया पुरुषार्थ ही सफल होता है। क्योंकि सैकड़ों प्रयत्न करने पर भी बगुला, शुक जैसा पढ़ नहीं सकता।' यथा- भद्र। अज्ञः यः तत्वज्ञानोत्पत्त्ययोग्यः अभव्यादिः सविज्ञत्वं तत्वज्ञत्वं धर्माचार्याद्युप देश सहस्रेणापि न गच्छति। तथा चोक्तं--

स्वाभाविकं हि निष्पत्तौ क्रियागुणमपेक्षते।
न व्यापारशतेनापि शुकवत्पाठ्यते बकः ॥

इसी तरह यदि ज्ञानी पुरुष तत्वज्ञान परिणत हो तो, हजार अपाय उपस्थित होने पर भी तत्व ज्ञान से भ्रष्ट नहीं हो सकते यथा - "तथा, विज्ञः तत्वज्ञानपरिणतः अज्ञत्वं तत्वज्ञानात्परिभ्रंशं न गच्छति अपायसहस्रेणापि न गच्छति।"

प्रश्न-- यदि ऐसा है तो बाह्य निमित्त जुटाने की क्या आवश्यकता है ?

समाधान-- जीव के परिणाम और सयोगी पदार्थ इनमें निमित्त नैमित्तिक सबंध तो है ही। किंतु उन पर पदार्थों को अनुकूल कहे प्रतिकूल कहे यह झूठी मन की वृत्ति है। क्योंकि अन्य गुरु आदि जो सामग्री इसके अनुकूल या प्रतिकूल लगती है, वह निमित्त मात्र ही होती है। यथा--"नन्वेवं बाह्य निमित्तक्षेपः प्राप्नोति, इत्याह- अन्यः पुनः गुरुविपक्षादिः प्रकृतार्थ समुत्पाद प्रशयोर्निमित्त मात्रं स्यात्।"

प्रश्न-- तो क्या, कार्य आपहि आप बिना निमित्त के होता है ?

उत्तर-- कार्य होते समय बाह्य निमित्त तो होता ही है। उनके अभाव में कार्य भी नहीं होता। तथापि वह कार्य तो स्व द्रव्य की योग्यता से ही होता है। यथा-- "तत्र योग्यताया एव साक्षात्साधकत्वात्।" अर्थात् उस द्रव्य की योग्यता ही उस द्रव्य के कार्य की साक्षात् साधकतम कारण है। बाह्य निमित्त कार्य में साधक नहीं होते हैं।

प्रश्न-- अकेला उपादान यदि कार्यरूप परिणमता है, तो उसमें पर निमित्त या सहकारीकरण की अपेक्षा क्यों होती है ?

उत्तर– जैसे गमन करने में उद्यत जीव पुद्‌गलों को गमन करने में सहकारी कारण मात्र धर्मास्तिकाय है, धर्मास्तिकाय किसी को बलात् गमन कराता नही है। उसी प्रकार दीक्षा-शिक्षा ग्रहणादि में गुरु आदि की सेवा या उपदेश ग्रहण व्यवहार से ही समझना चाहिये। यथा–

"धर्मास्तिकायस्तु गत्युपग्राहक द्रव्यविशेषस्तस्याः सहकारिकारणमात्रं स्यात् एवं प्रकृतेऽपि, अतो व्यवहारादेव गुर्वादि शुश्रुषा प्रतिपत्तव्या॥"

प्रश्न– अपने आप स्वरूपोपलब्धि कार्य कैसे संभव है ?

उत्तर– जैसे स्वर्ण पाषाण में सुवर्णत्व की योग्यता स्वयं सिद्ध है उसी प्रकार उपादान की योग्यता से स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की सामग्री रूप सपत्ति की प्राप्ति होने पर ही स्वरूपोपलब्धि संभव है। यथा– *'यथा सुवर्णाविर्भाव योग्य पाषाणस्य योग्यानां सुवर्णपरिणाम करणोचितानां उपादानाना कारणाना योगेन सपत्ति, तथा आत्मन· जीवस्य स्वद्रव्यादि संपत्तौ योग्यता मता। इति।'*(इष्टो. श्लोक २ टीका)

प्रश्न– मोक्ष तत्व की उपलब्धि में क्या बाह्य गुरु आदि की आवश्यकता नही है ?

उत्तर– तत्व की उपलब्धि मे यद्यपि बाह्य गुरु आदि की निमित्तता देशनालब्धि मे व्यवहार से मानी गयी है, तथापि तत्वतः आत्मा ही आत्मा का गुरु होने से स्वतत्व उपलब्धि मे बाह्य किसी गुरु की अनिवार्य आवश्यकता नहीं है। निसर्गज सम्यग्दर्शन की प्राप्ति बिना गुरु आदि के भी होती ही है।

जो शिष्य अपने कल्याण की इच्छा करता है, उसको कल्याण के लिये जो प्रवृत्त करता है उसे गुरु कहते हैं। यहाँ आत्मा ही आत्मा का गुरु है। वह स्वय अपनी आत्मा के द्वारा आत्मा में ही सुख की अभिलाषा करता है, तथा स्वय ही अपने से प्रेरणा प्राप्त कर प्रवृत्ति भी करता है। यथा - "यः खलु शिष्यः कल्याणमभिलषति तेन जिज्ञास्यमान तदुपाय तं ज्ञापयति, तत्रचाप्रवर्तमानं त प्रवर्तयति सः किल गुरुः प्रसिद्धः। एवं च सत्यात्मनः आत्मैव गुरुः स्यात्।

तथा अभीष्टस्यात्मना जिज्ञास्यमानस्य मोक्षसुखोपायस्य आत्मविषये ज्ञापकत्वात्, स्वयं प्रयोक्तृत्वात्।" (इष्टो. श्लोक ३४ टीका)

इसी विषय को पंडितजी अध्यात्म रहस्य में स्पष्ट करते हैं–

यद् गिराभ्यस्यतः सा स्याद् व्यवहारातस्स सद् गुरुः।
स्वात्मैव निश्चयात्तस्यास्तदंतर्वाग् भवत्वतः ॥१३॥

जिनके वाणी को उपदेश को ग्रहण करने से वह शुद्ध दृष्टि प्राप्त होती है उनको व्यवहार से सद्गुरु कहते हैं। निश्चय से तो अपनी आत्मा ही उसका मूल कारण है। अतः आत्मा की अंतर आवाज ही उसका सही कारण मानना चाहिये।

सारांश यह है कि, पर द्रव्य को किसी कार्य में निमित्त कारण मानना यह उपचार है। वस्तु स्थिति यह है कि, प्रत्येक कार्य का कर्ता उसका वही स्व द्रव्य होता है। इसी प्रकार मोक्ष मार्ग में देवशास्त्र गुरु को निमित्त कारण मानना उपचार है। प्रत्येक जीव अपने ही स्वकाल में काल लब्धि आने पर उपदेश ग्रहण कर उसकी श्रद्धा करता हुआ उसको आचरण में लाता है। तब ही उसको मोक्ष प्राप्ति होती है। तब अन्य निमित्त तो रहते ही हैं किंतु उनके आधीन होने का या उनको कर्तृत्व देने का निषेध समझना चाहिये।

शंका– यह चिंतन तीष्णबुद्धि वालों का है, सामान्य बुद्धिवाले इतना सूक्ष्म चिंतन कैसे कर सकते हैं ? उन्हे तो पर (निमित्त रूप शास्त्रादि) का अवलंबन लेना ही चाहिये।

समाधान– यहाँ पर के अवलंबन लेने का निषेध नही है। तत्व निर्णय करने की अर्थात मात्र जानना और मानने की बात है। इसके लिए प्रखर बुद्धि की ही आवश्यकता है ऐसा भी नही है। हे भव्य, तुझे वर्तमान में ज्ञान का जितना क्षयोपशम प्रगट हुआ है वह पर्याप्त है। उसे पूर्णतया आत्म केन्द्रित करने का प्रयत्न कर। जैसा शिवभूति मुनि ने किया था।

मोक्ष सुख प्राप्त करने के लिए बाह्य साधनों निमित्तों की रंचमात्र भी आवश्यकता नही है। क्योंकि आत्मानुभूति तो, स्वयं को, स्वय की और स्वयं के द्वारा ही होती है। प. जी को ऐसे जीवों के प्रति करुणाभाव आता था और वे उसे 'दुरात्मन्' कहके संबोधते थे। तथा मोक्षसुख के इतने सुलभ उपाय में अभी भी प्रयत्नशील न होने के कारण खेद भी प्रगट करते थे। यथा - "अस्मिन् सुदुर्लभे मोक्षसुखोपाये, दुरात्मन् , आत्मन् , स्वयं अद्यापि न प्रवृत्तः।" इति।

१३ - वस्तु व्यवस्था, अनेकान्त और जीवन विकास

सल्लेखनारत सल्लखन के लिए उनके आदेशानुसार पंडितजी ने 'अध्यात्म रहस्य' ग्रथ की रचना की थी और उसके माध्यम से वस्तु व्यवस्था, अनेकान्त आदि के द्वारा जीवन विकास कैसे साधा जा सकता है, यह सुनाकर श्री सल्लखन के जीवन का उद्धार किया था। मृत्युशैया पर पड़े तथा जीवन भर राजकारण मे उलझे पिताश्री को अत समय में जो समझाया, और पिता ने भी जिसे समझ कर अपना जीवन सफंल बनाया, उसे यदि यह भव्यात्मा शांति से समझ कर धारण करे तो इसका कल्याण दूर नही है।

पडितजी आसन्न भव्य के लिए मगलाचरण करते है—

भव्येभ्यो भजमानेभ्यो यो ददाति निजं पदम्।
तस्मै श्री वीरनाथाय नमः श्री गौतमाय च ॥१॥

भक्ति सम्पन्न भव्यों को जो अपना परमात्म पद देते हैं उन श्री महावीर भगवान को और गुरु गौतमगणधर को प्रणाम हो।

प्रश्न– क्या भगवान अपना पद छोड़कर शिष्यो को परमात्म पद देते है ?

उत्तर– नही। वे तो अपने पद मे स्वय अनतकाल तक स्थिर ही रहते है, कितु जो शिष्य उनका अनुसरण करते हैं, उनके शासन पर चलते हैं, वे भी परमात्म पद स्वय प्राप्त करते हैं।

प्रश्न– कैसा है जिन शासन ?

उत्तर– वस्तु स्वरूप को जैसा का तैसा प्रतिपादन करने वाला है, तथा उसके आश्रय से ही नियम से जीवन का विकास होता है।

प्रश्न– वस्तु स्वरूप कैसा है ?

उत्तर– 'सत्' यह वस्तु का स्वरूप है। 'सद् द्रव्य लक्षणम्' ऐसा सूत्रकारने कहकर 'उत्पाद व्यय ध्रौव्य युक्तं सत्' ऐसा उसका वर्णन किया है। अर्थात जिसमें प्रति समय नई पर्याय उत्पन्न होती है, पूर्व पर्याय नष्ट होती है, ऐसा होने पर भी जो ध्रुव रूप से स्वयंभूअनादि अनंत रहता है उसे वस्तु-द्रव्य कहते हैं। वह स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव से सदा ही सत्रूप रहता है तथा पर द्रव्यादि चतुष्टय से असद्रुपहि होता है। मैं तो निरंतर मेरे वस्तु स्वरूप का ऐसा अनुभव करता हूँ। यथा–

सन्नेवाहं मया वेद्यो स्वद्रव्यादि चतुष्टयात्।
स्थित्युत्पत्तिव्ययात्मत्वा दसन्नेव विपर्ययात्॥३१॥

प्रश्न– सत्-असत् ऐसे परस्पर विरुद्ध धर्म एकहि समय में एक ही द्रव्य मे रहना कैसे संभव है ?

उत्तर– भिन्न-भिन्न अपेक्षा से ये विरुद्धभासमान धर्म एक ही वस्तु में एक साथ रह सकते हैं। इसी का नाम अनेकान्त है। एक अनेक, नित्य-अनित्य, सत्-असत् आदि अनंतधर्म एक साथ वस्तु में रहने से वस्तु अनेकान्तात्मक कही जाती है।

वस्तु अनेकान्तात्मक है इसका स्पष्टीकरण पंडितजी दो श्लोकों द्वारा करते हैं– "परस्पर विरोधी प्रतीत होने वाले अस्तित्व-नास्तित्व, नित्यत्व-अनित्यत्व, एकत्व-अनेकत्व आदि अनेक धर्मवाली वस्तु है। वह श्रुतज्ञान का विषय है। उस परमार्थ सत् अनेकान्तात्मक अर्थ से उसके एक धर्म को जो प्रवृत्ति और निवृत्ति में साधक हो तथा जिसके द्वारा अनेकान्तात्मक अर्थ का प्रकाशन किया जा सकता हो, ऐसे एक धर्म को भेद विवक्षा के द्वारा पृथक करके ग्रहण करने वाला नय मिथ्या नही है। जैसे 'देवदत्त पकाता है' इस प्रकृति प्रत्यय विशिष्ट यथार्थ वाक्य से उसके एक अंश प्रकृतिप्रत्यय आदि को लेकर प्रकट करने

वाला व्याकरण शास्त्र मिथ्या नही है। हा, निरपेक्ष नय मिथ्या होता है क्योंकि वह अनेकान्तका घातक है। अर्थात् सापेक्ष नय मिथ्या नही है क्योंकि वह अनेकान्तका अनुसरण करता है।" यथा–

अनेकान्तात्मकादर्थाद पोद्धृत्यान्जसान्नयः।
तत्प्राहयत्युपायमेकान्तं तदंशं व्यावहारिकम् ॥१०६॥
प्रकाशयन्न मिथ्या स्याच्छब्दा-त्तच्छास्त्रवत् सह।
मिथ्याऽनपेक्षोऽनेकान्तक्षेपान्नान्य स्तदव्ययात् ॥१०९॥

प्रश्न– वस्तु अनंत धर्मात्मक भले ही रहे, किन्तु उसमें परिणमन कैसे संभव है ?

उत्तर– जो-जो द्रव्य होता है उसमें द्रव्यत्व नामका एक सामान्य गुण भी होता है। उससे सब गुणों के पर्यायो में सदा-प्रतिसमय पृथक-पृथक परिणमन होता ही रहता है। मैं भी एक चैतन्य द्रव्य हूँ, प्रति समय मैं भी चेतनापर्याय से उत्पन्न होता हूँ, पूर्व पर्याय से नष्ट होता रहा हूँ तो भी अन्वयरूप से अनादि-अनत, शाश्वत हूँ। यथा–

द्रव्यं तथा सदा सर्वं द्रव्यत्वातव्ददप्यहम्।
विवर्तेऽनादिसंतत्या चिद्विवर्तैः पृथक् विधैः ॥३५॥

इसी वस्तु स्वरूप को दूसरे शब्दों में व्यक्त करते हुए पडितजी कहते हैं "गुणपर्ययवद् द्रव्यं" ऐसी भी वस्तु है। गुण सहभावी तथा पर्याय क्रमवर्ती होती है। आत्मा में अन्वयरूप से चैतन्य रहने से वह आत्मा का गुण ही है। यथा–

गुणपर्ययवद् द्रव्यं गुणाः सहभुवोऽन्यथा।
पर्यायास्तत्र चैतन्यं गुणः पुंस्यन्वयित्वतः ॥३६॥

इसी विषय को अधिक स्पष्ट करने के लिए मोती के हार का दृष्टान्त देकर पंडितजी समझाते हैं कि, "जैसे मोतियों के हार को एक हार ऐसा कहा जाता है, तो भी उसके मोतियों की संख्या अनेक होती है। तथा उन मोतियों की शुक्लता पृथक्-पृथक् प्रतीति में आती है। उसी तरह मैं भी एक स्वयंभू

चेतनामय द्रव्य हूँ। चैतन्य मेरा गुण और उसकी चेतना पर्यायें पूरे द्रव्य में (अनादि अनंत ऐसे द्रव्य में) सदा व्याप्त रहती है। यथा–

चेतनोऽहमिति द्रव्ये शौक्ल्यं मुक्ताश्च हारवत्।
चैतन्यं चिद्विवर्तांश्च मय्या मील्य मिलाप्यजे ।।४० ।।

यहा हार के दृष्टान्त से एक और सिद्धान्त प्रगट होता है कि, हार एक अखंड होने पर भी हार में जैसे मोतियों की संख्या निश्चित होती है और उन मोतियों का क्रम भी निश्चित होता है, उसी प्रकार द्रव्य की पर्यायें भी निश्चित तथा उनका क्रम भी सुनिश्चित होता है। (इसका अधिक स्पष्टीकरण हम आगे करेंगे ही)

प्रश्न– यह वस्तु स्वरूप जानने से क्या लाभ होता है ?

उत्तर– वस्तु स्वरूप समझ में आने से 'मैं भी एक वस्तु हूँ, अत: मेरा भी ऐसा ही स्वभाव है' इस प्रकार निर्णय हो जाता है। इसका ज्ञान ही सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इसकी ही श्रद्धा सम्यग्दर्शन है तथा अपने स्वरूप के अनुभवन में ही रम जाना सम्यक्चारित्र है। इसे ही रत्नत्रय कहते हैं। यह ही आत्मविकास का और आत्मशुद्धि का मार्ग है। इससे ही अतरात्मत्व का उदय होता है और उसका क्रमिक विकास ही आगे बढ़कर परमात्मदशा का जनक है। यथा–

अविद्यां विद्यया मय्याऽप्युपेक्षासंज्ञयाऽसकृत्।
कृतन्तो मदभिव्यक्तिः क्रमेण स्यात्परापि मे ।।४२ ।।

उपेक्षा अर्थात् वीतरागतारूप विद्या के बल से बारंबार अनुभवन करने से अविद्या का नाश होता है। आत्मानुभूति की प्राप्ति होती है। उसका क्रमिक विकास ही परमात्मा पद को देने वाला होता है।

प्रश्न– आत्मानुभूति का स्वरूप क्या है ?

उत्तर– मोहरूपी अंधकार का नाश होने पर इंद्रिय तथा मन के विकल्प रूप अग्नि शात होती है। जिससे मैं मेरे द्वारा मुझको ही देख सकूँ ऐसी अपूर्व अंतर्दृष्टि प्राप्त होती है। वह पर द्रव्यों के विकल्पों से रहित, वीतरागरूप होती है, उसका ही नाम आत्मानुभूति है। उस अन्तर्दृष्टिका पूर्ण विकास ही सर्वज्ञता या परमात्मपद की प्राप्ति है। यथा–

ध्वस्ते मोहतमस्यन्तर्दशाऽस्तेऽक्षमनोऽनिले।
शून्योऽप्यन्यैः स्वतोऽशून्यो मया दृश्येयमप्यहम्॥ ४६॥

प्रश्न– यह आत्मानुभूति कैसे प्राप्त होती है ? उसका क्या फल है ?

उत्तर– पर पदार्थ का विकल्प छोड़ मैं जब मात्र मुझको देखता हूँ अर्थात् मात्र आत्मगुणो का परम एकाग्रता से अनुभवन करता हूँ, तब मुझको आनदकद स्वरूप स्वय की अनुभूति होती है। वह अनुभूति पूर्वबद्ध कर्मों का नाशकर नवीन कर्मबध को रोकती है। यथा–

मामेवाहं तथा पश्यन्नैकाग्र्यं परमश्नुवे।
भजे मत्कदमानदं निर्जरासंवरावहम्॥४७॥

प्रश्न– आत्मा आत्मा रटने से क्या आत्मानुभूति होती है ? आत्मानुभूति के लिए इसके पहले आपने इद्रिय और मन के विषयो के त्याग की बात कही थी, और यहाँ मात्र आत्मा को ही देखने की बात कर रहे हो। तो क्या आत्मानुभूति के लिए पच पापो के त्याग की या पच इद्रिय और मन के विषय के त्याग की आवश्यकता नही है।

उत्तर– वास्तव मे आत्मानुभूति का और इद्रिय - मन के विषय के त्याग को कोई सबध नही है। यदि होता तो द्रव्यलिंगी श्रमण को तो आत्मानुभूति अवश्य होती। हा, आत्मानुभूति के पूर्व अशुभोपयोग का अभाव होना जरूरी होता है इस हेतु उसका प्रथम उपदेश देते हैं। किंतु सर्व सावद्ययोग से निवृत्ति रूप जो सदाचार है वह तो आत्मा का गौण या व्यवहारचारित्र कहलाता है और वह, शुभकर्मो के आस्रव बध का कारण है अर्थात् ससार का ही कारण है। क्योकि पुण्य का फल भी ससार ही है। उसके अनतर (विरतिविरहित) अविरत ऐसे आनद मे जो लीनता है वह ही निश्चय या मुख्य चारित्र है। इससे ही कर्मों का नाश होता है। यथा–

सद्वृत्तं सर्वसावद्ययोग व्यावृत्तिरात्मनः।
गौणं स्याद्वृत्तिरानंद - सांद्रा कर्मच्छिदाज्जसा॥ ७०॥ अ. र.

प्रश्न– आत्मानुभूति के समय क्या परपदार्थ का ज्ञान बिल्कुल नही होता है ? यदि होता है तो कैसा ?

उत्तर– सम्यग्ज्ञान को भेदविज्ञान भी कहते हैं। इससे यह भव्यात्मा अपने आत्मा को आत्म रूप से तथा देहादिक को पररूप से ऐसा स्व और पर के भेद को जानता हुआ साम्य-समता - सामायिक भाव का चिंतन करता है। देह की क्रिया को तो वह पर की ही क्रिया मानता है, किंतु परवशता से होने वाली तथा अशुभ से बचने के लिए कभी कभी शुभ क्रिया होती भी है किंतु उसमें स्वामित्व- आसक्ति-आग्रह कभी रहता ही नही। यथा–

संप्रत्यात्मतयात्मानं देहं देहतयात्मनः।
परेषां च विदन् साम्यसुधां चर्वन्न विक्रियाम्॥ अ. र.

प्रश्न– क्या आत्मानुभूति सपन्न जीव खाना पीना बोलना देखना छोड़ देते हैं ?

उत्तर– नही। तत्त्वज्ञान और वैराग्य स जिसका चित्त ओतप्रोत है उसकी इद्रियों की शक्ति न मृत है, न जीवित है, न सुप्त है - न जागृत है; अतः इद्रियो के माध्यम से क्रिया तो होती ही है किंतु उसमें आसक्ति या स्वामित्व का भाव नही होता। यथा–

तत्व विज्ञान वैराग्यरूद्ध चित्तस्य खानि में।
न मृतानि न जीवन्ति न सुप्तानि न जाग्रति ॥५२॥ अ.र.

प्रश्न– शुभाचार रूप सत्क्रियामें भी आसक्त नहीं होने का क्या कारण है ?

उत्तर– आत्मानुभूति के लिये बहिर्भूत विषय हेय ही है ऐसा निर्णय कर उसको छोड़ता है, तथा आत्मपरिणाम ही उपादेय है ऐसा अनुभव करता है; जिससे रत्नत्रय की वृद्धि हो या रत्नत्रय का ही मैं भोक्ता बना रहूँ ऐसी भावना सदा बनी रहती है। यथा–

निश्चित्यानुभवन् हेयं स्वानुभूत्यै बहिस्त्यजन्।
आदेयं चाददानःस्यां, भोक्तृ रत्नत्रयात्मकः ॥५४॥ अ.र.

इससे शुभाचार करता हुआ भी उसमें आसक्त नहीं होता है।

प्रश्न– तो फिर शुभाचारका ग्रहण ही किसलिए करे ?

उत्तर– सिद्धि के लिए व्यवहार नयसे तो असदाचार हेय और सदाचार ग्राह्य ही है किन्तु निश्चयनय से सिद्धि के लिये मात्र अध्यात्म ही उपादेय है। मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र हेय है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र उपादेय है। यथा–

व्यवहारेण में हेयमसद् ग्राहयं च सद्धिः।
सिद्धौ निश्चयतोऽध्यात्मं मिथ्येतर दृगादिकम्॥ ६४। अ. र.

प्रश्न– व्यवहारनय से सदाचार उपादेय और निश्चयनय से रत्नत्रयरूप शुद्धोपयोग उपादेय ऐसे कथन का क्या हेतु है ?

उत्तर– शुद्धोपयोग प्राप्तिका, विकास का पूर्णता का विशिष्ट क्रम है। उसका भान रहे और कार्यसिद्धि हो जाय इसका निर्देश करने के लिए ही वैसा उपदेश दिया है। वह क्रम इस प्रकार है - प्रथम अशुभोपयोग का त्याग करना और श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ का आश्रय लेना तथा शुभाचार के समय आत्मध्यान का अभ्यास करना और स्वमे लीनता आ जाय तो शुभोपयोग स्वयमेव छूटकर शुद्धोपयोग प्रकट होता है। जब तक शुद्धोपयोग प्रकट न हो तब तक शुभोपयोग में ही रहे किन्तु निष्ठा तो शुद्धोपयोग की ही रहती है। यथा-

हित्वोपयोगमशुभं श्रुताभ्यासाच्छुभं श्रित.।
शुद्धमेवाधितिष्ठेयं श्रेष्ठा निष्ठा हि सैव मे॥ ५५॥ अ. र.

आशय यह है कि, जिस समय व्यवहार, निश्चय साधक और निश्चय, व्यवहार प्रतिषेधक होता है, उस समय दोनो भी मोक्ष के हेतु कहे जाते हैं। क्यो कि निश्चय साध्य है और व्यवहार उसका साधक-गमक है। तत्त्वानुशासन मे भी ऐसा ही कहा है–

मोक्षहेतुः पुनर्द्वेधा निश्चयाद् व्यवहारतः।
तत्राद्य साध्यरूप. स्याद् द्वितीयस्तस्य साधनम्॥ २७

शंका– यदि निष्ठा शुभाचार मे नही रहती है तो शुभाचार मायारूप हो जायगा। ऐसी स्थिति मे अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति आदि का कोई प्रयोजन नही

रहेगा। किंतु परमयोगी भी भक्ति-पूजा में लीन रहते हैं, वैसा शास्त्रों में उल्लेख है, सो कैसा ?

समाधान– कितना भी उत्तम संहनन हो या कितना भी दृढ़ पुरुषार्थ हो, उनका शुद्धोपयोग मात्र अंतर्मुहूर्त ही रहता है। बाद में उनकी प्रवृत्ति राग में होती ही है। यदि वे उस समय भक्ति पूजा आदि रूप शुभोपयोग में न रहे तो अशुभोपयोग में ही जायेंगे। अत: परमयोगी भी भक्ति - तीर्थवंदना आदि रूप शुभाचार का एलन करते हैं। किंतु उस समय निष्ठा तो ऐसी ही होती है कि, स्वरूप से तत्त्वरूप से भगवान और मेरे में कोई अंतर नही है। परम पारिणामिक शुद्धभाव तथा प्रत्येक के अनंतगुण-शक्ति अपेक्षा साम्य ही है। व्यक्तता की अपेक्षा जो अंतर है उसको मिटाने का राजमार्ग भी स्वरूप सादृश्य का अनुभवन ही है। इसलिए आत्मार्थी बार-बार अपने स्वयं का अनुभवन करता है कि, "जो भगवान है वही मैं हूँ, वही मैं हूँ।" ऐसे स्वरूपसादृश्य के अनुभवन को ही भक्ति, समाधि, ध्यान या योग कहते हैं। वह योग अनिर्वचनीय होता है। यथा–

स एवाहं स एवाहमिति भावयतो मुहुः।
योगः स्यात्कोऽपि निःशब्दः शुद्धस्वात्मनि यो लयः ॥ ५७ ॥

और तू जो शका करता है कि ऐसी स्थिति में अर्हद्भक्ति, सिद्धभक्ति आदि का कोई प्रयोजन नही रहेगा, यह भ्रममूलक है। क्योंकि, "भगवान अर्हन्तदेव के अनंत गुणों का स्तवन भी स्वाध्याय ही है। जो मन-वचन-काय को एकाग्र करके स्तवन करता है वह एक प्रकार से अपनी शक्ति को ही प्रकट करता है। कारण यह है कि, स्तवन करने वाले का मन तो भगवान के गुणों में आसक्त होता है, क्योंकि वह जानता है कि शुद्ध ज्ञानघनस्वरूप परमात्मा के ये ही गुण है। उसके वचन स्तोत्र पाठ मे सलग्न रहते हैं। स्तोत्र पढते हुए पाठक विनम्रता की मूर्ति होता है। इस तरह अपने मन-वचन-काय से वह भगवान का गुणानुवाद करते हुए उनके प्रति वह असीम श्रद्धा व्यक्त करके अपने को तन्मय करता है। यह तन्मयता ही उसे मोह विजयी बनाती है क्योंकि शुद्धात्मा के गुणों में जो अनुराग होता है वह सांसारिक रागद्वेष का उन्मूलक होता है" (विशेषार्थ-श्लोक ९०/७ अन. ध.)

ऐसे व्यवहार और निश्चय का अनुसरण करने वाला सुधी जीवन में यथाकाल बाहरी सग का त्याग कर अतरग में साम्यभाव का अभ्यास करता है। उसमे लीनता आने पर शुद्धोपयोग रूप समाधि को प्राप्त होता हुआ उसी भव में मुक्त हो सकता है, अथवा अल्प भव में मुक्ति प्राप्त करता है। यथा—

त्यक्त्वा संगं सुधीः साम्यसमभ्यासवशाद्‌ध्रुवं।
समाधिं मरणे लब्ध्वा हंत्यल्पयति वा भवम्॥ ११२/१ अन. ध.

प्रश्न– शुद्धोपयोग ही मुक्ति का सही कारण कहा, उसका क्या स्वरूप है ? **उत्तर–** मिथ्यात्व और रागद्वेष से रहित ऐसा आत्मा का जो परिणाम अपने ही परम पारिणामिक भाव का आश्रय लेता है, अर्थात् शाश्वत (त्रैकालिक) शुद्धि का आश्रय लेता है उस उपयोग को शुद्धोपयोग कहते है। यह शुद्धोपयोग सपूर्ण शुद्धि का अर्थात् मुक्ति का कारण है। यथा–

अमुह्यन्तमरज्यन्तमद्विषन्तश्च च स्वयं।
शुद्धे निधत्ते स्वे शुद्धमुपयोग स शुध्यति॥ २५ अ. र.

इसे ही दूसरे शब्दो मे समझाते है कि, जो किसी भी परपदार्थ पर न मोह करता है, न राग करता है, न द्वेष करता है किन्तु जो दर्शन-ज्ञान और साम्यरूपी चारित्र-अपने ही गुण मे तल्लीन होता है उसे ही शुद्धात्मा ऐसा जानो। समता-साम्य सामायिक आदिरूप मे परिणमनेवाला उपयोग ही शुद्धोपयोग है। यही मोक्षमार्ग है यथा–

यो न मुह्यति नो रज्यत्यपि न द्वेष्टि कस्यचित्।
स्वात्मा दृग्बोधसाम्यात्मा स शुद्ध इति बुध्यताम्॥५॥ अ. र.

यह शुद्धोपयोग अर्थात आत्मानुभूति ज्ञानरूप ही होती है। ज्ञान ही उनका मानो शरीर है। वह ज्ञान वर्तमान मे श्रुतज्ञान के आश्रय से असामान्य (असाधारण-विशेष) ऐसे ज्ञानगुण की भावना के द्वारा अपने ज्ञानगुण को ही स्पष्ट करता है, विकसित करता है, उसे ही दृष्टि या आत्मानुभूति कहते है। यथा–

शुद्धः स्वात्मा यया साक्षात् क्रियते ज्ञान विग्रहः।
विशिष्ट भावना-स्पष्ट-श्रुतात्मा दृष्टिरत्र सा ॥९॥ अ.र.

इसे समझ कर रागादिरूप अति उग्र शत्रुओं की अनुत्पत्ति और क्षय के लिये निरंतर उद्यमी होकर शुद्ध चिद्रूप स्व आत्मा की ही भावना करनी चाहिये। यथा–

भावयेत् शुद्धचिद्रूपं स्वात्मानं नित्यमुद्यतः।
रागाद्युदग्रशत्रुणामनुत्पत्त्यै क्षयाय च ॥ २६ ॥ अ. र.

इस प्रकार पं. आशाधरजी ने सामान्य से वस्तुस्वरूप समझा कर 'मैं भी एक वस्तु हूँ' यह भावना दृढ करने का पुरुषार्थ स्वयं किया और अन्य को (पिताजी को भी) कराया। तथा स्ववस्तु के आश्रय से ही मुक्ति संभव है और वह पुरुषार्थ स्वाधीन तथा शीघ्र करने योग्य है ऐसा सिद्ध किया। इसे समझ कर सभी अपना-अपना कल्याण करे।

१४ - वस्तु का क्रमबद्ध परिणमन

अनादि अनत तथा अखड ऐसी वस्तु मे अनंत गुणों की जो पर्यायें प्रतिसमय होती हैं उनका अपना अपना काल निश्चित है। उस काल को उस पर्याय का स्वकाल कहा जाता है। परद्रव्यादि चतुष्टयरूप जो काल है वह तो परकाल है ही, किन्तु स्वद्रव्य के स्वभाव का जो काल है उस स्वकाल को छोड़कर शेष सभी काल उस पर्यायका परकाल ही है।

अनादिअनत द्रव्य तथा गुणो की पर्यायें भी निरंतर अनादि अनंत काल की होगी। प्रतिसमय की केक ऐसी अनादि सन्तान रूप पर्याय भी क्रमवर्ती अनादि अनत होगी ही। यह बात अध्यात्मरहस्य के श्लोक न. ३५, ३६ में समझाकर श्लोक न. ४० मे मोतियो के हारका दृष्टान्त देकर पर्यायों का क्रमभीकैसा क्रमबद्ध होता है यह भी पिछले प्रकरण में बताया। तथा आगे श्लोक न. ४२ मे समझाया कि यदि पर्यायों का क्रम सुनिश्चित है तो तुझे क्या करना है ? मात्र उपेक्षा भाव अर्थात् वीतरागता प्राप्त करना है । इसको ही पंडितजी अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि, "हे भाई ! यथास्थित स्वपरअर्थ को जानने देखने वाली बुद्धि सदा स्वात्माभिमुख रहती है। ऐसी स्वात्माभिमुख स्वसंवेदन-करने वाली बुद्धि ही यहाँ सम्यग्ज्ञान कही गई है।

अत: ज्ञान ही आत्मा है तथा ज्ञानानुभूति ही आत्मानुभूति है ऐसा जानकर ज्ञान से तादात्म्यसबध स्थापित करना चाहिए अर्थात् ज्ञान को ज्ञान से ज्ञान में ही लीन करना चाहिए। यथा–

यथास्थितार्थान् पश्यन्ती धी: स्वात्माभिमुखी सदा।
बुद्धिरत्र तदा बन्धो! बुध्द्याधानं . तदन्वीयात् ॥ १७ अ.र.

वस्तु को तोड़फोड़ करने के भाव तो स्वयकृत जीव के रागद्वेष रूप परिणाम है और वह अज्ञान जन्य है। वस्तुको जैसा का तैसा स्वीकार करना याने मात्र ज्ञाता दृष्टा बनना यह सम्यग्ज्ञान का फल है। वस्तु में जैसा द्रव्यत्व नाम का गुण है वैसा वस्तुत्व नाम का भी गुण है, वह वस्तु के प्रत्येक पर्याय का उपयोगीपणा स्पष्ट करता है। अत· वस्तु का जैसा का तैसा परिणमन ही वस्तु के स्वतत्र परिणति को स्वीकार करता है, अर्थात् परकर्तृत्त्व के भाव से हट जाता है। इसे ही स्पष्ट समझाते हुए पडितजी कहते हैं कि, "यदि सद्गुरु के द्वारा जिनशासन रहस्य को समझा हो तो 'मैं करता हूं' ऐसे अहकार को छोड़कर भगवती भवितव्यता का आश्रय करो। यथा–

भवितव्यतां भगवतीमधियन्तु रहन्त्वहं करोमीति।
यदि सद्गुरुप्देश व्यवसित जिनशासन रहस्या: ॥ ६६ ॥ अ. र.

यह अध्यात्म रहस्य ग्रथ तो समाधिलीन पिताश्री के लिए दिया गया उपदेश है। इसके कई साल पहले या सर्वप्रथम जो धर्मामृत शास्त्र की रचना हुई थी उसके प्रथम भाग– अनगार धर्मामृत में भी भवितव्यता की पुष्टि की गयी है। पडितजी योगियो को समझाते हैं कि, "शुद्ध स्वात्मा की उपलब्धि के प्रति अभिमुख हुए पुरुष को उत्कृष्ट योग की प्राप्ति हेतु भवितव्यता का अनुभावन-चिन्तन करने का उपदेश है।" यथा– "अथ शुद्धस्वात्मोपलभोन्मुखस्य योगकाष्ठा सौष्ठवा-दाप्ति-भवितव्यतानुभाव भावना मनुभावयति–

भावै वैभाविकैर्मे परिणतिमयतोऽनादि संतान वृत्या,
कर्मण्यैरेक लोलीभवत उपगतै: पुद्गलैस्तत्त्वत: स्वम्।
बुद्धवा श्रद्धाय साम्यं निरुपधि दधतो मुत्सुधाब्धावगाधे,
स्याच्चेल्लीलावगाहस्तदयमयशिखी किं ज्वलेद्दाह्यशून्य: ॥ १४६/४ अन.ध.

अनादि सन्तानरूप वैभाविक भावों के (मोहरागद्वेषरूप भावकर्मों के) तथा उदय में आये द्रव्यकर्मों के साथ मैं एकरूप होकर परिणति करता था। (इससे वैभाविक परिणमन चलता रहा।) किन्तु अब कर्मों से रहित ऐसे स्वरूप को जानकर-श्रद्धाकर तथा साम्य को धारण कर आनन्द और अमृत के सागर में यदि मेरी लीला होगी याने जो हुआ, हो रहा और होगा इसका यदि मैं मात्र ज्ञातादृष्टा बन जाऊँ तो पापरूप ये कर्म क्या ईंधन के बिना भी जलते रहेंगे? नही। द्रव्य और भाव दोनों कर्मों का अभाव होकर मुक्ति प्राप्त होगी।

प्रश्न– जीव का स्वरूप तो चेतना है, उसका क्या अर्थ है?

उत्तर– अनादिभूतकाल से आज तक या अनत भविष्यकाल तक प्रतिपर्याय में मैं ऐसा अन्वयरूप से प्रतिनियत (सुनिश्चित) रूप जो वस्तु का स्वरूप है, उसको जानने वाले सम्यग्ज्ञान में सपूर्ण जीवो को दिखने वाला (अनुभव में आने वाला) जो रूप है उसी का नाम चेतना है। यथा–

अन्वितमहमहमिकया प्रतिनियतार्थावभासि बोधेसु।
प्रतिभासमानमखिलैर्यद्रूपं वेद्यते सदा सा चित्॥ ३८/२ अन. ध.

प्रश्न– यदि ऐसा है तो सभी सम्यग्ज्ञानी विद्वान संसारक्रिया से क्यो नही जल्द निवृत्त होते हैं?

उत्तर– यद्यपि चारित्रमोहनीय अपकारी है फिर भी विद्वान को कालल्ब्धि आने पर ही उसके नाश का प्रयत्न करना चाहिए। यथा– "केवल दुःख को ही देने में तत्पर ऐसे मिथ्यात्व आदि शत्रुओं का समूल उन्मूलन करने के लिए काल बिना (स्वकाल या काललब्धि आये बिना) कौन विद्वान, धीर, उत्कृष्ट तप की जल्दी करेगा?

दुःखानुबन्धैक परानरातीन समूलमुन्मूल्यपरं प्रतप्सन्।
को वा विना कालमरेः प्रहन्तुं धीरो व्यवस्यत्यपराध्यतोऽपि॥ १३७/४

इसके समर्थन मे आगे श्लोक न. १३९/४ मे– "प्रजाग्रद्वैराग्य: समयबलवल्गत् स्वसमय ।" ऐसा कहा है, अर्थात् जिसको चरणानुयोग के ज्ञान से वैराग्य उत्पन्न हुआ है उसको यदि द्रव्यानुयोग के अनुसार काललब्धि का भी भान है तो ही वह स्वसमय अर्थात् सम्यग्दृष्टि है। क्योंकि प्रत्येक पर्याय की उसके स्वसमय मे उत्पत्ति की योग्यता ही काललब्धि है तथा ऐसी श्रद्धा ही सम्यग्दर्शन है। यथा– 'समयबलेन काललब्ध्या, श्रुतज्ञान समर्थेन च वल्गन् विजृभमान स्वसमय. स्वस्वरूपोप लभो यस्य स: समयबलवल्गन् स्वसमय: ।"

प्रश्न– तो क्या काललब्धि आयगी और मैं बाद में चारित्र धारण कर मुक्ति पाऊँगा, ऐसी काललब्धि की राह देखकर प्रमादी बनना है?

उत्तर– नही। यहाँ मुक्तिमार्ग मे निरुत्साहित करने की बात नही है। मोक्षमार्ग मे आरूढ़ मुमुक्षु का पतन न हो इसलिए उस मार्ग की पूरी जानकारी दे रहे है। उसके लिए पडितजी समझाते है कि, "अब तक चारित्र के उद्योतन का कथन करके अब उसके उद्यमन (स्थैर्य) आदि का कथन करते है–

ज्ञेय ज्ञातृ तथा प्रतीत्यनुभवाकारैकदृग्बोधभाग्
द्रष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुषं निष्पीय चर्यासुधाम्।
पक्तु बिभ्रदनाकुलं तदनुबन्धायैव कंचिद्विधिं,
कृत्वाप्यामृति य पिबत्यधिकशस्तामेव देव स वै॥ १७७/४ अन. ध.

इसका अर्थ यह है कि, ज्ञेय और ज्ञाता मे तथा प्रतीति रूप सम्यग्दर्शन और अनुभूतिरूप सम्यग्ज्ञान के साथ तादात्म्य का अनुभवन करने वाला दृष्टा ज्ञातारूप निज आत्मा मे उत्पादव्यय ध्रौव्य रूप वृत्ति ही जिसका स्वभाव है, उस चारित्ररूपी अमृत को पीकर उसे पचाने के लिए निराकुलभाव को धारण करता है तथा उसका अभ्यास करने के लिए ही आगम विहित तीर्थयात्रा, व्रतपालन आदि व्यवहार को करके भी जो साम्यरूप चारित्ररूपी अमृत को अधिकाधिक पीता है, वह निश्चित ही देव है।

यहाँ एक बात पर विशेष बल दिया है कि, ज्ञेय स्व और पर के भेद से दो प्रकार का है। परज्ञेय (परद्रव्यों) का तो यह कर्ता हर्ता है ही नही। स्वज्ञेय

का कर्ता तो जरूर है, किन्तु उनका तोड़फोड़ याने कुछ पर्याय को आगे पीछे करने वाला नहीं होता है। अतः स्ववस्तु में जो स्वाभाविक उत्पाद व्यय ध्रौव्यरूप अस्तित्व-सत् है उसका मात्र ज्ञाताद्रष्टा रहता है। यथा— "तत्र वृत्तिः उत्पादव्यय ध्रौव्यैकलक्षणं अस्तित्वं , द्रष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिः। सैव वपुः स्वभावो यस्याः द्रष्टृज्ञातृनिजात्मवृत्तिवपुस्ता, चर्यासुधाम्।"

प्रश्न– यदि स्वाभाविक उत्पादव्यय का ही ज्ञाता दृष्टा बनना है तो हमको क्या करना है ? हम कर्त्ता किसके ?

उत्तर– वस्तुस्वरूप को समझकर राग द्वेषरूप विकार का अभाव करना है, अपने वीतरागभाव के कर्ता बनना है। होनहार नियति (दैव) जो कि सती पार्वती के समान है , उसकी स्वीकृति देकर स्वागत ही करना है। वही ही इस पुरुष की आद्य शक्ति - सम्यग्दर्शन है। इसके ही प्रसाद से दुर्गतियों का नाश और अत में मोक्षरमणी की प्राप्ति संभव है। यथा–

> परमपुरुषस्याद्या शक्तिः सुदृग् वरिवस्यतां ,
> नरि शिवरमासाचीक्षां या प्रसादति तन्वती।
> कृतपरपुरध्वंश क्लृप्तप्रभाभ्युदयं यया,
> सृजति नियतिः फेलाभोक्तिकृतत्रिजगत्पतिः ॥ ६८/२ अन. ध.

इसकी टीका में पंडितजी, भाव अधिक स्पष्ट करते हैं कि, "गतं चित्तमनेन इत्यनुसंधान रागद्वेषाविति नियति रिति। पक्षे महेश्वरशक्ति विशेषः। तत्राद्याशक्तिर्हि पार्वती , तया चाहितातिशया सती नियतिर्भक्तान्प्रति परमाभ्युदयं करोति, इति भावना।" मन से राग द्वेष का अभाव होना ही नियति की स्वीकृति है। वह सतीरूप है याने निर्विकार-निर्विकल्प-निःशंक है। अतः निश्चित ही भक्तों को परम अभ्युदय की प्राप्ति करानेवाली है।

शंका– वस्तु के परिवर्तन मे क्रम है, यह बात तो समझ में आई है, किन्तु वह क्रम–'क्रमबद्ध' है, ऐसा उल्लेख शास्त्रों में नही मिलता है। यह अभी का सोनगढ़वालों का सिद्धान्त लगता है।

समाधान– पंडितजी ने अनगार धर्मामृत के अध्याय ३ श्लोक नं. ४ के टीका में "वस्तुतत्त्व नियतत्वात्" का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया है– "वस्तुतः

द्रव्यपर्यायात्मन अर्थस्य तत्त्व याथात्म्य , तत्र नियताः प्रतिनियतवृत्त्या निबद्धाः, तेषा भाव. तत्त्व तस्मात् इति।" इसका भाव यह है कि, द्रव्य पर्यायात्मक (गुण पर्यायात्मक) वस्तु का जो स्वरूप-आत्मीयता है, उसमे नियत अर्थात् प्रतिपर्याय का निश्चितरूप से जो निबद्धपणा है, याने पर्याय के क्रममें, जो सुनिश्चित बद्धता है, उसे ही क्रमबद्धपरिणमन कहते हैं। अत यह सोनगढ़ की नयी उपज नही है, तो उनके सातसौ वर्ष पहले ही प. आशाधरजी ने इसका उद्घोष किया था, यह मूल से ही जिनेन्द्र का सिद्धान्त है।

इसे समझकर हटवाद को छोड़कर वीतरागता धारण करने का पुरुषार्थ करना चाहिए। इसे जानने मानने में ही सभी का कल्याण है।

१५ - *पुरुषार्थ*

सब विकल्पों से दूर हटना , अचल आत्माश्रय वही।
कृतकृत्य है पुरुषार्थी, अहो , है मूक्तिकांतापति सही॥

पिछले प्रकरण मे प आशाधरजी ने वीतरागता धारण करने का पुरुषार्थ करने की प्रेरणा दी है। अत पुरुषार्थ का क्या अर्थ है, उसके भेद और हेतु आदि का इस परिच्छेद मे पडितजी के ही शब्दो में खुलासा करते हैं। यदि इसे माध्यस्थ भाव से देखा और सुना जाय तो पुरुषार्थ की सिद्धि सहज हो सकती है।

प्रश्न– पुरुषार्थ किसे कहते है ?

उत्तर– जिस प्रयत्न से सुख की प्राप्ति हो तथा दु ख की निवृत्ति हो उसे पुरुषार्थ कहते हैं। इन दोनो बातो का कारण धर्म है। अतः धर्म ही पुरुषार्थ है। इसमे किसी को विवाद नही है। यथा–

सुखं दु ख निवृत्तिश्च पुरुषार्थावुभौ स्मृतौ।
धर्मस्तत्कारणं सम्यक् सर्वेषामविगानत.॥ २२/१ अन. ध.

इसी अर्थ को स्पष्ट करनेके लिए तथा मुख्यफल सपादन में तत्पर ऐसे धर्म का अभिनन्दन करते हैं–

येन मुक्तिश्रीये पुंसि वास्यमाने जगच्छ्रियः।
स्वयं रज्यन्त्ययं धर्म. केन वर्ण्योऽनुभावतः॥ २३/१ अन. ध.

जिस धर्म का मुख्य उद्देश्य मुक्ति प्राप्त कराना है, उसका आश्रय लेने वाले पुरुष मे जगत की सर्व संपदायें स्वयं अनुराग करती हैं। (सर्व संपदा सहज ही प्राप्त होती हैं।) उस धर्म का और उसके फल का संपूर्ण वर्णन कौन कर सकता है? ब्रह्मादिक भी नही कर सकते। तात्पर्य यह है कि पुरुषार्थ, सम्यग्दर्शनादि 'युगपत् उत्पन्न होने वाला धर्म है ; और वह आत्मा का शुद्ध परिणाम है। यथा– "धर्मे सम्यग्दर्शनादि यौगपद्य प्रवृत्तैकत्वलक्षणे शुद्धात्म परिणामें____।" (अन. ध. २४/१ टीका)

पुरुषार्थ का प्रमुख उद्देश्य मोक्षप्राप्ति कराना ही है। अत: संवर निर्जरा ही उसका सही फल है। उसके साथ जो पुण्यबंध होता है वह , पुरुषार्थ से होता है ऐसा कहना उपचार है। यथा– "यथोक्त- धर्मानुरागहेतुकोऽपि पुण्यबध: धर्म: इत्युपचर्यते।" (अन. ध. २४/२ टीका)

संवर का हेतु ऐसा पुरुषार्थ चित् शक्ति के आश्रय से ही स्फुरायमान होता है। ऐसा कहते हैं– "यह ससार एक रगभूमि है, ज्ञानावरणादिक कर्म नाट्याचार्य है, तथा विभाव परिणति यहाँ नृत्य करनेवाली कही है। प्राय: सभी ससारी जीवों की ऐसी दशा होती है। किन्तु एकाध पुरुष , पौरुष्य जागृत होने पर, उस नृत्य करने वाली नटी को रोक देता है तो खेल खलास होता है। उसी प्रकार जब परम विवेक (शुद्धोपयोग) वा हेयोपादेयबुद्धि-हिताहितविचार जागृत होता है तो प्रमुख पुरुषार्थ धर्म वा मोक्ष प्राप्ति हेतु चित् शक्ति का ही आश्रय होता है।" यथा–

कर्मप्रयोक्तृ परतंत्रतयात्मसंगे , प्रव्यक्तभूरि रसभाववभरं नटंतीं।
चिच्छक्तिमग्रिमपुमर्थसमागमाय, व्यासेधत:स्फुरति कोऽपिपरो विवेक: ॥७२/६

टीका– अग्रिमपुमर्थ:– प्रधानपुरुषार्थ: धर्मो वा मोक्षो वा पक्षे-कामस्य अग्रे भवत्वादर्थ:। परो विवेक: – शुद्धोपयोगेऽवस्थानं हिताहितविचारश्च।

प्रश्न– क्या धर्मपुरुषार्थ और मोक्षपुरुषार्थ एक ही हैं?

उत्तर – नही। धर्मपुरुषार्थ कारण है और मोक्षपुरुषार्थ कार्य है। ऊपर जो "धर्मो वा मोक्षो वा" यह शब्द प्रयोग आया है वह धर्म पुरुषार्थ वा मोक्षपुरुषार्थ इस अर्थ मे नही , तो धर्म कहो या मोक्ष पुरुषार्थ कहो दोनों का अर्थ एक है, यह सूचित करने के लिए है।

आचार्य अमृतचन्द्रजी भी रत्नत्रय को धर्म सबोधकर उसको ही सिद्धि का उपाय ऐसा पुरुषार्थ कहते है। यथा–

विपरीताभिनिवेशं निरस्य सम्यग्व्यवस्य निजतत्त्वं।
यत्तस्मादविचलनं स एव पुरुषार्थ सिध्युपायोऽयम्॥ पु. सि.

विपरीत-मिथ्या- मान्यता को दूर कर , अपने ही आत्मतत्त्व का यथार्थ ज्ञान कर उसमे जो स्थिरता है उसे ही पुरुषार्थ या सिद्धि का उपाय समझो।

प्रश्न– मोक्ष पुरुषार्थ किसे कहते हैं और वह किसको होता है ?

उत्तर– जिससे मोक्ष की साधना हो, सवर निर्जरा हो, उसे मोक्ष पुरुषार्थ कहते है। यह मोक्ष पुरुषार्थ मुख्यतया से मुनि को होता है और एक देश (अशत) श्रावक को भी होता है।

शंका– श्रावक को तो मात्र तीन पुरुषार्थ बताये हैं यथा–

सत्कन्यां ददत . दत्त · सत्रिवर्गो गृहाश्रमः।
गृहं हि गृहिणीमाहु न कुड्यकट सहतिम्॥ ५९/२ सा. ध.

अर्थात् कन्यादान मे तीन वर्गो का दान दिया सा होता है। क्योकि गृहिणी को ही गृह कहते है, मात्र मकान की रचना को घर नही कहते। इससे गृहस्थ के तीन ही पुरुषार्थ सभव है ऐसा समझा जाता है।

समाधान– धर्म, अर्थ , कामरूप तीन वर्ग को तीन पुरुषार्थ कहना भ्रम है। तीन वर्ग याने तीन प्रकार से उस क्रिया मे प्रवृत्ति है।

प्रश्न– तीन वर्ग को पुरुषार्थ मानने मे भ्रम कैसा ?

उत्तर– साधारणत. यह माना जाता है कि –

(१) श्रावक के शुभाचार - व्रताचार को धर्म पुरुषार्थ कहते है।

(२) न्याय से धन का उपार्जन करना, संपत्ति बढ़ाना या रक्षण करना अर्थ पुरुषार्थ है।

(३) पुत्रोत्पत्ति हेतु धर्मपत्नि का संभोग करना कामपुरुषार्थ है।

(४) मोक्षप्राप्ति के लिए साधना करना मोक्षपुरुषार्थ है।

यहाँ धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ के संबंध में ही भूल है। पंडितजी कहते हैं कि यह तो तीन वर्गों का आचार (सदाचार) है। पंडितजी स्पष्ट कहते हैं कि,

धर्माचार– सयमासयमरूप , देवपूजादिरूप , सत्पात्र दानादिरूप, क्रिया (शुभाचार) **धर्माचार** है।

अर्थाचार– वेश्यादि व्यसन से निवृत्ति करके अखंड , निर्विघ्न धन का उपार्जन करना , मिले हुए धन की रक्षा करना और रक्षित धनकी वृद्धि करना **अर्थाचार** है।

कामाचार– सर्वेन्द्रिय को प्रीतिकारक कुलांगनाका संग करना, स्वदार सतोषी होकर धर्मपत्नि का उपभोग करना **कामाचार** है।

यह तीनो ही लोक में सबको अनुभव सिद्ध है। यथा– "सत्रिवर्गः धर्मार्थकामाना सद्‌गृहिणीमूलत्वात्। तथाहि– **धर्मः** स्वदार संतोषाद्यात्मकः , सयमासयमलक्षणः , देवादि परिचरणरूपः , सत्पात्रदानादिस्वभावश्च। **अर्थः** वेश्यादिव्यसनव्यावर्तनेन निष्प्रत्यूह अर्थस्य उपार्जनत्वात्। उपार्जितस्य च रक्षणात् रक्षितस्य च वर्धनात् यथाभाग्य ग्रामसुवर्णादि सपत्तिः। **कामश्चः** यथेष्ट माभिमानिकरसानुविद्ध सर्वेन्द्रियप्रीति हेतुः कुलागनासंगिना सुप्रतीतः। (सा. ध ज्ञानदि ९८/टीका)

अतः तीन वर्गों का पालन पुरुषार्थ नही है। इनका फल भी संसार ही है। तथा इसका अनुमोदन भी पुण्यबंध का - संसार का ही कारण है। क्योंकि इन तीन आचार में दक्ष तथा इसमें मदद करने वालों को भी इसी प्रकार का फल मिलता है। यथा– "धर्म, अर्थ और काम में यथायोग्य उपकार (उपचार)

करनेवाला बुद्धिमान गृहस्थ इस लोक मे तथा परलोक में धर्म, अर्थ और कामरूप संपदा से सम्पन्न होता है--"

धर्मार्थकामसध्रीचो यथौचित्यमुपाचरन्।
सुधीत्रिवर्ग संपत्या प्रेत्य चेह च मोदते ॥ ७४/२ सा. ध.

प्रश्न- धर्म, अर्थ और काम पुरुषार्थ का क्या स्वरूप है ?

उत्तर- (१) शुभाचार को हेय जानकर अशुभ से बचने के लिए ही उदासीन भाव से देव गुरुशास्त्र की भक्ति , गुप्ति, समिति आदि व्यवहार धर्म मे प्रवृत्ति करना धर्मपुरुषार्थ है। यह मोक्षपुरुषार्थ का साधक होता है। तथा मात्र शुद्धोपयोग को ही मोक्षपुरुषार्थ कहते हैं।

(२) अर्थ पुरुषार्थ- मैंने पुरुषार्थ से, न्याय से धन कमाया संपत्ति जोड़ी आदि भाव तो मद याने गर्व के हैं। अरे , ऐश्वर्य महर्द्धि , राजा या सामतपद आदि पूर्वबद्ध पुण्य कर्म के उदय से प्राप्त होते हैं, पुरुषार्थ से नही। यथा--
"इद अत्रैदपर्य , यत् ईश्वरो, महर्धिको, राजा सामतादिर्वा भवति तदा पुण्य विपाक प्रभवा सपदिय , न पौरुषेयी।" (सा. ध ५/६ ज्ञा. दि. टीका)

अत न्याय से भी धन प्राप्त होने को अर्थ पुरुषार्थ नही कहते हैं। अहो, "अविश्वासरूपी अन्धेरी रात के समान लोभरूपी अग्नि में घी डालने के समान, आरभादिक मगर मिट्ठी का कारण ऐसे परिग्रह को आप आत्म हितकारी (पुरुषार्थरूप) कैसे मान रहे हो ? वह परिग्रह तो अयोग्य (पापरूप) तथा असंयम का ही कारण होने से मूर्छा को ही बढ़ाता रहता है, ऐसे परिग्रह को एकसाथ छोड़ने मे असमर्थ होने पर उसे धीरे-धीरे घटना ही चाहिए।" यथा--

अविश्वासतमोनक्तं लोभानलघृताहुतिः।
आरंभमकरांभोधि रहो, श्रेयः परिग्रहः ॥ ६३/४ सा. ध.
अयोग्यासंयमस्यांगं संगं बाह्यमपि त्यजेत्।
मूर्च्छांगत्वादपि त्यक्तुमशक्तः कृशयेच्छनै. ॥ ६१/४

यहाँ पंडितजी वक्रोक्ति के द्वारा लक्ष्मी का मद त्यागने की प्रेरणा देते हैं-- "जो लक्ष्मी एकमात्र पुराकृत शुभकर्म के उदय से प्राप्त होती है, जो लक्ष्मी

एकसाथ आने वाले विपत्तियों और भीतियों का स्थान है, जो लक्ष्मी अपने अत्यंत भक्त, निकट संबंधी, पुत्रभाई आदि में भी निरन्तर विश्वास को घटाती है; जो लक्ष्मी दोषों में भी गुणों की कल्पना कराकर लोगों को अनुरागी बनाती है, हे भाई ! तू हिताहित विचार से रहित होने के कारण वह लक्ष्मी तुझे छोड़ जाने के पहले ही तू उसका त्याग कर दे और अपना श्रेष्ठत्व स्वीकार कर।" यथा–

या दैवेकनिबधना सहभुवां याऽऽपद्भियामामिषं,
या विस्रंभमजस्रमस्यति यथासन्नं सुभक्तेष्वपि।
या दोषेष्वपि तन्वति गुणधियं युंक्तेऽनुरक्त्या जनान्,
स्वभ्यस्वान्य तया श्रियासु न्हियसे यांत्यान्यमाध्यात्र चेत् ॥९०/२ अन. ध.

अतः धन कमाते समय जो असत्य, चोरी, परिग्रह आदि रूप पाप लगता है, उससे बचने के लिए अर्थात् अपने हित के लिए तथा परके भी हित के लिए दान देना, तीर्थयात्रा, पूजा, व्रत विधान, प्रतिष्ठा, ग्रन्थलेखन-प्रकाशन आदि धर्मकार्य में ही संपत्ति का विनियोग करना अर्थपुरुषार्थ है।

"जिनशासन का अनुरागी प्रतिदिन नियमपूर्वक शास्त्रविहित कुछ दान देता ही है और तपस्या करता है, उसका परलोक अवश्य ही महान होता है। अतः अर्थपुरुषार्थ के सिद्धि के लिए धर्मपात्रो को दान आदि देना चाहिए, और अर्थ संपादन में सहायक कर्मचारियों का, काम मे सहायक पत्नि का उपकार करना चाहिए। उनका हर तरह से संपोषण करना चाहिए तथा कीर्ति के लिए दान और प्रिय वचनों से दूसरों को सन्तुष्ट करना चाहिए। यथा–

नियमेनान्वहं किंचिद्यच्छतो वा तपस्यतः।
सन्त्यवश्यं महीयांसः परे लोका जिनश्रितः ॥ ४९/२ सा. ध.
धर्मपात्राण्यनुग्राह्याण्यमुत्र स्वार्थसिद्धये।
कार्यप्रात्राणि चात्रैव कीर्त्यै त्वौचित्यमाचरेत् ॥ ५०/२ सा. ध.

(३) काम पुरुषार्थ– अब्रह्मरूप पाप के डर से वेश्या तथा परदारा से दूर रहना, मनवचनकाय से कृत-कारित अनुमोदना नही करना यह तो काम-पुरुषार्थ

में गर्भित है। किन्तु स्वदार सन्तोषी, पुत्रोत्पत्ति के लिये स्वधर्मपत्नि के साथ भी भोग भोगने मे कामपुरुषार्थ नही है।

प्रश्न– क्या स्वदार सतोषी को कामपुरुषार्थ नही है ?

उत्तर– नही। यद्यपि अन्य स्त्रियों का त्याग कर स्वस्त्री मात्र में सतुष्ट रहना कामाचार कहलाता है, तथापि उसे धर्माचार भी कहना उपचार है। **संपूर्ण कामेच्छा का अभाव करना अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना ही काम पुरुषार्थ है।**

क्यों कि, स्वस्त्री मे रत ऐसा पुरुष स्त्री सेवन की भावना से रागी द्वेषी होता ही है तथा योनिजन्य बहुत सूक्ष्म जन्तुओं की भी हिसा करता है। (ऐसा हिसक व्यक्ति कामपुरुषार्थी कैसा ?) हॉं , स्वदार सतोषी यदि अष्टमी चतुर्दशी पर्व, व्रत, उपवास के दिन मे जो ब्रह्मचर्य का आशिक पालन करता है वह काम-पुरुषार्थ ही है। उस ब्रह्मचर्य की अद्‌भुत महिमा का क्या वर्णन करे।" यथा—

स्त्रियं भजन् भवत्येव रागद्वेषौ हिनस्ति च।
योनि जन्तून् बहून् सूक्ष्मान् हिंस्त्रः स्वस्त्रीरतोऽप्यतः ॥ ९५/२
स्वस्त्रीमात्रेण संतुष्टो नेच्छेद्योऽन्याः स्त्रियः सदा।
सोऽप्यद्भुतप्रभाव. स्यात् किं वर्ण्यं वर्णिनः पुनः ॥ ९६/२ सा. ध.

प्रश्न– क्या श्रावक को तीन ही पुरुषार्थ होते हैं ?

उत्तर– नही। श्रावक को चारो ही पुरुषार्थ होते हैं। क्योंकि उसको भी मोक्ष का कारण ऐसा सवर निर्जरारूप परिणाम होता ही है। उस संवर निर्जरारूप परिणाम को ही श्रावक का मोक्ष पुरुषार्थ कहते हैं—

धर्मार्थ कामपरमोदय सुस्थितानामप्यर्चितस्त्वरमवर्गचिकीर्षयाय।
आयुर्वृषार्थ सुख कृततुष्टि पुष्टिः स्नानेऽस्य वः प्रतनुतामघमार्ज्यपूरः ॥

प्रश्न– क्या मुनि को मात्र एक ही मोक्ष पुरुषार्थ होता है ?

उत्तर– नही। मुनि को तो मोक्ष पुरुषार्थ की प्रधानता होती ही है। तथा धर्माचार , कामाचार , अर्थाचार रूप विराधना नही होने से मुनिराज भी चारों

पुरुषार्थ के धारी होते हैं। मुनिराज ही क्या, अर्हंतपरमेष्ठी के भी चारों पुरुषार्थ होते हैं। यथा–

सो देवो जो अत्थं धम्मं कामं सुदेई णाणं च।
सो देई जस्स अत्थि हु अत्थो धम्मो य पव्वज्जा॥ २४ बो. पा.

इसका तात्पर्य यह है कि, "वही देव है, जो धर्मपुरुषार्थ, अर्थ पुरुषार्थ, काम पुरुषार्थ और सम्यग्ज्ञान याने मोक्षपुरुषार्थ को देता है। जो जिसके पास होता है वह उसको ही देता है।" इससे स्पष्ट होता है कि अर्हंत देव तथा सिद्ध भगवान इनको चारों ही पुरुषार्थ विद्यमान होते हैं।

शंका– प्रारंभ में धर्म को ही पुरुषार्थ कहा तथा धर्म और मोक्षपुरुषार्थ में अभेद बतलाया। धर्म तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र रूप है। उसके पहले जो पच लब्धि होती है, उसमें इन पुरुषार्थ का कुछ संबंध है क्या?

समाधान– निश्चय पुरुषार्थ तो करण लब्धि के अनंतर प्राप्त होने वाले सम्यक्त्व के साथ ही होता है। किन्तु व्यवहाररूप चारों पुरुषार्थ का अंतर्भाव प्रथम की चार लब्धि में इस प्रकार हो सकता है–

(१) **क्षयोपशमलब्धि में–** तत्त्वग्रहण की क्षमता के साथ श्रुताभ्यास का प्रयत्न व्यवहारत: धर्मपुरुषार्थ है।

(२) **विशुद्धि लब्धि में–** पंच पापों का अभाव तथा पंच इंद्रिय विषयों के प्रवृत्ति में मंदता आना व्यवहारत: कामपुरुषार्थ है।

(३) **देशनालब्धि में–** 'जीवोऽन्य पुद्‌गलश्चान्य:' ऐसे भेदज्ञान से आत्म तत्त्व की ओर झुकना तथा धन, शरीर आदि परपदार्थ से ममत्व घटना व्यवहारत: अर्थपुरुषार्थ है।

(४) **प्रायोग्यलब्धि में–** व्यवहार मोक्षसाधनरूप शुभाचार में बुद्धिपूर्वक अधिकाधिक प्रवृत्ति होना तथा अतरंग में कषायों की मंदतर प्रवृत्ति रहना व्यवहारत: मोक्षपुरुषार्थ है।

ऐसे व्यवहाररूप चार पुरुषार्थ अभव्य या भव्य मिथ्यादृष्टि को अथवा सम्यक्त्व सन्मुख भद्र परिणामी सज्ञी पचेन्द्रिय जीवों को हो सकते हैं।

(५) **करणलब्धि में**– निश्चय मोक्ष का साधक अबुद्धिपूर्वक संवर निर्जरा को नियम से लाने वाला मोक्षपुरुषार्थ होता है। इस ही उपयोग की प्रारंभिक शुद्धता होती है। यही सच्चा पुरुषार्थ है।

प्रश्न– शुद्धोपयोग मे तो कुछ भी करना नही होता है, क्या कुछ भी नही करने का नाम पुरुषार्थ है?

उत्तर– नही, परपदार्थों मे राग द्वेष रूप विकारी भावो का अभाव करना तथा स्वरूप मे रमणता करने का नाम पुरुषार्थ है। आचार्य अमृतचंद्रजी कहते हैं– "राग द्वेष रूप सभी विकल्प से अतीत होकर त्रैकालिक शुद्ध चैतन्य का जब आश्रय किया जाता है तभी वह कृतकृत्य बनता है और वह ही सिद्धि को प्राप्त कराने वाला परम पुरुषार्थ है।" पु मि यथा–

सर्वविवर्त्तोत्तीर्णं यदा स चैतन्यमचलमाप्नोति।
भवति तदा कृतकृत्य सम्यक्पुरुषार्थ सिद्धिमापन्न.॥

इस प्रकार जिसने विकार रूप सब विकल्पो का अभाव कर चैतन्य स्वरूप (ज्ञानरूप) आत्मा का ही नि.शक , निश्चल आश्रय लिया है वह कृतकृत्य याने कुछ भी करना शेष नही ऐसा होता है। वह ही सम्यक्पुरुषार्थ तथा मुक्तिरूप सिद्धि को प्राप्त करता है।

अत पुरुषार्थ का स्वरूप यथार्थ पहिचान कर सभी आत्मार्थी को सम्यक् पुरुषार्थ की सिद्धि करना चाहिए।

१६ - *सम्यग्ज्ञान के आठ लक्षण*

जिसके प्रसाद के बिना , मिटे न पूजा पूजक भेद।
स्यात्काररूप जिनवाणी को , नमन करूँ हितहेत॥ १॥
व्यंजन-अर्थ-उभय-काल ये , विनय अरु उपधान।
गुर्वाद्यनपन्हव सज्ज्ञान के, एक वाचि है बहुमान॥ २॥

(१) **व्यंजनोर्जित–** क से ह तक वर्णमाला को व्यंजन कहते हैं। शिक्षा का प्रारम्भ जैसा वर्णमाला से ही होता है वैसा श्रुतज्ञान का प्रारंभ भी शास्त्रीय भाषा (पारिभाषिक शब्दज्ञान) से ही होना इसका प्रयोजन है। 'व्यंजन श्रुतवचनं' (पूजाविधान) शब्दांकित या लिपिबद्ध रचना को श्रुत कहते हैं। तथा जो केवली ने कहा,, उसे सुनकर गणधरों ने जिसकी रचना की उसको श्रुत कहते हैं। . (अरहंतभासियत्थं गणधरदेवेहि गथियं सम्मं)

समझने समझाने का माध्यम भी शब्द ही है। अतः शब्दवचन के ज्ञान को श्रुतज्ञान कहते हैं क्योंकि शब्द कर्णेन्द्रिय का विषय है। यद्यपि श्रुतज्ञान पाँचों इन्द्रियों से उत्पन्न हुए मतिज्ञानपूर्वक होता है, अर्थात् एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय तक के सभी प्राणी को मति-श्रुतज्ञान होते हैं, तथापि यहाँ संज्ञी पंचेन्द्रिय जीव को होने वाले श्रुतज्ञान मे शब्द योजना की विशेषता है। शास्त्रीय चिंतन या वाचना, स्वाध्याय शब्द सुनकर या पढ़कर ही चलता है। यहाँ इतना विशेष समझना कि इन्द्रियज्ञान हेय होने से उसे अप्रयोजनीय कहा किन्तु वही माध्यम होने से उसके आधार से होने वाले अतीन्द्रिय ज्ञान को श्रुतज्ञान कहा है। यही श्रुतज्ञान मोक्षमार्ग में प्रयोजनवान है।

श्रुत के दो भेद हैं– १) शब्दश्रुत तथा २) भावश्रुत। इसको ही दूसरे शब्दों में परार्थश्रुत तथा स्वार्थश्रुत कहते हैं। परार्थश्रुत वचनात्मक होता है। इसे द्रव्यश्रुत भी कहते हैं। अतः द्रव्यों का द्रव्यदृष्टिका वर्णन जिसमें उत्कृष्टता से पाया जाय, ऐसा देशनारूप द्रव्यानुयोग का ज्ञान ही मानो व्यंजनोर्जित श्रुतज्ञान है। क्योकि जब श्रुतज्ञान स्वात्मोन्मुख होता है अर्थात् आत्मस्वरूप के चिन्तन-मननरूप प्रवर्तता है तब ही वह सम्यक् श्रुतज्ञान कहा जाता है। (सुश्रुतपराः — सतत स्वात्मोन्मुखसवित्ति-लक्षणश्रुतज्ञान निष्ठाः।) यह श्रुतज्ञान प्रारंभिक दशा में धर्मध्यानरूप ही होता है। अतः शुभ तथा प्रशंसनीय है। यथा–

ज्ञानांगमादौ शुभशंसि सम्यक् तद्व्यंजनाख्यं सततं नमामि।

(२) **अर्थसमग्र–** यह स्वार्थश्रुत है। 'ज्ञानात्मकं स्वार्थं' ऐसा इसका स्वरूप है। इसे भावश्रुत भी कहते हैं। तथा भाव शब्द का अर्थ परिणाम और

करण भी होता है। अत: मानो करणानुयोग का स्वाध्याय कराना इस ज्ञानाचार का प्रयोजन है। अथवा

'दव्वाणि गुणा तेसिं पज्जाया अट्ठसण्णया भणिया।
तेसिं गुण पज्जयाणं अप्पा दव्वत्ति उवदेशो ॥ ८७ ॥ प्र. सार

द्रव्य तथा गुणों की जो क्रमवर्ती पर्यायें हैं, उसको अर्थ कहते हैं। व्यजनोर्जित से जिस द्रव्य का निर्देश किया वह गुणपर्यायात्मक ही होता है। अत: सभी त्रिकालवर्ती गुणपर्यायों का ग्रहण ही अर्थ ग्रहण है। यदि अर्थों में पदार्थों मे श्रद्धा नही होती तो उस कोरे आगमज्ञान से भी मुक्ति संभव नही है। (णहि आगमेण सिज्झदि , सद्दहण यदि वि णत्थि अत्थेसु ।) अत: जो पढ़ते हैं या सुनते है उसका सही भाव-भावार्थ समझना ही श्रुतज्ञान है। अथवा, शब्द वाचक होता है और अर्थ वाच्य होते हैं। शब्द और अर्थ मे वाचक-वाच्य सबध है। अत: वाच्यभूत अर्थ-पदार्थ-तत्त्व को समझना ही अर्थ श्रुतज्ञान है। **आत्मचिंतनरूप ध्यान - अनुप्रेक्षा ही स्वार्थश्रुतज्ञान है।** 'श्रुतं मतिपूर्वं' इस सूत्र का यही अर्थ है। क्योकि 'स्वआत्मा' भी एक वस्तु है, अत: 'आत्मा' ऐसा शब्द सुनते ही जीवद्रव्य की तथा स्व आत्मा की भेदरूप प्रतीति होना ही सुश्रुतज्ञान है। पडितजी समझाते है कि– "मेरी एक आत्मा ही शाश्वत है, ज्ञान और दर्शन उसका स्वरूप है। जो कर्मसयोग से प्राप्त हुए हैं वे सब मेरे बाह्यभाव है। जीव ने जो दु ख परपरा प्राप्त की है उसका मूल यह सयोग ही हैं, अत समस्त कर्मसयोगो को मैं मन वचनकाय से त्यागता हूँ।" ऐसे श्रुत आगमवचन को सुनकर जो विचारधारा चलती है वही कल्याणकारी है। यथा–

येनान्वितो कामदुहेव सम्यक् गौ. सर्वकल्याणकरी जगत्यां।
ज्ञानांगमानंदितभव्यलोकं तदर्थसंज्ञ हृदये ममास्ताम्॥ २४ (ज्ञानाचार)

(३) **व्यंजनार्थोभयसमग्र–** एक शब्द के अनेक अर्थ होते है। 'चित्र व्हर्थयुक्त' ऐसा श्रुतज्ञान भक्ति मे आया है। उस अपेक्षा एक शब्द ग्रहण करने पर उसके अनेक अर्थो का पदार्थों का या तत्त्व का एक साथ ज्ञान होना ,

---

१– यद्यपि व्दि इन्द्रियों से असज्ञी पचेन्द्रिय तक सभी जीवों को वचन बल विद्यमान है, तथापि उसकी यहाँ विवक्षा नही है।

मतिज्ञान से जाने हुए एक तत्त्व से संबंधित अन्य अनेक तत्त्व का ज्ञान होना ही उभयसमग्र श्रुतज्ञान है। नाना अर्थों के प्ररूपण में समर्थ जो ज्ञानविशेष परिणति है उसे व्यंजनार्थोभय श्रुतज्ञान कहते हैं।

अथवा, एक नय से प्रतिपादन होते समय अन्य नय की भी अपेक्षा रहना और विरोधाभास मिटानेवाले उभयनयस्पर्शी ज्ञान को स्याद्वादज्ञान कहते हैं। वस्तु का कथन करनेवाले शब्द संख्यात ही हैं। किन्तु वस्तु तो अनेकान्तात्मक है। वचन अगोचर ऐसे भी धर्मों का बोध कराना इस आचार का प्रयोजन है अत: शब्द अर्थ तथा अर्थों के समग्र गुणों का ज्ञान होना ही व्यंजनार्थोभय श्रुतज्ञान है। यथा—

संजायते येन जगत्यजय्य- माहात्म्यभूमिर्मनुजोऽचिरेण।
ज्ञानांगमाविश्रुत - विश्वतत्त्वं तद्व्यंजनार्थोभयसंज्ञमीडे॥ २५॥

अथवा, शब्द तथा अर्थ में प्रमेयत्व नाम का गुण है अत: एक साथ दोनों को जानकर स्वज्ञेय को भी जाननेवाला (स्वसंवेदन) ज्ञान सुश्रुतज्ञान कहा जाता है। क्योंकि ज्ञान स्वपर प्रकाशी होता है। ज्ञान को स्वरूप (स्वानुभूतिरूप) परिणमाना ही श्रुतज्ञान का प्रयोजन है। धर्मध्यान को शुक्लध्यान में परिणमाने वाला यही ज्ञान है। 'एकाश्रये सवितर्क वीचारे पूर्वे। वितर्कः श्रुतम्। वीचारोऽर्थ व्यजनयोग सक्रान्तिः।' इन सूत्रो मे भी इसी अर्थ तथा व्यंजन का सपर्याय (विशेषरूप) चितन अपेक्षित है, जो प्रथम शुक्ल ध्यानरूप कहा है। उभय शब्द से इस श्रुतज्ञान को सापेक्ष श्रुतज्ञान भी कहते हैं।

एक श्रुतवचन को ग्रहण कर अन्य श्रुतवचन का अवलंब लेना (व्यंजन सक्रान्ति) या एक अर्थ को ग्रहण करने पर उसके सभी पर्याय तथा गुणों का आश्रय लेना (अर्थ सक्रांति) ही उभयसमग्र श्रुतज्ञान है। यह शुद्धोपयोगरूप होता है। अत: इससे संवर निर्जरा रूप मोक्षमार्ग की वृद्धि होती है।

जो जाणदि अरहंतं दव्वत्तगुणत्त पज्जयत्तेहिं।
सो जाणदि अप्पाणं मोहो खलु जादि तस्स लयं॥ ८० प्र. सार

इस गाथा मे वर्णित अरहत को जानकर वैसा अपने को जानने-माननेवाला ज्ञान ही अर्थ सक्रातिरूप श्रुतज्ञान है। इससे प्रथम दर्शनमोहनीय का तथा आगे चारित्रमोह का भी क्रमश नाश होकर मुक्ति प्राप्त होती है।

तं एयत्तविहत्तं दाएहं अप्पणो सविहवेण।
जदि दाएज्ज पमाणं चुक्केज्ज छलं ण घेतव्वं॥ ५॥ स. सार .

पर से भिन्न स्वसे एकत्वरूप चितन ही उभय समग्र श्रुतज्ञान है। इसमें योग सक्राति सभवनीय है।

(४) **कालाध्ययन**- भव्यजीव को स्वपर ऐसे भेद विज्ञान का जनक तथा स्वकाल याने स्वचतुष्टय का बोधक ज्ञान ही कालाध्ययन श्रुतज्ञान है।

काल का अर्थ दैव ऐसा भी होता है, होनहार, भवितव्य, काललब्धि ये उसके ही पर्यायवाची शब्द है। वस्तु पर्यायात्मक होती है, उसके प्रतिपर्याय के नियत ऐसे स्वकाल की अर्थात् द्रव्य के स्वक्षेत्र, स्वकाल, स्वभाव की मान्यता ही कालाध्ययन है। इसे समझने स परकर्तृत्व का अभाव तथा स्वकर्तृत्व में कृतकृत्यता आती है।[१] अथवा– काल स्वतत्र द्रव्य है, उससे जीव भिन्न है। देह से भिन्न है तथा चैतन्य उसका शाश्वत लक्षण है।' ऐसे भेदज्ञान के द्वारा स्व-ग्रहण (निर्णय से) ही परमात्म पद की (इष्टार्थ की) प्राप्ति सभव है। यथा–

येनाऽयमात्मा स्वपर प्रमाता भव्यात्मनां गोचरतामुपैति।
ज्ञानांग मिष्टार्थ विधायी नित्य , तदत्रकालाध्ययनं महामि॥ २६॥

ऐसे इष्टार्थ का विधान ही धर्मोपदेश - स्वाध्याय है। अथवा, काल का पर्यायवाची शब्द समय भी होता है। तथा समय का अर्थ आत्मा भी होता है। अत समयाध्ययन = आत्माध्ययन = स्वाध्ययन ही सही कालाध्ययन है। स्वय पडितजी ने लघु रत्नत्रय पूजा मे इसका खुलासा किया है कि , 'अकाल पठणातीत, चित्कालाध्ययनोद्धूर उद्धूर' याने स्थिर शाश्वत-नित्य त्रैकालिक ऐसे मात्र चित्स्वरूपी ज्ञायक आत्मा का ही चितन, कालाध्ययन है, जो कि परकाल से रहित या दूषित काल से रहित हो। यहाँ एकत्ववितर्क नामक द्वितीय शुक्लध्यान का ही मानो दिग्दर्शन है। व्यजन तथा अर्थसक्रातिका तो अभाव होता किन्तु सवितर्क रूप रहना इसका लक्ष्य है। इसका फल कैवल्य प्राप्ति है। यथा–

१- प्रत्येक द्रव्य त्रैकालिक (अनादि अनत) होता है। उसे समझना ही कालाध्ययन है।

श्रुतभावनया हि स्यात् पृथक्त्वैकत्व लक्षणं।
शुक्लं तच्छ कैवल्यं तच्छ्रातें पराच्च्युति: ॥ २४/३ अन. ध.

सम्यग्ज्ञान की जयमाला में पंडितजी कहते हैं कि, 'उचितोचित्त काल सुपाठवर, गुरुभक्ति-पुराकृतपापहरम् ।' अर्थात् योग्य योग्य काल का स्व-स्वकाल का अथवा स्व-स्व समय का जो सुपाठ- सदुपदेश है, उसको धारण करना ही सही गुरु भक्ति है। इससे ही पुराकृत पाप का मिथ्यात्व का या पूर्व में धारण की गई मिथ्या मान्यता का (गृहीत-अगृहीत मिथ्यात्व का) नाश सभव है। इसी से सम्यग्दृष्टि को स्वसमय कहते हैं। इसमे मात्र ज्ञान का चितन है। यह कुन्दकुन्दाचार्य के समयसार का ही अनुसरण है। यथा—

व्यवहारेणुवदिस्सदि णाणिस्स चरित्तं दंसणं णाणं।
ण वि णाणं ण चरित्तं ण दंसणं जाणगो सुद्धो ॥ ७ ॥

(५) **उपधान–** इसका शब्दार्थ है विशेष या सर्वोत्कृष्ट। यह विशेषण सम्यग्ज्ञान के विशेष दशा का दर्शक होने से ज्ञानातिशय प्रकट करना-कराने का द्योतक है। ज्ञान की पूर्णता को प्राप्त होना ही इसका फल है।

द्रव्यश्रुत के अध्ययन से भावश्रुत को निर्विघ्न प्राप्त होना ही सही श्रुताध्ययन याने स्वाध्ययन है। उसको पाने वाला बुध अर्थात् सम्यग्ज्ञानी होता है। यह ही भावश्रुत को प्राप्त करने वाले आचार मार्ग का – (अन्य अनुयोग के साथ) चरणानुयोग का स्वाध्याय करने का फल है। यथा—

प्रारिप्सितस्याशु बुधोऽत्र येन ग्रंथस्य निर्विघ्नमुपैति पारं।
ज्ञानांगमाचार- पथः प्रकाशि तत्तूपधानाख्यमहं श्रयामि ॥ २७ ॥

अर्थात् द्रव्यश्रुत का अध्ययन प्रारभ कर उसके पार को प्राप्त होना, याने पूर्णज्ञान-केवलज्ञान को प्राप्त कराना ही इसका प्रयोजन है। अत· अध्ययन को बीच मे ही या अधूरा ही नही छोड़ना चाहिए। क्योंकि– "ज्ञानभावना-आलस्य त्याग: स्वाध्याय:।" ज्ञानसंपादन में होने वाले प्रमाद का परिहार ही स्वाध्याय है।

अथवा, द्रव्यश्रुत द्वादशांग (ग्यारह अंग + चौदह पूर्व) में विभक्त हैं। उसमें पहले अंग का नाम आचारांग हैं। (पहलो आचारांग बखानो) उसका

अध्ययन कर - अवलब लेकर शेष अगो का - श्रुत का अध्ययन करना ही उपधान है। क्योकि द्वादशाग के ज्ञानी को श्रुतज्ञानी-श्रुतकेवली कहते हैं। तथा केवल एक आत्मा के ज्ञानी को भी श्रुतकेवली-श्रुतज्ञानी कहते हैं। ये सम्यग्ज्ञानी ही होते है तथा ज्ञान के अशरूप नय-प्रमाण को जानने वाले को भी सम्यग्ज्ञानी कहते हैं।

चरणानुयोग द्रव्यानुयोग का ही अनुसरण करता है और द्रव्यानुयोग भी चरणानुयोग का अनुसरण करता-कराता है। इस प्रकार वे दोनो परस्पर सापेक्ष है। इसलिए या तो द्रव्य का आश्रय लेकर अथवा चरण का - आचार का आश्रय लेकर मुमुक्षु (ज्ञानी) मोक्षमार्ग मे आरोहण करो। यथा—

द्रव्यानुसारि चरणं चरणानुसारि, द्रव्यं मिथो द्वयमिदं ननु सव्यपेक्षं।
तस्मान्मुमुक्षुरधिरोहतु मोक्षमार्गं, द्रव्यं प्रतीत्य यदि वा चरणं प्रतीत्य॥
(प्र. सार)

(६) विनयोन्मुद्रित–

सामीप्यमाप्यत्कुपितेव जन्तोर्नाभ्येति येनाश्रित चित्तवृत्तिः।
ज्ञानांगमानंदभरेण सम्यक् ज्ञानप्रदं तद्विनयाख्यमीडे॥ २५॥

जिसको धारण करने से क्रोधी आदि जीवो की आश्रितचित्तवृत्ति (गृहीत मिथ्यात्वरूप प्रवृत्ति) या विकाररूप सविकल्प अर्थात् चचल प्रवृत्ति नही रहती, उस विशिष्ट- असाधारण-विशेष ऐसे ज्ञान से आनद की अनुभूति के लिए निर्विकल्प रूप विनय को-वीतरागता के धारण करना ही श्रुतज्ञान की सही पूजा है। (विशिष्टेऽसाधारणगुणे नयति-इति विनय।)

विनय नाम का एक अभ्यतर तप भी है। ज्ञान और तप मे परस्पर पूरकता जब होती है तभी वे सम्यक् कहे जाते हैं। इसी कारण पडितजी ने स्वयं कहा है कि "ज्ञानमर्च्य तपोऽगत्वात्, तपोऽर्च्य तत्परत्वत।" अर्थात्— तप का अंग होन से ज्ञान पूज्य है तथा ज्ञानपूर्वक ही या ज्ञान को विकसित करने से ही तप पूज्य है।

विनय यह ऐसा ज्ञानाचार है जिसमे परज्ञेयाकार ग्रहण की मुख्यता नही के बराबर (गौण) है। ऐसे निर्विकल्प-स्वसवेदक ज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहते

हैं। उसके प्रतिपादक - सविकल्प ज्ञान को भी सम्यग्ज्ञान कहना दह व्यवहार है। यथा—

निर्विकल्प-सुसंवित्तिरनर्पित परिग्रहम्।
सज्ज्ञानं निश्चयादुक्तं व्यवहारेण यत्परम्॥ १॥ (ज्ञानस्तुति)

अथवा, विनय का अर्थ नम्रता होता है। यह कषाय की मदता का दर्शक है। यह तो स्पष्ट है कि विशुद्धिलब्धि के बिना देशनालब्धि नहीं बनती है। तथा देशना से ही ऐसी पात्रता-योग्यता आती है जिससे वह सम्यग्ज्ञानी होकर कर्मों का क्षय करे। यथा—

जो मोहराग दोसे णिहणदि उवलब्भ जोण्हमुवदेसं।
सो सव्वदुक्खमोक्खं पावदि अचिरेण कालेण॥ ८८॥ (प्र. सार)

अत बहिरंग विनयाचार अंतरग मोह-राग-द्वेष के अभाव का दर्शक जानकर उसका अगीकार करना। मन के अनेक संकल्प-विकल्प को शांत करना ही इस ज्ञानाचार की सही पूजा है। यथा—

'सुमनोभिर्मनोऽनल्पसंकल्प-भ्रांति-शांतये।
अंगानि व्यंजनादिनि ज्ञानाचारस्य संयजे॥ (पुष्पपूजा)

(७) गुर्वाद्यन पन्हव–

द्रव्यश्रुतं प्राप्य विमुक्ति हेतुं भावश्रुतं विंदति येन योगी।
ज्ञानांगमध्यापक-सूरि-गुर्वनपन्हवाख्यं हृदये ममास्ताम्॥ २९॥

जिनकी देशना से योगी-मुमुक्षु द्रव्यश्रुत को जानकर भावश्रुत को सम्यग्ज्ञान को प्राप्त होता है, उनके नामादि का लोप नही होने देना ही गुर्वाद्यनपन्हव है। जिनके शास्त्रस्वाध्याय से यह ज्ञानी होता है, उनके नामादिक प्रकट कर उन गुरु (साधु), उपाध्याय तथा आचार्य का विनय करना योग्य है। इससे उनकी आम्नाय-परपरा स्पष्ट होती है तथा वचन में प्रामाण्य आता है।

इसी कारण शास्त्र वाचना के प्रारंभ मे कहा जाता है कि, "अस्य मूलग्रंथ कर्तारः श्री सर्वज्ञदेवा., तदुत्तरग्रंथ कर्तारः श्री गणधरदेवाः, तेषां वचनानुसार-मासाद्य___ आदि।" यह इसी ज्ञानाचार का पालन है तथा इससे- 'अर्हद्वचनप्रसूतं गणधर रचित द्वादशांगं विशालं' ऐसे प्रमाणभूत श्रुतज्ञान का ही स्वाध्याय करने का बोध होता है।

अथवा, गुरु आदि की परम्परा ज्ञान से इतिहास का ही बोध होता है। यह इतिहास प्रथमानुयोग मे निबद्ध ही है। अत प्रथमानुयोग का स्वाध्याय ही सही अर्थ में गुर्वाद्यनपन्हव है।

जिस सस्कृति का परपरा या प्राचीन इतिहास नही है वह नयी कपोल कल्पित अर्थात् अप्रमाणित होती है। जैसे— जिस बालक को अपने पिता का नाम मालूम नही है वह वेश्यापुत्र कहा जाता है।' अर्थात् उसे भ्रष्ट कहते हैं, उसी प्रकार वे ही ग्रथ अध्ययनीय है जो पूर्व परपरा से प्रमाणित हैं।

अत जिसका स्वाध्याय करना है उस ग्रथ का नाम लेना, कर्त्ता का स्मरण करना या परपरा का स्मरण करना उस ग्रथ के प्रमाणता का सूचक है। ऐसे ही ग्रथो के स्वाध्याय से प्राप्त होने वाला ज्ञान श्रुतज्ञान कहा जाता है।

(८) बहुमान-

नरं मुनिनामपि माननीयं सुसेवितं चाद्भुतमातनोति।
ज्ञानागमीडे बहुमानसंज्ञं नयप्रमाणप्रतिपत्तये तत्॥

जिससे श्रुतज्ञान के धारक गृहस्थ के भी वचन को मुनि प्रमाण मानते है तथा जिस श्रुतज्ञान को धारण करने से चर्चा अर्थात् पृच्छना स्वाध्याय होता है और शका-समाधानरूप अपूर्व फल प्राप्त होता है उसे बहुमान कहते है।

चर्चा यद्यपि शब्द स्वरूप ही है, तथापि व्यर्थ का वार्तालाप सुश्रुत नही है। क्या पूछना चाहिए तथा क्या बोलना चाहिए इसके लिए पडितजी ने दो श्लोक उद्धृत किये है। उसका भाव यह है कि, "वही[१] बोलना चाहिए, वही दूसरो को पूछना चाहिए, उसी की इच्छा करनी चाहिए, उसी मे उद्यत रहना चाहिए, जिसके द्वारा अपना अज्ञान दूर होकर ज्ञानमय रूप प्रकट हो।" तथा "वह[२] ज्ञानमय महान उत्कृष्ट ज्योति अज्ञान की उच्छेदक है। अत मुमुक्षु को उसी के विषय मे पूछना चाहिए, उसी की कामना करनी चाहिए और उसी का ही अनुभव करना चाहिए।" यही सही ज्ञानाराधना है।

जो जिसमे प्रवीण - बड़ा होगा उसको वैसा मानना ही बहुमान है। 'मै मुनि हूँ' पडितजी के वचन को मै कैसे प्रमाण मानूँ?' ऐसा गर्व करना तो मानकषाय के वश होना है।

१- तदब्रूयात्तत्परान्पृच्छेत्तदीच्छेत् ____

२ अविद्याभिदुर ज्योति पर ज्ञानमय महन् ____

प्रश्न– विनय तथा बहुमान में क्या अंतर है ?

उत्तर– विनय बड़ों का किया जाता है, जैसा शिष्य से गुरु के प्रति नम्रताचार तथा बड़ों से छोटे का अर्थात् गुरु से शिष्य का जो सन्मान होता है उसे बहुमान कहते हैं। कोई तप मे श्रेष्ठ होते हैं, कोई ज्ञान में श्रेष्ठ होते हैं। बहुमान तो गुण का ही होता है, गुणी का सन्मान तो उपचार ही है।

कौन किसमे बड़ा है, यह तो नय विवक्षा से ही प्रमाणित होता है। इसी कारण पंडितजी ने 'नय प्रमाण प्रतिपत्तये तत्' ऐसा कहकर नय और प्रमाण को जानने की प्रेरणा की है। वस्तु के यथार्थ ज्ञान होने के लिए भी नय प्रमाण को जानना जरूरी है।

१७ - *नय व्यवस्था*

प्रश्न– प्रमाण और नय किसे कहते है तथा उसके भेद कितने है ?

उत्तर– ***सम्यग्ज्ञान को या पूर्ण ज्ञान को प्रमाण कहते है।*** प्रमाण को ही सम्यक् अनेकान्त, सकलादेशी, अभेदवृत्ति या अभेदोपचारवाला कहते हैं। इस ज्ञान मे गौण-मुख्य व्यवस्था न होकर सभी धर्म (गुण) मुख्यरूप से ही जाने जाते है। प्रमाण मे अनेक धर्म का निश्चय होता है, इसमे से ही अनेक ग्यो का उद्‌गम होता है। अतः यह प्रमाण श्रेष्ठतम है।

वचन तो नयरूप ही होता है, परविवक्षा अपेक्षा भिन्न-भिन्न होता है तथा वक्ता पर निर्भर रहता है।

नयो का स्वरूप– प्रमाण के द्वारा गृहीत वस्तु के अश को, श्रुत-विकल्प को, नाना स्वभावो से पृथक् कर जो एक स्वभाव मे स्थापित करता है **उसे नय कहते हैं**। नय न तो प्रमाण है और न अप्रमाण है, किन्तु प्रमाण का एक देश है। इसके सबध मे आ. विद्यानन्द स्वामी ने श्लोकवार्तिक में कहा है कि, "समुद्र के अश को न समुद्र कह सकते हैं, न असमुद्र। यदि समुद्र का अश ही समुद्र हो तो बाकी अश असमुद्र होगे और एक अश को भी समुद्र कहा जाये तो समुद्र नाना होंगे। इसी दृष्टि से ये नय – विकला देशी, सम्यक एकान्तवाले,

भेदवृत्ति वा भेदोपचार दर्शक, धर्मान्तरों की अपेक्षा रखने वाले तथा गौण-मुख्य व्यवस्थावाले होते हैं।

नयज्ञान सशयरूप नही है। इसमे एक धर्म का निश्चय ही होता है। विशिष्ट दृष्टि से विशिष्ट धर्म का (अंश का) कथन मुख्य होता है और गौणरूप से शेष धर्मों का आदान अपेक्षित रहता है।

नय के दो भेद हैं– (१) निश्चय और (२) व्यवहार। यथा–

कर्त्राद्या वस्तुनो भिन्ना येन निश्चयसिद्धये।
साध्यन्ते व्यवहारोऽसौ निश्चयस्तदभेदहक्॥ १०२/१ अन. ध.

जिसके द्वारा निश्चय-निर्णय करने के लिये कर्त्ता-कर्म-करण आदि कारक जीवादि वस्तु से भिन्न-भिन्न जाने जाते हैं उसको व्यवहारनय कहते हैं। और कर्त्ता कर्म आदि कारक को जीवादि वस्तु से अभिन्न देखने वाला निश्चयनय है। 'स्वाश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहारः।' ऐसा भी आ अमृतचन्द्रजी ने नयों का स्वरूप बताया है। आगे के विवेचन से इसका अधिक स्पष्टीकरण हो सकता है।

निश्चयनय	व्यवहारनय
(१) अभेद का कथन करने वाला	भेद का कथन करने वाला
(२) सत्य (जैसा का वैसा) निरूपक	उपचरित कथन करने वाला
(३) असयोगी कथन करने वाला	सयोगी कथन करने वाला
(४) प्रत्येक द्रव्य का स्वतत्र कथन करने वाला	अनेक द्रव्यो को, उनके भावों को तथा कार्यकारणादिक को मिलाकर कथन करने वाला
(५) प्रतिषेधक	प्रतिषेध्य
(६) उस द्रव्य के गुणपर्याय को उसी का ही कहता है।	निमित्त की अपेक्षा से किसी को किसी का कहता है।
(७) प्रतिपाद्य	प्रतिपादक

कथन चाहे निश्चय का हो या व्यवहार का हो, वह होता है व्यवहार से ही। क्योंकि भेद के बिना कथन संभव नहीं है और भेद करना या मानना व्यवहार ही है। इस तरह इस दोनों नयों के बीच अंतर है। दोनों की दृष्टि ही भिन्न-भिन्न है।

"जो निश्चय की दृष्टि अपनाता है वह निश्चय से सम्यग्दृष्टि होता है", ऐसा समयसार का सार है। अतः निश्चय को यथार्थ समझने के लिए उनके भेदों को जानना जरूरी है।

निश्चयनय के तीन भेद हैं–

(१) परम शुद्ध निश्चयनय – इनका विषय - त्रिकाली ज्ञायक भाव निगोद से सिद्धों तक सभी जीवों में विद्यमान।

(२) साक्षात् (पूर्ण) शुद्ध निश्चयनय – इनका विषय - केवलज्ञानादि पूर्ण शुद्ध पर्याय परमात्मपद दर्शक।

(३) एकदेश शुद्ध निश्चयनय – इनका विषय - निश्चय रत्नत्रयरूप आशिक शुद्धपर्याय-अतरात्मपद दर्शक।

इनमे से परमशुद्ध निश्चयनय ही आराध्य-आश्रय करने लायक है। शेष दोनों ज्ञेय हैं, क्योंकि जो वर्तमान हो उसका ही आश्रय लिया जाता है। साक्षात शुद्धनिश्चयनय का जो विषय है वह तो अभी प्राप्त ही नही हुआ है तो, मुमुक्षु उसका आश्रय कैसा ले सकेगा? तथा एक देश शुद्धनिश्चयनय की प्राप्ति भी तभी होती है, जब त्रिकाली ध्रुव ज्ञायक भाव का आश्रय लिया जाता है।

पडितजी कहते हैं कि निश्चय की सही दृष्टि प्राप्त हुए बिना व्यवहार भी मिथ्या है। यथा–

व्यवहारमभूतार्थं प्रायो भूतार्थविमुखजनमोहात्।
केवलमुपभुंजानो व्यंजनवद् भ्रश्यति स्वार्थात्॥ ९९/१ अन. ध.

जैसे व्यजन आदि रस के बिना मात्र दाल चावल खाने वाले को वह भोजन नीरस लगता है - उसकी रुचि भ्रष्ट हो जाती है; वैसे ही निश्चय से विमुख याने मात्र बहिर्दृष्टिवाले जीव, अभूतार्थ-व्यवहार की भावना-यत्न करने पर भी अपने मोक्षरूपी स्वार्थ से भ्रष्ट हो जाते हैं।

देखिए , यहाँ पडितजी ने व्यवहार का निषेध नहीं किया है। मात्र निश्चयरहित दृष्टि का निषेध किया है। क्योंकि निश्चय सापेक्ष व्यवहार ही समीचीन व्यवहार है। इस व्यवहार को भी सही जानने के लिए उसके भेदो को जानना जरूरी है। उसके भेद दो हैं, यथा–

सद्भूतेतर भेदाद् व्यवहारः स्याद् द्विधा भिदुपचारः।
गुण गुणिनोरभिदायामपि सद्भूतो विपर्ययादितरः ॥ १०४/१

(१) सद्भूत व्यवहार तथा (२) असद्भूतव्यवहार।

(१) अभेदरूप द्रव्य में गुणगणी, पर्याय पर्यायी आदि भेद करने वाला सद्भूतव्यवहार नय है। तथा (२) भेद में अभेद करनेवाला असद्भूत व्यवहारनय है। सद्भूतव्यवहार नय के भी दो भेद हैं। यथा–

सद्भूतः शुद्धेत्तर भेदाद् द्वेधा तु चेतनस्य गुणाः।
केवलबोधादय इति शुद्धोऽनुपचरितसंज्ञोऽसौ ॥ १०५/१

(१) शुद्ध (अनुपचरित) तथा (२) अशुद्ध (उपचरित)।

(१) केवलज्ञानादिक जीव के शुद्धगुणपर्याय का कथन करनेवाला **शुद्ध सद्भूत व्यवहारनय है**। इसी को आलाप पद्धति मे अनंतधर्मात्मक एक-अखण्ड वस्तु में गुण, कारक , स्वभाव, संख्या, पर्यायों के आधार पर भेद करके दिखानेवाला कहा है। गुण, धर्म, पर्याय, उसी वस्तु के हैं इसलिए सद्भूत तथा अखड मे भेद किये इसलिये व्यवहार , और भेद-अश को ग्रहण करता है इसलिए नय कहा है। इस नय के द्वारा आत्मा मे विद्यमान शक्ति (गुण) का और पूर्ण शुद्ध व्यक्ति (पर्याय) का परिचय कराया है। अतः इसको जानना आवश्यक है, किन्तु उसमें ही उलझना नही है। उलझे रहे तो अखंड आत्मा का आनंद नही प्राप्त होगा। इसी कारण व्यवहार का निषेध किया गया है। व्यवहार को छोड़ना नही पड़ता है तो वह स्वयमेव छूटता है। सातवे गुणस्थान से आगे व्यवहार का करना तो दूर , उसके छोड़ने का विकल्प भी नहीं आता है। व्यवहार नही होना ही उसका छूटना है।

(२) अशुद्ध (उपचरित) सद्भूत व्यवहारनय-

"मत्यादिविभावगुणाश्रित इत्युपचरितकः स चाशुद्धः ।" मतिज्ञान, श्रुतज्ञान जीव के हैं, ऐसा वर्तमान में विभावपर्याय की अपेक्षा कथन करने वाला यह नय है। विभावरूप है इसलिए अशुद्ध है, विद्यमान अर्थात् प्रतीतिरूप है इसलिए सद्भूत है और भेद करके कथन करता है इसलिए व्यवहार है। आलाप पद्धति में इस नय को अशुद्धगुण अशुद्धगुणी में, अशुद्धपर्याय-अशुद्धपर्यायी में भेद कथन करने वाला कहा है। इस नय ने जीव के अपूर्ण तथा विकारी पर्यायों का ज्ञान कराया है। यदि इसका ज्ञान नही होगा तो इस अवस्था के अभाव का प्रयत्न भी नही हो सकेगा। इसलिए इसे जानना भी आवश्यक है।

असद्भूत व्यवहारनय के भी इसी प्रकार दो भेद हैं।

(१) अनुपचरित असद्भूत व्यवहारनय-

देहो मदीय इत्यनुपचरितसंज्ञस्त्वसद्भूतः ॥ १०६/१

यह शरीर मेरा है, ऐसा संश्लेष सबंध सहित वस्तु का कथन करना इस नय का स्वरूप है। आप्तमीमासा में इसका स्वरूप बताया है कि, "जीव कर्म का कर्ता भोक्ता है, ऐसा यह नय कथन करता है।" यहाँ अनुपचरित शब्द का अर्थ यह है कि असद्भूतव्यवहार ही उपचार है और उपचार में उपचार करने को अनुपचरित असद्भूत कहा है। यहाँ अनुपचरित शब्द से उपचार का निषेध नही लेना, तो उपचार में उपचार का निषेध समझना। यह नय शरीर आदि पर पदार्थों के साथ आत्मा का कौनसा सबध है यह बताता है।

परमात्म प्रकाश में कहा है– "अनुपचरित असद्भूतव्यवहारनयेन देहाद् अभिन्न____" अर्थात् इस नय से आत्मा को देहादि से अभिन्न माना जाता है। मनुष्य, तिर्यच देव आदि विभाग भी इस नय से होते हैं। पचास्तिकाय गाथा ४८ की तात्पर्यवृत्ति में कहा है कि– "जीवस्यौदयिक भाव चतुष्टयमनुपचरितमसद्भूतव्यवहारेण द्रव्य-कर्म कृतमिति।" इस तरह इस नय का विषय सबंधयुक्त पदार्थ को आत्मा या आत्मा का कहना है। इस नय के मानने पर ही उनको छोड़ना तथा अन्य पदार्थों में अपनत्व का निषेध स्वमेव हो जाता है। तथा इसे

न मानने पर सारा करणानुयोग तथा चरणानुयोग बिगड़ जाता है। क्योंकि त्रस स्थावर जीवों की हिसा ही इस नय को न मानने पर नही बनेगी ; अहिंसाणुव्रत अहिंसा महाव्रत काल्पनिक होंगे। भगवान की सर्वज्ञता भी नही घटेगी, क्योंकि भगवान पर को अनुपचरित असद्भूत व्यवहार से ही जानते हैं।

(२) उपचरित असद्भूत व्यवहारनय–

देशो मदीय इत्युपचरितसमाख्यः स एव चेत्युक्तम्।
नयचक्रमूलभूतं नयषट्कं प्रवचणपटिष्टैः ॥ १०७/१

देश मेरा है, ऐसा ग्राम-घर आदि को अपना कहने वाला यह नय है। इस नय मे सश्लेष सबध का तो अभाव रहता है किन्तु साहचर्य का सद्भाव होता है। प्रवचनसार की तात्पर्यवृत्ति में कहा है– "देवदत्तस्य धनं, वा काष्ठासनाद्युपविष्ट देवदत्तवत्, समवसरणस्थित वीतरागसर्वज्ञवत् वा विवक्षितैक ग्राम-गृहादि स्थितिवत् इति।" देवदत्त का धन, वा काष्ठ के आसन पर बैठा देवदत्त जैसा, समवसरण नें विराजमान वीतराग सर्वज्ञ हैं, या अमुक ग्राम घर आदि में अमुक रहता है आदि कथन इस नय का विषय है। लकड़ी वाला पुरुष, टोपीवाला पुरुष ऐसा बाह्य पदार्थ के आश्रय से भी यह नय कथन करता है। अर्थात् सयोग सबधी परपदार्थ अपने है ऐसा, इस नय से समझा जाता है। सारा लोक व्यवहार इस नय पर आश्रित है। तथा इस नय के आधार से ही पचेन्द्रिय के विषय सेवन या त्याग बन सकता है। नोकर्मरूप से जो परपदार्थ सबधित है उसमें आत्मत्व की भावना इसी नय के मानने पर घटित होती है तथा अन्य पर पदार्थ परके घोषित होते हैं।

इस नय को नही मानने पर जिनमदिर-शिवमंदिर, स्वस्त्री-परस्त्री, स्वगृह-परगृह, स्वदेश-परदेश आदि का भेद नही हो सकेगा। संयोग संबंध से कथन करने वाला करणानुयोग तथा चरणानुयोग भी इसी आधार पर चलता है। अत. इस नय से नोकर्मरूप सयुक्त पदार्थ को छोड़कर अन्य सब पदार्थ से दृष्टि हटाने का उपदेश इसी के आधार पर होता है। अन्य पदार्थ का ग्रहण लोक मे चोरी या परिग्रह पाप में अतर्भूत होता है।

इस प्रकार इन नयों का मूल उद्देश्य भेदविज्ञान कराना ही है। नयचक्र में इस असद्भूतनय को नवरूप बताया है–

(१) द्रव्य में द्रव्य का उपचार – उदाहरण– एकेन्द्रियादि शरीर को जीव कहना,

(२) द्रव्य में गुण का उपचार – उदाहरण– ज्ञेय को ज्ञान कहना,

(३) द्रव्य में पर्याय का उपचार – उदाहरण– एक प्रदेशी परमाणु को बहुप्रदेशी कहना,

(४) गुण में गुण का उपचार – उदाहरण– ज्ञान को मूर्तिक कहना।

(५) गुण में द्रव्य का उपचार – उदाहरण– सफेद पाषाण कहना।

(६) गुण में पर्याय का उपचार – उदाहरण– ज्ञान को केवलज्ञानरूप कहना।

(७) पर्याय में पर्याय का उपचार – उदाहरण– प्रतिबिंब को देखकर अच्छा है ऐसा कहना।

(८) पर्याय में गुण का उपचार – उदाहरण– शरीर को देखकर रूपवान कहना।

(९) पर्याय में द्रव्य का उपचार – उदाहरण– स्थूल स्कंध देखकर पुद्गलद्रव्य कहना।

ध्यान रहे यहाँ व्यवहार की मात्र प्रसिद्धि नही करना - कराना है। किन्तु व्यवहार के माध्यम से ही निश्चय की ही सिद्धि करना है। यदि व्यवहार से निश्चय की सिद्धि हो, तब ही ये नय, सम्यक्नय के नाम से स्वीकार्य होंगे। क्योंकि निश्चय निरपेक्ष व्यवहार मिथ्या कहलाता है। 'निरपेक्षा नयाः मिथ्याः, सापेक्षाः वस्तु तेऽर्थकृत्।' ऐसा स्वामी समन्तभद्र ने कहा है।

अतः निश्चय-व्यवहार दोनों नयों को यथार्थ जानकर निश्चय से निश्चय का ही आश्रय करना चाहिए। तथा यद्यपि व्यवहार चलता रहे तदपि श्रद्धा में तो उसे हेय ही समझना चाहिये। यदि भूल से व्यवहार को आश्रेय मानकर उसका ही ज्ञान-श्रद्धान रहा तो लीनता भी उसमें ही आयेगी। फिर उससे छुटकारा कब और कैसा होगा? चरणानुयोग का अनुसरण ही मोक्षमार्ग में साधक नहीं बाधक ठहरेगा। अतः दोनों नयों का यथार्थ ज्ञान-श्रद्धान द्वारा स्वपर का भेदविज्ञान प्राप्त कर आत्मा के ही हित में प्रवृत्त होना चाहिए। अमृतचंद्राचार्य जी ने भी कहा है–

निश्चयमबुध्यमानो यो निश्चयतस्तमेव संश्रयते।
नाशयति करण चरणं स बहिः करणालसो बालः ॥ पु. सि.

साधनभूत व्यवहार सेही साध्य होना ऐसा जिसका स्वरूप है, उस निश्चय नय को निश्चय से (सत्यार्थ-यथार्थ से) नही जानने वाले "आत्मा शुद्ध है, बुद्ध है" ऐसा निश्चयनय का उपदेश सुनकर स्वयं वर्तमान में भी शुद्ध पर्याय वाले मान बैठते हैं और करणानुयोग तथा चरणानुयोग में वर्णित आचार को पालन करने में आलस करते है, वे प्रमादी जीव करणानुयोग और चरणानुयोग का ही नाश करते हैं।

अथवा अतरात्मा पुरुष जिसका आश्रय लेते हैं उस चरणानुयोग के उपदेश याने साधनरूप सदाचार को ही निश्चयरूप साध्य मानकर जो चलते हैं तथा आगे बढ़कर भी साध्य से अनभिज्ञ रहते हैं उन्होंने भी करणानुयोग और चरणानुयोग का नाश ही किया है , क्योंकि साधन को साधन ही मानकर साध्य की सिद्धि करना ही चरणानुयोग का मूल उद्देश्य है। उसका अभाव होने से ही इन दोनो या तीनों अनुयोग के उद्देश्य का उपदेश का नाश ही हुआ है।

इससे यह स्पष्ट होता है कि द्रव्यानुयोग में निश्चयनय की प्रधानता होती है। इसे समझकर ही आत्मा का सही स्वरूप, जीवन विकास दृष्टि मे आता है। विकाररूप विभावो का त्याग भी नय विवक्षाओ को जानने से ही होता है। सभी तरह के सबध और उपचार को जानकर उसकी नि.सारता दृष्टि में आना और एक निश्चयनय ही सारभूत है यह समझना ही इसका फल है।

बुज्झदि सासनमेयं सागारणगार चरियया जुत्तो।
जो सो पवयणसारं लहुणा कालेण पप्पोदि ॥ २७५ प्र. सार

१८ - गुण गौरव

अहो आशाधर , आपके माता पिता ने आपके ऊपर बचपन मे जो सस्कार किये तब उन्होंने आपसे जो आशाएँ धारी थी, उसको धारण कर आपने 'आशाधर' यह नाम सार्थक किया। आपका पूर्व जीवन अध्ययन-अध्यापन तथा लेखन मे ही समर्पित हुआ। समस्त आकाश तथा धरा मे आपकी कीर्ति व्याप्त

हुई थी। समाज में आपका जो सम्पर्क तथा कार्य रहा, उससे उस समय आपका सत्कार तो हुआ ही होगा। आज ७५० साल बाद भी हम आपके पवित्र जीवन को आदरांजलि समर्पित करते हुये प्रसन्नता का अनुभव करते हैं।

(१) हे व्याकरणाचार्य आशाधर– आपने धारानगरी में आकर वादिराज पं. धरसेन के शिष्य महावीर से जैनेन्द्र कातंत्र आदि व्याकरण का अध्ययन किया। इससे संस्कृत तथा प्राकृत ग्रंथों के अचूक और मूल भावों को आप सहज ही ग्रहण कर सके। आपने देवचंद्र नाम के सेवक को धुवकाश के समय व्याकरण के पाठ पढ़ाये, इससे वह शीघ्र ही वैयाकरणी बन समाज में पंडित कहलाया। धर्मामृत की दोनों टीका में तथा जिनसहस्रनाम की स्वोपज्ञ टीका में आपने व्याकरण के अनेक सूत्र उद्धृत किये हैं। अतः आप व्याकरण के उत्कृष्ट ज्ञाता सिद्ध होते हैं।

(२) काव्याचार्य– काव्य के प्रायः तीन लक्षण बताये जाते हैं। १) सुललितं वाक्य काव्य, २) वृत्तात्मक वाक्य काव्य , ३) भावोत्कट वाक्यं काव्यं। यहाँ सुललितका अर्थ श्रृंगार प्रधान नही है, उससे तो आप अलिप्त ही रहे। आप तो सरस्वती के मानसपुत्र थे, अतः उसका सहज विलास आपके जिव्हाग्रे हुआ, उससे ऊपर के तीनो लक्षण आपके पूरे साहित्य में हैं ही। प्रायः आपकी सभी रचनायें काव्यमयी हैं। भ. उदयसेन ने आपका 'कलि कालिदास' की उपमा देकर गौरव ही किया था। आपने राजकवि मदन उपाध्याय को काव्यशास्त्र पढ़ाये थे, जिससे उसको बाल सरस्वती तथा कवीन्द्र की उपाधि प्राप्त हो गई। वाग्भट ने भी आपके काव्य का गौरव ही किया है। जिनसहस्र नाम के मगलाचरण तथा टीका में स्वय को आपने महाकवि संबोधा है। और आराधना सार वृत्ति के मंगलाचरण में कवीश्वर लिखा है।

(३) न्यायाचार्य– पं. महावीर से आपने व्याकरण के साथ-साथ जैन तर्क-न्याय शास्त्र का भी अध्ययन कर समाज को जैन न्याय का परिचय दिया। आपकी अनेक टीकाओं में देवागमस्तोत्र, परीक्षामुख, प्रमेयरत्नमाला के अनेक उद्धरण पाये जाते हैं। तथा आपने भी प्रमेयरत्नाकर , तर्कामृत-न्यायामृत, जैसे

न्यायग्रन्थों का भी निर्माण किया है। भ. उदयसेन ने आपको 'नयविश्वचक्षु' ऐसी उपाधि देकर गौरवान्वित किया है। आपने भ. विशालकीर्ति को न्यायशास्त्र भी पढ़ाये हैं। जिनसहस्रनाम स्तुति के मंगलाचरण में 'वादिराज' शब्द से स्वयं आपका परिचय दिया है।

(४) **निर्यापकाचार्य**– समाधिमरण प्रसग में जो मददगार होते हैं, या छिन्न सयम का शोधन करके जो छेदोपस्थापक होते हैं उन्हें निर्यापक कहते हैं। निर्यापक में जो अनुभवी या प्रधान होते हैं उन्हे निर्यापकाचार्य कहते हैं। हे आशाधर, आपने पिता सलखण (लखनसाह) के मृत्यु समय उनको समाधिमरण का उपदेश देकर सल्लेखना धारण कराई थी। उस समय पिता की जिज्ञासा जैन तत्वज्ञान को सुनने की जानकर आपने योगोद्दीपक ऐसे अध्यात्म रहस्य ग्रथ की तुरन्त रचना कर मृत्यु महोत्सव में पिता की आत्म जागृति निर्माण की थी। इससे आप निर्यापकाचार्य के रूप मे प्रसिद्ध हुये। इस विषय के अनुभव का परिचय आपने सागार ध. टीका मे दिया ही है।

(५) **आयुर्वेदाचार्य**– शरीर माध्य खलु धर्मसाधनम्। धर्मसाधन के लिये निरोगी शरीर का होना आवश्यक है। अत: शरीर को निरामय रखने के लिये आयुर्वेद का ज्ञान होना आवश्यक है। इसी कारण स्वामी समतभद्र ने 'अष्टाग' नाम का शास्त्र बनाने का उल्लेख उग्रादित्याचार्य ने कल्याणकारक में किया है। उसको वाग्भट ने 'अष्टाग हृदय' के रूप मे सवर्धित किया। इस ग्रथ के अध्ययन करने वाले को आज भी आयुर्वेदाचार्य की उपाधि प्राप्त होती है। हे आशाधर आपने तो इस ग्रथ पर 'अष्टाग हृदयोद्योत (या अष्टाग हृदय सहिता) नाम की टीका लिखी है। तथा पिता के वार्धक्य मे आपने इसका प्रयोग भी किया है। इस ग्रथ के अनेक उद्धरण सागार धर्मामृत टीका में पाये जाते हैं।

(६) **मांत्रिकाचार्य**– हे आशाधर , जिनयज्ञकल्प में आपको मांत्रिक सबोधा है। (श्लोक ४०/२) मांत्रिक तीन तरह के होते हैं १- अनादि निधन णमोकार मत्र का घोष करने वाले, २- पूजा प्रतिष्ठादि के मंत्रों के निर्देशक ,

३- विद्यानुवाद में आये मंत्रों के साधक। आशाधर आप तीनों ही प्रकार से मांत्रिक थे। 'पंच नमस्कार दीपक' तथा 'पंचमंगल' आदि ग्रन्थों की निर्मिति आपने की है। तथा पूजा प्रतिष्ठा के निर्दोष मंत्र का स्पष्ट उच्चारण करने से आप 'विधान पंडित' के रूप में विशेष प्रसिद्ध थे।

वर्धमान मंत्र, कर्णपिशाचिनी आदि मंत्रों के भी आप साधक थे। प्रतिष्ठा तथा सल्लेखना प्रसंग पर आप इस विद्या का प्रयोग भी करते थे। इससे आपके निर्मल चारित्र की भी सिद्धि होती है। जैसा कि आपने लिखा है— "विद्यामंत्राश्च सिध्यंति किंकरत्यमरा अपि। क्रूराः शाम्यंति नाम्नापि निर्मलब्रह्मचारिणाम्॥ १५/७ सा. ध."

आपके समय में क्षुद्रमांत्रिक - करणीगुरु, गारुडी विद्या के अनेक प्रयोग चलते थे। उन प्रयोग को अना. ध. अध्याय दो में श्लोक ९९ से १०२ तक उद्धृत कर आपने समाज को जगाया है। अध्याय ४ के श्लोक ३५ की टीका में आपने मत्रों की तीन शक्ति का उल्लेख किया है - मंत्रशक्ति, प्रभुशक्ति और उत्साहशक्ति।" इन सबका यदि प्रयोग करना है तो कर्म शत्रु पर करो।" ऐसा आपका वचन है। अध्याय ५ के २५वें श्लोक में आप कहते हैं— "सर्प आदि का विष दूर करनेवाले मंत्र के दान से या उसके महात्म्य से या प्रयोग करने-कराने की अभिलाषा से भोजन आदि प्राप्त करने वाले मत्रदोष के ही भागीदार होते हैं।" हे आशाधर, 'मत्रमहोदधि ग्रथ के' आप अच्छे ज्ञाता थे।

(७) ज्योतिषाचार्य– 'संल्लेखना प्रसंग में उस साधक का मृत्यु, समय, जीवन आदि का निर्णय ज्योतिष से भी करना चाहिए।' ऐसा सा. ध. श्लोक १०/८ के टीका मे आपने कहा है। वर-वधु का मिलान भी विवाह प्रसग में ज्योतिष से करने की सूचना आपने सा. ध. अध्याय दो - श्लोक की टीका में दी है। तथा अन. ध. अध्याय-२ श्लोक ६७ में आप ग्रहबाधा का उल्लेख कर उसके निवारणार्थ सम्यग्दर्शन देवता - यंत्र की आराधना करने का उपदेश देते हैं। हे आशाधर आप तो विधान पंडित भी थे। गृह प्रवेश, वास्तुविधान, व्रतविधान, उद्यापन, प्रतिष्ठा आदि प्रसंग में तिथि, मुहूर्त, फल आदि का यथोचित ज्ञान आपको था ही। राजस्थान जैन ग्रंथ सूची में "आशाधर ज्योतिर्ग्रन्थ" का भी उल्लेख मिलता है तथा "भारतीय ज्योतिष" इस ग्रन्थ के कर्त्ता शंकर

बालकृष्ण दीक्षित ने शक १४४४ में पिताबर रचित विवाह पटल का उल्लेख किया है। उसमें उनके पूर्व के अनेक ज्योतिषियों का उल्लेख तथा आशाधर के मुहूर्त दर्शक ग्रन्थ का भी उल्लेख है। आप सामुद्रिक शास्त्र के भी अच्छे ज्ञाता थे। मुख, हस्तरेखा, शरीर , वर्ण आदि देखकर ही भविष्य बतलाने में आप प्रसिद्ध थे।

(८) **पंडिताचार्य–** स पडितः विवेकी। विवेकी जन को पंडित कहते हैं। न्याय, व्याकरण, काव्य, साहित्य कोष, वैद्यक , धर्मशास्त्र , अध्यात्म , पुराण आदि अनेक विषयों पर आपने ग्रथ रचना की है। विद्वता का मद आपको कभी नही चढ़ा। अनेक पडितों में आप मात्र अग्रणी ही नही रहे, तो अनेक पंडितों के आप निर्माता भी हैं। पं. नाथूरामजी प्रेमी ने आपको विद्वत् शिरोमणि कहा है तथा प कैलाशचद्रजी ने आपको पुस्तक शिष्य सबोधा है। क्योंकि आपने अपने समय में उपलब्ध समस्त जैन-जैनेत्तर पुस्तकों को आत्मसात कर दिया था। आप सिद्धान्त और अध्यात्म दोनों विषय में निष्णात थे।

(९) **प्रतिष्ठाचार्य–** खडेलवाल पं. केल्हण आदि के साथ आपने सं. १२८५ तक अनेक पूजाविधान, प्रतिष्ठाविधान सम्पन्न कराये थे। धर्म से अविरुद्ध किन्तु युगानुरूप ऐसे प्रतिष्ठा पाठ निर्माण कर उनका प्रसार भी किया था। राजस्थान जैन ग्रथ सूची में आपके छोटे बड़े ऐसे ६-७ प्रतिष्ठपाठ होने की सूचना मिलती है। जिनयज्ञकल्प में आपने प्रतिष्ठाकर्ता तथा प्रतिष्ठाचार्य के गुणों का अच्छा वर्णन किया है, उसमें एक ' वर्णी ' यह भी गुण बताया है।

(१०) **गृहस्थाचार्य–** हे आशाधर , युवा होने पर आपने सरस्वती नाम की पत्नी के साथ गृहस्थ जीवन प्रारम्भ किया था। आपको छाहड़ नाम का विद्वान पुत्र भी हुआ था। वि. स. १२७४-७५ से आप, ब्रह्मचर्य स्वीकार कर आदर्श श्रावक बने थे तथा जिनमदिर में निवास करते थे। दसवी प्रतिमाधारी का वर्णन आपने इस प्रकार किया है — चैत्यालयस्थः स्वाध्यायं कुर्यान्मध्यान्ह वदनात्। उर्ध्वमा मत्रितः सोऽद्यात् गृहे स्वस्य परस्य वा ॥ ३१/७ सा. ध.। हो

सकता है ऐसे दसवीं प्रतिमाधारी श्रावकोत्तम इस अर्थ में आपको गृहस्थाचार्य संबोधा गया हो। सलखणपुर में नागदेव की धर्मपत्नी ने आपको "गृहस्थाचार्य" ऐसा संबोध कर रत्नत्रयव्रत कथा रचने की विनती की थी। श्रुतसागर सूरि ने भी आपको गृहस्थाचार्य संबोधा है।

(११) **साहित्याचार्य**– हे आशाधर, आपने अध्यात्मप्रधान ऐसे शताधिक साहित्य का निर्माण कर साहित्यकारों में अग्रस्थान प्राप्त किया है। आपका साहित्य ७५० साल बाद आज ही क्या कलियुग के अंत तक भी प्रमाण तथा अध्ययनीय है।

(१२) **राजनीति निपुण**– हे आशाधर, आपके पिता सलखण अजमेर नरेश पृथ्वीराज चौहाण के मण्डलकर दुर्ग के किलाधिकारी थे। पश्चात् धारा के विंध्य नरेश से सम्मानित हुए। बाद में वे देवगिरी के यादवों के सेनाधिकारी रहे। तथा अंत में परमार राजा अर्जुन वर्मा के सांधिविग्रह मंत्री रहे थे। उनकी ही सूचना से सलखणपुर में नागदेव की शुल्काधिकारी पद पर नियुक्ति हुई। आपका भी वही मान था, पिता की मृत्यु पश्चात् आपको वही पद प्राप्त हो रहा था किन्तु वह पद पुत्र छाहड़ को दिलाकर आपने मात्र धर्मसाधना में जीवन बिताया। आप विंध्यवर्मा के मंत्री बिल्हण के मित्र तथा उसके पुत्र राजगुरु मदन के विद्यागुरु थे। इससे आपका राजनीति ज्ञान स्पष्ट होता है। डॉ. नेमिचंद्र ज्योतिष शास्त्री ने आपको राजनीतिज्ञ कहा है।

(१३) **मुमुक्षु**– आपने अपने को अनेक जगह मुमुक्षु ऐसा संबोधा है। अनेक रचनाओं के अत में "शिवाशाधर" ऐसा नामांकन के साथ मुक्ति की मात्र इच्छा करने वाला ऐसा लिखा हैं। तथा अनेक जगह रचना के अंत में ऐसी भावना व्यक्त की है कि, 'जो ऐसी भावना भाता है वह ज्यादा से ज्यादा ८-१० भव में मुक्ति पाता है।' यह आपके पवित्र जीवन का स्पष्ट दर्शक तथा आसन्न भव्यता का प्रमाण ही है।

(१४) **सम्यग्दृष्टि शिरोमणि–** सम्यग्दर्शन के आठ अंग - निःशंकित, निःकांक्षित, निर्विचिकित्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहण, स्थितिकरण, वात्सल्य और प्रभावना को आप सम्यग्दर्शन के आठ लक्षण ही मानते थे, और उनका पूर्णतः पालन भी करते थे। पडिताचार्य नरेन्द्रसेन द्वारा किये संघर्ष की चर्चा आपने यत्नपूर्वक टाल दी। उसका उल्लेख तक आपने नही किया ; मदनकीर्ति , अर्हदास, भ. विनयचन्द्र आदि को संयम तथा सम्यक्त्व से भ्रष्ट होते देख उन दोषों का उपगूहन करके वात्सल्यपूर्वक स्थितिकरण किया था तथा समाज से पुन सम्मान प्राप्त कराया था। उपगूहन के बाद मदनकीर्ति ने उज्जैन में एक वाद सभा मे अन्य वादियों को हराकर "महा प्रामाणिक" यह पदवी प्राप्त की थी। मुमुक्षु विद्यानद ने आपको धर्मकमल को विकसित करनेवाले सूर्य तथा सम्यग्दृष्टियों मे शिरोमणि कहा है।

(१५) **जैन विद्यापीठ के प्रणेता–** हे आशाधर , आपने बचपन में अजमेर विद्यापीठ को देखा था तथा युवा होने पर धारा के सरस्वती मंदिर नाम के विद्यापीठ में अध्ययन किया था। जब आपने प्राचीन साहित्य में तथा शिलालेख में जैन गुरुकुल के उल्लेख पढ़े तब उस प्रणाली को पुनरुज्जीवित करने के लिए धर्मगुरु भट्टारको को प्रेरित किया। मालवा की उस समय की राजधानी माडवगढ़ मे उन दिनो एक लाख जैन घरों की तथा सात लाख जैनों की आबादी थी। कहते हैं तब वहाँ सात सौ जैन मदिर थे उनमें चार सो दिगम्बर जैनों के थे। तब स. १२६६ मे एक चौबीसी भवन बनवा कर उसके नीचे और सामने विद्यार्थियों की रहने की व्यवस्था कर जैन विद्यापीठ का निर्माण किया था। भ. वसतकीर्ति के अनतर प्रधानाध्यापक के पद पर भ. विशालकीर्ति को नियुक्त किया था। कुछ माह या वर्ष वहाँ रहकर भ. विशालकीर्ति आदि को न्यायशास्त्र पढ़ाये थे। इस विद्यापीठ की शाखा उपशाखा के रूप में गाँव-गाँव में पाठशाला, स्वाध्यायशाला, ग्रंथागार का उपदेश दिया था। अनेक प्रान्तो से होशियार बच्चे भी यहाँ पढ़ने को आते थे, और यहाँ से सारे भारत में भट्टारक मुनि, आचार्य पडित इनसे सम्पर्क रखा जाता था। ग्रथों की प्रतियाँ

बनाकर यहाँ मंगायी जाती और यहाँ से भी अनेक ग्रंथों की प्रतियाँ लिखवाकर बाहर भेजी जाती थीं। डॉ. ज्योतिप्रसादजी जैन लिखते हैं कि, "उस शताब्दी में आचार्यकल्प पं. आशाधर का साहित्य मंडल कार्यरत था।"

(१६) **युगपुरुष**– हे आशाधर, उस समय के आप युगपुरुष ही थे। आपको समकालीन तथा उत्तरकालीन साहित्यकारों ने सूरि, बुध, आर्य, वर्णी, देव, पंडित, आचार्यकल्प आदि नामों से संबोध कर आपका तो गौरव किया तथा स्वयं को आपके मुमुक्षु परंपरा के होने का उल्लेख कर गौरव का ही अनुभव किया।

(१७) **सर्वज्ञमूर्ति**– हे आशाधर, बचपन से ही आपके बुद्धि वैभव का प्रदर्शन हो रहा था। आप एकपाठी तथा शीघ्र कवि थे। आपके विद्यागुरु मदनकीर्ति ने आपको 'प्रज्ञापुंज' कह कर आपका गौरव किया था। मूलाराधना दर्पण के पंचम अध्याय की प्रशस्ति में आपने अपना परिचय 'स्फूर्जत्सर्वज्ञमूर्तिः' ऐसा दिया है। यह आपके कार्य का तथा बुद्धिवैभव का ही प्रमाण है। आपका इससे और ज्यादा गुणगौरव क्या हो सकता है?

हे आशाधर, आप, उत्तर जीवन में ब्रह्मचारी तथा रत्नत्रय के धारी होने से अभी कल्पवासी लोकांतिक देवों में ही उत्पन्न हुये हैं। अतः अगले भव में मुनि बनकर निज पुरुषार्थ द्वारा सर्वज्ञ दशा प्राप्त करेंगे और फिर से भव्य जीवों को धर्मामृत का पान करायेंगे, ऐसा हमें दृढ़ विश्वास है। हे आशाधर, अध्यात्म साहित्य के कारण आपका नाम चिरकाल तक जयवंत हों।

शुभाशाधर आशाधर को, वंदन है अगणित।
शुभधर्मकाज सब करे, रहे तदपि अलिप्त॥

●

परिशिष्ट नं. – १

पूर्वकालीन उल्लेखित साहित्य

(१) समयसार	आचार्य कुन्दकुन्द
(२) प्रवचनसार	आचार्य कुन्दकुन्द
(३) पंचास्तिकाय	आचार्य कुन्दकुन्द
(४) नियमसार	आचार्य कुन्दकुन्द
(५) द्वादशानुपेक्षा	आचार्य कुन्दकुन्द
(६) कार्तिकियानुप्रेक्षा	आचार्य कार्तिकेय
(७) दर्शन पाहुड़	आचार्य कुन्दकुन्द
(८) चारित्र पाहुड़	आचार्य कुन्दकुन्द
(९) बोध पाहुड़	आचार्य कुन्दकुन्द
(१०) भाव पाहुड़	आचार्य कुन्दकुन्द
(११) धवला	आचार्य वीरसेन
(१२) षट् खडागम	आचार्य पुष्पदन्त + भूतबली
(१३) भगवती आराधना	आचार्य शिवकोटि
(१४) मूलाचार	आचार्य वट्टकेर
(१५) तत्त्वार्थसूत्र	आचार्य उमास्वामी
(१६) रत्नकरण्ड श्रावकाचार	आचार्य समंतभद्र
(१७) सम्मइ-सूत्र (सन्मतिसूत्र)	आचार्य सिद्धसेन
(१८) इष्टोपदेश	आचार्य पूज्यपाद
(१९) समाधि शतक	आचार्य पूज्यपाद
(२०) सिद्धिप्रिय स्तोत्र	आचार्य पूज्यपाद
(२१) चैत्यभक्ति	आचार्य पूज्यपाद
(२२) तत्त्वार्थ राजवार्तिक	आचार्य अकलंक
(२३) तत्त्वार्थ श्लोक वार्तिक	आचार्य विद्यानंदी
(२४) लघीयस्त्रय	आचार्य अकलंक
(२५) समयसार कलश	आचार्य अमृतचंद्र
(२६) पुरुषार्थसिद्ध्युपाय	आचार्य अमृतचंद्र
(२७) देवागम स्तोत्र	आचार्य समतभद्र
(२८) आप्तमीमासा	आचार्य अकलंक

(२९) बृहत्स्वयंभूस्तोत्र	आचार्य समंतभद्र
(३०) आत्मानुशासन	आचार्य गुणभद्र
(३१) महापुराण	आचार्य जिनसेन , गुणभद्र
(३२) परीक्षामुख	आचार्य माणिक्यनंदी
(३३) प्रमेयरत्न माला	आचार्य अनंतवीर्य
(३४) आराधनासार	आचार्य देवसेन
(३५) पुराणसार	आचार्य श्रीचन्द्रमुनि
(३६) पंचसंग्रह (प्राकृत)	आचार्य नेमिचंद्र
(३७) पंचसग्रह (संस्कृत)	आचार्य अमितगति (द्वि .)
(३८) द्रव्यसंग्रह	आचार्य नेमिचन्द्र
(३९) चारित्रसार	पं. चामुण्डराय
(४०) बृहत्सनपन	आचार्य गुणभद्र (द्वि .)
(४१) चद्रप्रभचरित्र	आचार्य वीरनंदी
(४२) पद्मनंदी पचविंशतिका	आचार्य पद्मनदी
(४३) अमितगति श्रावकाचार	आचार्य अमितगति
(४४) उपासकाध्ययन	आचार्य सोमदेवसूरि
(४५) वसुनदी श्रावकाचार	आचार्य वसुनंदी
(४६) इन्द्रनदी श्रावकाचार	आचार्य इन्द्रनदी
(४७) ज्ञानार्णव	आचार्य शुभचद्र
(४८) तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन
(४९) इन्द्र संहिता	आचार्य इन्द्रनदी
(५०) काव्यालंकार	आचार्य रौद्रट
(५१) भूपाल चतुर्विंशतिस्तव	आचार्य भूपाल कवि
(५२) कल्याणमंदिर स्तव	आचार्य कुमुदचद्र
(५३) शांति स्तव	आचार्य
(५४) अमरकोश	आचार्य
(५५) कातंत्र व्याकरण	आचार्य पूज्यपाद
(५६) शाकटायण	आचार्य शकटामर नाम पाल्यकीर्ति
(५७) जैनेन्द्र	आचार्य पूज्यपाद

(५८) लोकानुयोग	आचार्य —
(५९) लोक विभाग प्राकृत	आचार्य सर्वनंदी, संस्कृत छाया आचार्य सिंह सूरि संवत् ५१५
(६०) मत्रमहोदधि	आचार्य —
(६१) विद्यानद महोदय	आचार्य विद्यानंदी
(६२) धम्म रसायण	आचार्य पद्मनंदी मुनि
(६३) सावयधम्म दोहा	आचार्य अमरसिंह उर्फ देवसेन
(६४) भावसग्रह	आचार्य देवसेनसूरि (प्राकृत)
(६५) परमात्म प्रकाश	आचार्य योगीन्दुदेव
(६६) द्वात्रिंशिका	आचार्य अमितगति
(६७) लघुनव	आचार्य —
(६८) शातिपुराण	प. असग कवि
(६९) नीतिवाक्यामृत	आचार्य सोमदेव सूरि
(७०) वराग चरित्र	आचार्य जटासिंहनदी
(७१) प्रमाणवार्तिक	आचार्य अकलक
(७२) आप्तस्वरूप	आचार्य —
(७३) पद्मचरित्र (पद्मपुराण)	आचार्य रविषेण
(७४) आराधना शास्त्र	आचार्य —
(७५) समवसरण स्तोत्र	आचार्य विष्णुसेन मुनि
(७६) तिलोय पण्णत्ति	आचार्य यतिवृषभ
(७७) पचाशक	आचार्य —
(७८) नेमिनिर्वाण	प. वाग्भट
(७९) सिद्धद्वात्रिशिका	——
(८०) नयचक्र	आचार्य देवसेन
(८१) प्रमाण परीक्षा	आचार्य अकलंक
(८२) त्रिलोकसार	आचार्य नेमिचंद्र सिद्धान्तचक्रवर्ती
(८३) द्रव्यस्वभाव प्रकाशक नयचक्र	पं. माईल्ल धवल
(८४) यशोधर चरित्र	प. वादिराज

(८५) जिनचरित्र	—
(८६) सिद्धंक महाकाव्य	—
(८७) प्रतिक्रमण शास्त्र	—
(८८) सिद्धभक्ति (प्राकृत)	आचार्य कुन्दकुन्द
(८९) यशस्तिलक	आचार्य सोमदेवसूरि
(९०) सर्वार्थसिद्धि	आचार्य पूज्यपाद
(९१) श्रुतज्ञान भक्ति (संस्कृत)	आचार्य पूज्यपाद
(९२) क्रियाकाण्ड (संस्कृत)	आचार्य पूज्यपाद
(९३) क्रियाकाण्ड (प्राकृत)	आचार्य कुन्दकुन्द
(९४) ऐंद्रराज (प्राकृत)	आचार्य इंद्रराज
(९५) चारित्र भक्ति सं.	आचार्य पूज्यपाद
(९६) आचार्य भक्ति	आचार्य पूज्यपाद
(९७) शांति भक्ति	आचार्य पूज्यपाद
(९८) अमृताशीति	आचार्य योगीन्दुदेव
(९९) रत्नमाला	आचार्य अमोघवर्ष
(१००) सार समुच्चय	आचार्य कुलभद्र
(१०१) स्याद्वाद सिद्धि	आचार्य वादीभसिंह
(१०२) जिनसहिता	आचार्य एकसंधि
(१०३) वाग्भट्टालंकार	पं. वाग्भट
(१०४) गोम्मटसार	आचार्य नेमीचंद्र
(१०५) त्रिभंगीसार	आचार्य नेमिचंद्र
(१०६) मूलाराधना विजया टीका	आचार्य अपराजित अपर नाम विजय
(१०७) मूलाराधना सस्कृत टीका	आचार्य जयनंदी
(१०८) मूलाराधना प्राकृत टीका	आचार्य श्रीचंद्र
(१०९) मूलाचार संस्कृत टीका	आचार्य वसुनंदी
(११०) मूलाचार टीपण	आचार्य —
(१११) संस्कृत आराधना	आ. अमितगति (पद्यानुवाद)
(११२) आराधना टीका प्राकृत	आचार्य अमितगति
(११३) लब्धिसार	आचार्य नेमिचन्द्र
(११४) वास्तुशास्त्र	आचार्य —

श्वेताम्बर साहित्य

(१) सावय पण्णत्ती - मुनि सुदर सूरि
(२) धर्मबिदु - सिद्धसेन सूरि व हरिभद्र सूरि
(३) कल्पसूत्र - आगम
(४) बृहत्कल्पसूत्र - टीकाकार क्षेमकीर्ति
(५) योगशास्त्र - हेमचद्र सूरि
(६) विशेषावश्यक भाष्य - देवर्धिगणि
(७) दशवैकालिक - स्वयंभवसूरि उद्धृत
(८) पिण्डनिर्युक्ति - मुनि सुदरसूरि
(९) सबोध प्रकरण - हरिभद्रसूरि
(१०) श्रावक प्रज्ञप्ति -
(११) तत्त्वार्थभाष्य - सिद्धसेनगणि

जैनेत्तर साहित्य

(१) अष्टांग हृदय - वाग्भट
(२) मनुस्मृति - भृगुमुनि
(३) वात्स्यायन कामसूत्र - वात्स्यायन
(४) महाभारत - व्यास ऋषि
(५) ब्रह्म पुराण -
(६) वैराग्य शतक - भतृहरि
(७) नीतिशतक - भतृहरि
(८) श्रृंगार शतक - भतृहरि
(९) वादन्याय -
(१०) साख्य कारिका -
(११) रामायण -
(१२) महाकाव्य -
(१३) जात कर्म -
(१४) सन्यास विधि -
(१५) अनर्घराघव - मुरारिमिश्र
(१६) ब्रह्म वैवर्त पुराण -
(१७) काव्य प्रकाश - मम्मट
(१८) उत्तररामचरित- भवभूति
(१९) काव्यालकार -
(२०) अमरकोश - अमरसिह
(२१) पाणिनीय सूत्र - पाणिनी

इसके अलावा सैंकड़ों ग्रथों के उद्धरण भी पाये जाते हैं, जो ग्रथ आज अपलब्ध या प्रकाशित नही हैं। इन कारिकाओं की संख्या भी पाँच सौ से अधिक ही है।

परिशिष्ट नं.-२

प्रशस्ति संग्रह

(१) जिनसहस्रनाम स्तवन-

आदि- प्रभो भवाङ्ग भोगेषु निर्विण्णो दुःखभीरुकः।
एष विज्ञापयामि त्वां शरण्यं करुणार्णवम् ॥ १ ॥
सुखलालसया मोहाभ्द्राम्यन्बहिरितस्ततः।
सुखैकहेतोर्नामापि[1] स्तवं ज्ञातवान् पुरा ॥ २ ॥
अद्य मोहग्रहावेश शैथिल्यात्किं चिदुन्मुखः।
अनंतगुणमाप्तेभ्यस्त्वां श्रुत्वां स्तोतुमुद्यतः ॥ ३ ॥
भक्तया प्रोत्साह्य[2] मानोऽपि दूरं शक्त्या तिरस्कृतः।
त्वां नामाष्टसहस्रेण स्तुत्वात्मानं पुनाम्यहम् ॥ ४ ॥
जिन - सर्वज्ञ - यज्ञार्ह - तीर्थकृन् - नाथ - योगिनाम्।
निर्वाण - ब्रह्म - बुद्ध - अन्तकृतां चाष्टोत्तरैः शतैः ॥ ५ ॥

अन्तिम- इदमष्टोत्तरं नाम्ना सहस्रं भक्तितोऽर्हताम्।
योऽनंतानामधितेऽसौ मुक्त्यतां भुक्तिमश्नुते ॥ १४० ॥
इद लोकोत्तमं पुसामिदं शरणमुल्वणम्।
इद शरणमग्रीयमिदं परमपावनम् ॥ १४१ ॥
इदमेव परं तीर्थमिदमेवेष्ट साधनम्।
इदमेवाखिल क्लेश-सक्लेश क्षयकारणम् ॥ १४२ ॥
एतेषामेक मप्यर्हन् नाम्नामुच्चार यन्नघैः।
मुच्यते किं पुनः सर्वाण्यर्थज्ञस्तु जिनायते ॥ १४३ ॥

दे राजा दि. जैन चद्रनाथ मंदिर के एक प्रति में-

आदि- ॐ नमः सिद्धेभ्य ॥ श्रीमदारब्धदेवेंद्रं, मयुरानदवर्तनः।
सुव्रताबोधरे वंदेः, वादिराजमहाकवि ॥ १ ॥

ऐसा श्लोक मिलता है। इसका शुद्धपाठ हमने ऐसा किया-

श्रीमदाराध्यदेवेंद्र मयुरानंदवर्तन।
सुव्रताम्भोधरं वदे वादिराज महाकवि (-कविः) ॥ १ ॥

इस श्लोक से देव-शास्त्र-गुरु तीनों के प्रति वंदन करने के भाव प्रतिभासित होते हैं।

१- 'स्तवन' अथवा 'तव न' इति वा पाठभेदः। २- प्रोत्सार्यमानो।

(२) भूपाल चतुर्विंशतिस्तव टीका–

आदि– प्रणम्य जिनमज्ञानां सज्ञानाय प्रचक्षते ।
आशाधरो जिनस्तोत्रं श्रीभूपालकवेः कृतिः ॥ १ ॥

अंतिम– उपशम इव मूर्तिः पूतकीर्तिः स तस्मा-
दजनि विनयचद्रः सच्चकोरैक चंद्रः ।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसदर्भगर्भाः,
शुचि चरित सहिष्णोर्यस्य धिन्वंति वाचः ॥ २६ ॥

विनयचद्रस्यार्थ मित्याशाधर विरचिता भूपालचतुर्विंशति जिनेन्द्रस्तुतेष्टीका परि समाप्ता ।

(३) कल्याण माला–

आदि– पुरुदेवादि वीरान्त जिनेन्द्राणा ददातु नः ।
श्रीमद्गर्भादिकल्याणश्रेणी निश्रेयसः श्रियम् ॥ १ ॥

अंतिम– इतीमा वृषभादीना पुष्यत्कल्याण मालिका ।
करोति कण्ठे भूषां यः स स्यादाशाधरेडितः ॥ ३५ ॥

इति आशाधर विरचिता कल्याणमाला समाप्ता ।

(४) इष्टोपदेश टीका–

आदि– परमात्मानमानम्य मुमुक्षुः स्वात्म सविदे ।
इष्टोपदेशमाचष्टे स्वशक्त्याशाधरः स्फुटम् ॥

अंतिम– विनयेन्दुमुनेर्वाक्याद्भव्यानुग्रहहेतुना ।
इष्टोपदेश टीकेय कृताशाधर धीमता ॥ १ ॥
उपशम इव मूर्तः सागरेन्द्रोर्मुनीन्द्रा -
दजनि विनयचद्रः सच्चकोरैकचंद्रः ।
जगदमृतसगर्भाः शास्त्रसदर्भ गर्भाः,
शुचिचरित-वरीष्णोर्यस्य धिन्वन्ति वाचः ॥ २ ॥
जयन्ति जगतीवन्द्या श्रीमन्नेमिजिनांघ्रयः ।
रेणवोऽपि शिरोराज्ञामारोहन्ति यदाश्रिताः ॥ ३ ॥

(५) आराधना सारवृत्ति–

आदि– ॐ नमः । प्रणम्य परमात्मान स्वशक्त्याशाधरः स्फुटं ।
आराधनासारगूढ - पदार्थान् कथयाम्यहम् ॥ १ ॥

अंतिम– विनयेन्दोर्मुनेर्हेतोराशाधर कवीश्वरः ।
स्फुटमाराधनासार टिप्पनं कृतवानिदम् ॥ १ ॥
उपशम इव मूर्तेः ___ यस्य धिन्वंति वाचः ॥ २ ॥
एवमारा धनासार - गूढार्थविवृतिः शिश्लन् ।
श्रेयोर्थिनो बोधयितुं कृताशाधर धीमता ॥ ३ ॥

इति श्री विनयचंद्रार्थ मित्याशाधर विरचिता आराधनासार वृत्तिः समाप्ता । शुभमस्ति श्री आदिजिनं प्रजम्य ॥ संवत १५८१ ॥

(६) जिनसहस्त्रनाम टीका– (स्वोपज्ञटीका)

आदि– (हे प्रभो, एषः) प्रत्यक्षीभूतोऽहं आशाधर महाकविः त्वां भवन्तं विज्ञापयामि ___ सुखस्य शर्मणः सद्वेद्यस्य सातस्य लालसया अल्पाकांक्षया (मोहाद्) अज्ञानात् पर्यटन् सन् कुदेवादौ प्रार्थयमानः (भ्राम्यन्) यत्रतत्र । ___ केभ्यः श्रुत्वा ? आप्तेभ्यः उदयसेन-मदनकीर्ति-महावीर नामादि-गुरुभ्यः आचार्येभ्यः सकाशात् त्वां भगवन्तं (श्रुत्वा) आकर्ण्य अहं उद्यम- परः संजातः ॥ ३ ॥ हे त्रिभुवनैकनाथ, अहमाशाधरः त्वां भवंतं स्तुत्वा___ (भक्त्या) आत्मानुरागेण (प्रोत्सार्यमाणः) प्राप्यमानः - त्वं स्तवनं कुर्विति प्रेर्यमानः (दूरं) अतिशयेन (शक्त्या) तिरस्कृतः जिनवर स्तवनं मा कार्षीरिति निषिद्धः । अष्टभिरधिकं सहस्रं - अष्टसहस्रं, नाम्ना अष्टसहस्रं नामाष्टसहस्रं तेन पवित्रयामि अहं आशाधर महाकविः ॥ ४ ॥

अंतिम– इत्याशाधर सूरि कृतं जिनसहस्र नाम स्तवनं समाप्तम् ॥ मुनि श्री विनयचंद्रेण लिखितम् ॥

(७) द्वादशानुप्रेक्षा–

आदि– बहुविघ्नेऽपि शिवाध्वनि यन्निघ्नधियश्चरंत्यमंदमुदः ।
ताः प्रयतैः संचित्या नित्यमनित्याद्यनुप्रेक्षाः ॥ १ ॥

अंतिम– इत्येतेषु द्विषेषु प्रवचनदृगनुप्रेक्षमानोऽध्रुवादि-
ष्वद्धा यत्किंचिदन्तः करणकरणजिद्वेत्ति यः स्वंस्वयं स्वे ।
उच्चै रुच्चैः पदाशाधर भव विधुराम्भोधिपाराप्ति राजत् ।
कार्तार्थ्यः पूतकीर्तिं प्रतपति स परैः स्वैगुणैर्लोकमूर्ध्नि ॥ २६ ॥

(८) अनगार धर्मामृत सूक्ति -

आदि- हेतुद्वैतबलादुदीर्ण सुदृश· सर्वंसहाः सर्वश-
स्त्यक्त्वा सगमजस्र सुश्रुतपराः संयम्य साक्ष मनः।
ध्यात्वा स्वे शमिनः स्वय स्वममलं निर्मूल्य कर्माखिलं,
ये शर्मप्रगुणैश्चकासति गुणैस्ते भान्तु सिद्धा मयि॥ १ ॥

अंतिम- इद सुरुचयो जिनप्रवचनाम्बुधेरुद्धृतं,
सदा य उपयुजते श्रमणधर्मसारामृत।
शिवास्पदमुपासितक्रमयमा· शिवाशाधरै·,
समाधिविधुताहस· कतिपयैर्भवैर्यान्ति ते॥ १०० ॥ अ. ९

(९) सागारधर्मामृत सूक्ति -

आदि- अथ नत्वार्हतोऽक्षूण चरणान् श्रमणानपि।
तद्धर्मरागिणा धर्म सागाराणा प्रणेष्यते॥ १ ॥

अंतिम- सलिख्येति वपु. कषायवदलकर्मीण निर्यापक.।
न्यस्तात्मा श्रमण स्तदेव कलयल्लिग तदीय परः॥
सद्रत्नत्रयभावनापरिणतः प्राणान् शिवाशाधरः,
स्त्यक्ता पचनमस्क्रियास्मृतिशिवी स्यादष्ट जन्मान्तरे॥ ११० ॥ अ ८

(१०) अध्यात्म रहस्य-

आदि- भव्येभ्यो भजमानेभ्यो यो ददाति निज पदम्।
तस्मै श्रीवीरनाथाय नम श्रीगौतमाय च॥ १ ॥

अंतिम- तत्वार्थाभिनिवेश - निर्णय - तपश्चेष्टामयीमात्मनः।
शुद्धि लब्धिवशात् भजन्ति विकला यद्यच्च पूर्णामपि॥
स्वात्मप्रत्यय - वित्ति -तल्लयमयी तद् भव्यसिह-प्रिया।
भूयाद्वो व्यवहार - निश्चयमय रत्नत्रय श्रेयसे॥ ७१ ॥
शश्वच्चेतयते यदुत्सवमय ध्यायन्ति यद्योगिनो।
येन प्राणिति विश्वमिन्द्र निकरा यस्मै नमः कुर्वते॥
वैचित्री जगतो यतोस्ति पदवी यस्यान्तर प्रत्ययो।
मुक्तिर्यत्र लयस्तदस्तु मनसि स्फूर्जत्परब्रह्म ये॥ ७२ ॥

(११) अर्हद्भक्ति-

आदि- यद्गर्भावतरे गृहे जिनयितु प्रागेवशक्राज्ञया।
षण्मासात्रवचारु रत्नजनक वित्तेश्वरो वर्षति॥

भात्युर्वीमजिगर्भिणीसुर सरीन्नीरोक्षिताः षोडश-
स्वप्नेक्षामुदिता भजंति जननी श्रीदिक्कुमार्योऽसि सः ॥ १ ॥

अंतिम– इत्थं बाह्यमथांतरं जिनपते रूपं शिलादौ शुभे।
साकारे यदि वा परेत्रविधिवत्संस्थाप्य नित्यं महत् ॥
दीर्घं जीवितमुद्यमर्थममित्तं संतानमुद्यत्सुखं।
व्याप्ताशाधर मश्नुतेऽत्र च यशो दिव्याः श्रियोऽमुत्र च ॥ १४ ॥

(१२) सिद्धभक्ति –

आदि– यस्यानुग्रहतो दुराग्रहपरित्यक्तात्मरूपात्मनः।
सद्द्रव्यं चिदचित्रिकालविषयं स्वैः स्वैरभीक्ष्णं गुणैः ॥
सार्थव्यंजनपर्ययैः सनिचयैर्जानाति बोधः समम्।
सत्-सम्यक्त्वमशेषकर्मभिदुर सिद्धाः परं नौमि वः ॥ १ ॥

अंतिम– उत्कीर्णामिव वर्तितामिव हृदि न्यस्तामिवालोकयन्।
एषा चिद्गुणसंस्तुतिं पठति यः शश्वच्छिवाशाधरः ॥
रूपातीतसमाधिसाधित वपुः पातः पतद्दुष्कृत -
व्रातः सोभ्युदयोपभुक्तसुकृतोद्रेकैर्न किं सिध्यति ॥ १० ॥

(१३) स्वस्त्ययन स्तुति–

आदि– श्रद्धानबोधन विशुद्धिविवर्धमान -
वृत्तामृतानुभव संभव संमदौघाः।
स्फूर्जत्तपः स्फुरितलब्धगणाधिपत्याः।
स्वस्ति क्रियासुरस कृत्परमर्षयो नः ॥ १ ॥

अंतिम– एव विधस्वस्त्ययनाद पास्त -
संक्लेशभावोऽधिकशुद्धभावः।
जिनाभिषेकादिविधीन् विधत्ते,
यः सोऽश्नुते धर्मयशोऽर्थशर्म ॥ १६ ॥

(१४) गुरुपादुका अष्टक–

आदि– इमास्तिस्रो गुप्तीरिव शमयितुं कल्मशरज -
धरंतीश्चिच्छक्तिरिव बहिररुतान्वेष्टु महितान् ॥
सुवर्णालूनालात् सुरभिवपुरास्तानुपठिता -
लुठंतीरब्धाराः क्रमभुविगुरुणां प्रणिदधे ॥ १ ॥ जलं।

अंतिम– पंचाचाराचरण सचिवाचारणैकक्रियाणां ।
स्फारस्फूर्जद्गुणचितयशः श्रुभ्रिताशाधराणां ॥
सत्सूरिणामिति विधिकृताराधनाः पादपद्माः ।
श्रेयोस्मेभ्य ददतु परमानंदनिस्यदसान्द्रम् ॥ १० ॥

(१५) महर्षि स्तवन (पादुका स्तुतिः)

आदि– निर्वेद सौष्ठवतपद्वपुरात्मभेद सं विद्धिक स्वरमुदोद्धुतदिव्यशक्तिन् ।
बुद्धौषधाबलतपोरसविक्तियर्द्धि, क्षेत्र क्रियर्द्धिकलितान्स्तुमहे महर्षीन् ॥ १ ॥
अंतिम– इत्यन्यतभ्दवतपोमहिमोदितर्धा, नाचार्यपाठकयतीन् जगदेकभर्तृनं
वदारुराश्रयतिकामपि भावशुद्धिक्षिप्र यया दुरितपाकमपाकरोति ॥१२ ॥
इति महर्षिस्तवन समाप्तं ॥ वा पादुकास्तुति आशाधर कृता समाप्ता ॥

(१६) व्रतारोपण–

आदि– श्री वर्धमानमानम्य गौतमादिंश्च सद्गुरुन् ।
युगप्रधानस्य गुरोः पादमूले व्रत श्रयेत् ॥ १ ॥
मद्यमासमधु क्षीर फलानि निशि भोजनम् ।
ताबुलौषधमावर्ज्य पाणी चागालितांबुना ॥ ५ ॥
अंतिम– इति जिन समयार्थं व्यासतो वासमासा ।
निजबल मनिगूहन् पूजयत्यवगाह्य ॥
सुकृत सुकृत पूजा पूज्यमाने शिवाशा
धर पतिनिरि नत ज्ञानस्फूर्जत् श्रीज्यमेति ॥ ११ ॥

(१७) जिनपूजा विधान पत्र ४५ (पृष्ठ ९०)

आदि– अथ जिनपूजन विधानम् ॥ यद्गर्भावतरे गृहे जनयितु ____ ॥
मध्य– पचाचाराचरण सचिवा चारणैक क्रियाणा ।
स्फारस्फूर्जद्गुण चितयश शुभ्रिताशाधराणा ॥
सत्सूरिणामिति विधिकृताराधनाः पादपद्माः ।
श्रेयो स्मेभ्य ददतु परमानद निष्यद सान्द्रम् ॥ १० ॥
अंतिम– अनेन विधिना यथाविभवमर्हतः स्नापन ,
विधायमहमन्वह सृजति य शिवाशाधरः ।
स चक्रि हरि तीर्थ कृत्कृताभिषेकः सुरैः,
समर्चितपद. सदासुखसुधाबुधौ मज्जति ॥ इति पूजाफल ।
इत्यर्हदेव महाशातिक विधिः समाप्त ॥ सवत१८९४वैशाख कृष्ण १३ सौमे ।

(१८) नित्यमहोद्योत–

आदि– नमस्कृत्यमहावीरं नित्यपूजा प्रसिद्धये।
बुवे नित्यमहोद्योतं यथाम्नायमुपासकान्॥ १॥
सिद्धानाराध्य सद्भावस्थापनायां जिनेशिनः।
स्नपनं विधिवद्विश्वहितार्थं वितनोम्यहम्॥ २॥

अंतिम– अनेन विधिना यथाविभवमर्हतः........ सदा सुखसुधां-बुधौ मज्जति॥१६६॥

(१९) सिद्धचक्रार्चन (लघु)

आदि– श्री परमात्मने नमः॥ सदृष्टयाप्रातबधक व्ययगमे कैवल्यमुद्यन्नय–
स्याद्वादोदितया समन्वयगुणा ध्यात्येद्धया निवृत्तं॥
ॐ ह्री मर्हमनाहताक्षरपरास्या सार्चनाख्या नमः।
पूतैः सत्रिहिमद्युसिधुसलिलैः श्री सिद्धचक्रं यजे॥ १॥

अंतिम– ॥ ९॥ अर्घ्यं॥ इत्थं चक्रमुपास्य दिव्यवपुराव्हाननादिपूर्वं ज्वलत्।
ध्यात्वानाहतमंतरंगमुदयत्स्व शुभ्रतेजोमयम्॥
यस्योर्द्धाहितमाद्यमंत्रमधियत् जप्त्वा शिवाशाधरः।
प्राग्त विधिवज्जुहोति सयथा ध्यान फलान्यश्नुते॥
इति पूर्णार्घः॥ इति सिद्धचक्रपूजा आशाधरकृता समाप्ता॥

(२) सरस्वती स्तुति (ब्राह्मी स्तुति)

आदि– बोधेन स्फुरता चिताप्यचलया सूक्ष्मा विकल्पात्मना।
पश्यंति श्रुतिगम्य तज्जवपुषा या वैखरीमध्यमा॥
ता चित्रात्मसमस्तवस्तु विशदोन्मेषोन्मिव ज्योतिषे।
शब्द ब्रह्मलसत्परापरकला ब्राह्मी स्तुमस्त्वाजसा॥ १॥

अंतिम– चचच्चक्ररुचं कलापि गमना यः पुण्डरीकासनां।
सज्ञानाभय पुस्तकाक्ष-वलय-प्रावार राज्युज्वलाम्॥
त्वामध्येति सरस्वतित्रिनयनां ब्राह्मे मुहूर्ते मुदा।
व्याप्ताशाधर कीर्तिरस्तु सुमहाविद्यः स वन्द्यः सताम्॥ ९॥

(२१) मूलाराधना दर्पण–

आदि– नत्वाऽर्हतः प्रबोधाय मुग्धानां विवृणोम्यहम्।
श्रीमूलाराधनागूढ पदान्याशाधरोऽर्थतः॥ १॥

अंतिम- आश्वास प्रथम-

बाल्येनापि यदि त्यजन्नयमसून्ससारघोरार्णवे ।
दीर्घं भ्राम्यति चेतनस्त्यजति कस्तद्बाल्यबाल्येन तान् ॥
इत्यश्रान्तमनुस्मरन् जिनवच. पीयूषमस्नामिमं ।
भक्तत्यागमुपैतु जीवितधनाद्याशाधरैर्दुर्लभम् ॥

द्वितीय आश्वास-

जैनी दीक्षामास्थितोऽभ्यस्तशास्त्र:,
श्रेयोमार्गे सार्थवाहायते य: ।
कीर्तिर्व्याप्ताशाधर: सोऽगभेदेऽ -
भ्युद्यत्प्रीति. सद्‌गते: शाश्वदीष्टे ॥

तृतीय आश्वास-

इत्थ कृत्वात्मसस्कार कर्षितागकषायक: ।
शिवाशाधरसस्तुत्य· सूरिपूत स्वमुद्धरेत् ॥ १० ॥

चतुर्थ आश्वास-

इति गुरुहतशल्योऽजस्त्ररोचिष्णु रत्न-
त्रयलसदनुभावव्यक्त सौभाग्यसंपत् ।
विवरयितु शिवश्री संगमाशाधराग-
व्रजमिममुपधत्ता प्रायपुण्याध्वराय ॥

पंचम आश्वास-

तादृक सन्याससप्तार्चिषिरु चिरवरे भावहैयगवीन-
व्यालीढा. प्राच्य जन्मार्जित कलिसमिधै यायजूक: सजुव्हत् ॥
सान्द्रानदामृताशाधर विबुधमहाभव्य सभोगिसेव्य· ।
स्फूर्जत्सर्वज्ञमूर्ति: पिबतु मुहुरिया सूरिशिक्षा सुधावत् ॥

षष्ठम आश्वास-

इत्थ गणेन्द्रमुखचद्रभव तमिच्छ-दाशाधरेष्ट मनुशिष्टयममृतं प्रवर्ज्य ।
श्रद्धाप्रियामनुसमत्ववने किलान्तो हृष्यन्त्वलं क्षपकपुगवपुष्ककोरा: ॥

सप्तम आश्वास-

एवं दीक्षादिकालोचितविधिमुचित ज्ञानभक्त प्रतीज्ञा-
प्रौढिव्यूढोत्तमार्थ: करतलकलिताराधना केतन श्री: ।
कोऽप्याशाधरांतश्चर विशद् यशोगानरज्यन्मुमुक्षु: ,
सद्भिक्षु· स्वर्गलक्ष्मी प्रणयहृतशिवश्री कटाक्षोत्सव: स्यात् ॥

अष्टम आश्वास-

इमामष्टाश्वासीमसकृदनुतं त्रिस्त्रिचतुरैः ।
निबंधैष्टीकाद्यैः स्थविर वचनैरप्यवितथैः ॥
कृतां सचर्च्योच्चैः शिववचनमीक्षंत इह ये ।
व्रजन्त्यक्षार्थाशाधर पुरुष दूर पदमिमे ॥

ग्रन्थकृतः प्रशस्ति-

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः__________
श्री सलक्षण तो जिनेंद्रसमयश्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥
सरस्वत्यामिवात्मान__________रजितार्जुनभूपतिः ॥ २ ॥
व्याघ्रेरवालवरवंश__________कलिकालिदासः ॥ ३ ॥
इत्युदयकीर्तिमुनिना कविसुहृदा____मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये____वाक्शाशास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥

(२२) आराधना स्तव-

स्वस्ति स्यात्कारकेतनाय श्रीमदनेकान्तशासनाय ॥ अथ प्रारब्ध-निर्विघ्न परिसमाप्ति प्रमोदभरानुविद्धभक्ति परवशमानसो ग्रथकृत्यपरमाराध्यां भगवती-माराधनामभिष्टोतुमिद वृत्तदशकमपाठीत्—

लब्ध्वा लब्धचरीश्चिरेण रुचिताः कालादिलब्धिः सता ।
श्रित्वाराधकता विशुद्धमहती भव्या भवाब्दिभ्यतः ॥
यामाराध्य शिवाध्ववृत्तिमसिधन्सिध्यंति स्येत्स्यंति वा ।
ता वंदे व्यवहारनिश्चयमयीमाराधना देवताम् ॥ १ ॥

अंतिम- इत्युदामलसत्परापरकलालीला विलासाखिल -
क्लेषां तत्पदसंपदार्पणमाराधना संस्तौतियः ।
स प्राणोपरमोपजात तदुपस्कारः शिवाशाधरै-
राराध्यक्रमपंकजोऽचलचिदानंदे सदास्ते पदे ॥ १० ॥

(२३) जिन-श्रुत-गुरु-सिद्ध-रत्नत्रय स्नपनम्-

श्रीमन्मंदरसुन्दरे शुचि जले______ ॥ १ ॥
इन्द्राग्नन्यन्तक नैऋतो________ ॥ २ ॥
आहृत्य स्नपनोचितोपकरण______ ॥ ३ ॥
सामोदैः स्वच्छतोयैः________ ॥ ५ ॥

पूर्वस्यादिशि कुडलाशनिचय______ ॥ ६ ॥
इत्येव लोकपाला ये समाहूता______ ॥ १७ ॥
श्रीमभ्दि सुरसैर्निसर्गविमलै______ ॥ १९ ॥
सुस्निग्धैर्नवनालिकेरफलजै______ ॥ २५ ॥
दण्डीभूततडिद् गुणप्रगुणया______ ॥ ३० ॥
मालातीर्थकृत स्वयवर विधौ______ ॥ ३५ ॥
शुक्लध्यानमिद समृद्धमथवा______ ॥ ४० ॥
हृद्योद्वर्तनकल्कचूर्णनिवहैः______ ॥ ४९ ॥
कर्पूरोल्वन सान्द्र चदनरस______ ॥ ५१ ॥
स्नानानतरमर्हत स्वयमपि______ ॥ ५६ ॥
अभिषिच्येति येऽर्चन्ति जलाद्यैर्जिन भारती।
ते भजन्ति श्रिय कीर्तिद्योतिताशाधरा पराम् ॥ ५७ ॥ श्रुतस्नपन
ये सिद्धाय ददत्यर्घं शुद्धभावेन भाविताः।
सच्छिवाशाधरशृगकीर्तिपात्रा भवन्ति ते ॥ ५८ ॥ सिद्धस्न.
एव विधायाभिषवं जलाद्यै रत्नत्रय येऽष्टभिरर्चयन्ति।
ते भुक्तशर्माभ्युदया भजन्ते मुक्ति शिवाशाधरपूज्यपादा ॥ ५९ ॥
इतिरत्नत्रयस्नपनार्घ ॥ इति ॥

(२४) रत्नत्रयपूजा-लघु-

आदि- श्रीवर्धमानमानम्य गौतमादींश्च सद्गुरुन्।
रत्नत्रय विधि वक्षे यथाम्नाय विमुक्तये ॥ १ ॥

अंतिम- इत्यर्चयन्ति ये भेदाभेदरत्नत्रयं सदा।
ते शिवाशाधरा भक्त्या श्रिय गच्छति शाश्वतीम् ॥ ३४ ॥

(२५) रत्नत्रय व्रत विधान-

आदि- श्री वर्धमानमानम्य______ ॥ १ ॥
मध्य- इत्यर्चयति ये भेदाभेद______ ॥ ३४ ॥
स. दर्शन- श्रद्धान सप्ततत्त्वानां स्थित्युत्पत्ति-व्ययात्मना।
व्यवहारेण सम्यक्त्व मामनन्ति मनीषिणः ॥ ३५ ॥
स. ज्ञान- द्रव्याणि यदशेषाणि सपर्यायानि सर्वतः।
तद्गुणानपि जानाति तज्ज्ञान केवलं स्तुवे ॥ १ ॥

स. चारित्र- आनंदरूपोऽखिलकर्ममुक्तो
निरत्ययः ज्ञानमयः सुभावः ।
गिरामगम्यो मनसोऽप्यचिन्त्यो
भूयान्मुदे वः पुरुषः पुराणः ॥ १ ॥

चा. जयमाला-

जय जय शिवसुखकारण-दुर्गतिनिवारण-सकलतत्त्वसूचितकरण,
परनयकृतदूषण मुनिगणभूषण भव्यनिवह सस्तुतचरण ॥ ४४ ॥

अंतिम- तत्वार्था भिनीवेश_________रत्नत्रयं श्रेयसे ॥ ६४ ॥
मोहमल्ल ममल्लं यो व्यजेष्ट निश्चय-कारणम् ।
करीन्द्र वा हरिः सोऽर्हन् मल्लिः शल्यहरोऽस्तु वः ॥ ६५ ॥

(२६) रत्नत्रय व्रत कथा-

आदि- श्रीवर्धमानमानम्य________________विशुद्धये ॥ १ ॥

अंतिम- साधो मंडितवाग (ळ) वंशसुगणेः सज्जैनचूडामणेः ।
मालाख्यस्य सुतः प्रतीतमहिमा श्रीनागदेवोऽभवत् ॥ १ ॥
यः शुल्कादिपदेषु मालवपतेः न्नात्रातियुक्तं (?) शिवं ।
श्री सल्लक्षणया स्वमाश्रितवसः कोऽप्रापयन्नः श्रियं ॥ २ ॥
श्रीमत्केशवसेनार्य वर्यवाक्यादुपेयुषा ।
पाक्षिक श्रावकी भावं तेन मालवमंडले ॥ ३ ॥
सल्लक्षण पुरे तिष्ठन् गृहस्थाचार्यकुंजरः ।
पडिताशाधरो भक्त्या विज्ञप्तः सम्यगेकदा ॥ ४ ॥
प्रायेण राजकार्येऽवरुद्धधर्माश्रितस्य मे ।
भाद्र किंचिदनुष्ठेयं व्रतमादिश्यतामिति ॥ ५ ॥
ततस्तेन समीक्षो वै परमागम विस्तर ।
उपविष्ट सतामिष्टस्तस्यायं विधिसत्तमः ॥ ६ ॥
तेनान्यैश्च यथाशक्तिः भवभीतैरनुष्ठितः ।
ग्रन्थो बुधाशाधरेण सद्धर्मार्थमथो कृतः ॥ ७ ॥
विक्रमार्क त्र्यशीत्यग्र द्वादशाब्दशतात्यये ।
दशम्यां पश्चिमे कृष्णे___(वारे) प्रथतां कथा ॥ ८ ॥
पत्नी श्री नागदेवस्य नंद्याद्धर्मेण नायिका ।
यासीद्रत्नत्रयविधिं चरन्तीनां पुरस्सरी ॥ ९ ॥

इत्याशाधरविरचितः रत्नत्रयविधिः समाप्तः ॥

(२७) ज्ञानदीपिका-अनगारधर्मामृत-

आदि- प्रणम्य वीर परमावबोध माशाधरो मुग्ध विबोधनाय ।
स्वोपज्ञ धर्मामृत धर्मशास्त्र पदानि किंचित्प्रकटीकरोति ॥ १ ॥

इत्याशाधर दृब्धाया धर्मामृत पंजिकाया ज्ञानदीपिका परसज्ञायां प्रथमोऽध्याय:

अंतिम- शिवाशाधरै-मुमुक्षुभि: । इत्याशाधर दृब्धाया धर्मामृत पंजिकायां..... नवमोऽध्याय· ।

नवाध्यायामेतां श्रमणवृषसर्वस्व विषया,
निबध प्रव्यक्ता मनवरत मालोचयति य· ।
स सद्वृत्तोदर्चि क खित कलिक ज्ञोऽक्षयसुख,
अयत्यक्षार्थाशाधर परमदूर शिवपदम् ॥

इत्याशाधर दृब्धाया स्वोपज्ञ धर्मामृत पजिकायां प्रथमो यतिस्कध.. समाप्त: ।

(२८) ज्ञानदीपिका सागारधर्मामृत-

अंतिम- इत्याशाधर दृब्धाया धर्मामृतपंजिकाया सप्तदशोऽध्याय. समाप्त· ।

इमामष्टाध्यायी प्रथित सकल श्रावकवृषा ।
निबध प्रव्यक्ता सुमतिरनिश यो विमृशति ॥
स चेद्धर्माभ्यासो दुषित विषयाशाधर पद: ।
समाधित्यक्तासुर्भवति हि शिवान्ताभ्युदयभाक् ॥

इत्याशाधर विरचिताया स्वोपज्ञ धर्मामृतपजिकाया द्वितीय. श्रावक-धर्मस्कध समाप्त ।

साधोर्मण्डितवाल वशसुमणे सज्जैनचूडामणे:,
मल्लारव्यस्य सूत प्रतीतमहिमा श्रीनागदेवोऽभवत् ।
शुल्कादैषु पदेषु मालवपति श्री देवपालेन य
सप्रीत्याधिकृत: स्वमाश्रितवत· कान्प्रापयन्न श्रियम् ॥
साधर्मिकोपकारार्थं तेनैषा ज्ञानदीपिका ।
लेखयित्वा सरस्वत्या भाण्डागारे न्यधीयत ॥

श्री वीतरागाय नमः । मगल महाश्री...... ॥ इसके अध्याय ६ श्लोक २२ के टीका में "एतज्जिनस्नपनादि विधान सूचनामात्रं, विस्तरतस्तु एतत्पूर्वाचार्य-कृतस्नानशास्त्रेषु अस्मत्कृत नित्यमहोदयाख्य (महोद्योत) स्नानशास्त्रे च द्रष्टव्यम् ॥"

(२९) जिनयज्ञकल्प-लघु-श्लोक २८-

आदि- अथातो जिनयज्ञविधानं विधास्यामः -

जिनान्नमस्कृत्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्रोपदेश व्यवहारदृष्ट्या ।
श्रीमूलसंघे विधिवत्प्रबुद्धान् भव्यान् प्रवक्ष्ये जिनयज्ञकल्पं ॥ १ ॥
नमस्कृत्य महावीर नित्यपूजाप्रसिद्धये ।
ब्रुवे नित्यमहोद्योतं यथाम्नायमुपासकान् ॥ २ ॥
तत्रादौ बृहत्शांतिकाभिषेक विधिमभिधाष्याम: —
सिद्धानाराध्य सभ्दावस्थापनाय जिनेशिनः ।
स्नपन विधिवद्विश्वहितार्थं वितनोम्यहम् ॥ ३ ॥

अंतिम- एते तीर्थकृतोऽनंतैर्भूतसभ्दावीभिः समं ।
पुष्पाजलिप्रदानेन सत्कृताः सन्तु शांतये ॥ २८ ॥ पुष्पाजलि ।
इति जिनयज्ञविधानम् ॥

(३०) जिनयज्ञकल्प - बृहत-

आदि- जिनान्नमस्कृत्य..........प्रवक्ष्ये जिनयज्ञकल्प ॥ १ ॥

प्रथमोऽध्याय अंत-

एतत्सूत्र दृब्धमैतिह्यदृष्ट्या ग्रथार्थाभ्या धारयन् य. सुधीमान् ।
नीमातीन्द्रः कर्मनिर्देश्यमान, सद्गार्हस्थाशाधरै पूज्यतेऽसौ ॥ १९१ ॥
(सद्गार्हस्थं - दानपूजाप्रतिष्ठा - जिनयात्रादि कर्मनिष्ठ. सद् गृहस्थः, तस्य भावः कर्म वा ।)

द्वितीयोऽध्याय-

इत्याम्नायनिरस्त मोह तिमिरः सम्यग्जिनेज्यादिभिः ।
काचिभ्दावविशुद्धिमाप्य विधिभिः सौधर्मभाव भजन् ॥
कृत्वा मडलपूजन वितनुते योऽर्हत्प्रतिष्ठा विधिः ।
सोऽत्रामुत्र च मोदते शुभनिधिः स्तुत्यः शिवाशाधरैः ॥ १५२ ॥

तृतीयोऽध्याय-

ऐतिह्यादिति यागमडलमह निर्वर्त्य वेदीविधिं ।
चिद्वृत्य शुभभावसंपतिपरां निर्माप्य भव्यात्मना ॥

दृष्ट्वामृश्य च सर्वश: प्रतिकृतिराशाधरोऽतश्चरत् ।
कीर्तिः सोत्तरसाधकोऽनुरहस गच्छेत्पुरा कर्मणे ॥ २४१ ॥

षष्ठोऽध्याय–

एव व्याससमास दर्शनपरं स्वोपज्ञधर्मामृत् -
ग्रथाग जिनयज्ञकल्पमकरोदाशाधरः श्रेयसे ॥
एन सम्यगधीत्य ये गुरुमुखाब्दुध्वा तदर्थं क्रिया ।
निर्मास्यन्ति सुमेधसो बुधनताः प्राप्स्यति ते निर्वृतिम् ॥ ६५ ॥

ग्रंथकर्तुः प्रशस्ति–

श्लोक १ से १७ अन. ध. के बड़े प्रशस्ति के ही हैं ॥ १-१७ ॥
प्राच्यानि सचर्च्य जिनप्रतिष्ठाशास्त्राणि दृष्ट्वा व्यवहारमैन्द्रम् ।
आम्नायविच्छेदतमच्छिदेय ग्रंथः कृतस्तेन युगानुरूपतः ॥ १८ ॥
खाडिल्यान्वय भूषणाल्हण सुतः सागारधर्मे रतो ।
वास्तव्यनलकच्छचारु नगरे कर्त्ता परोपक्रियां ॥
सर्वज्ञार्चन- पात्रदान- समयोद्योत- प्रतीष्ठाग्रणीः ।
पापात्साधुरकारयत्पुनरिम कृत्वोऽपरोध मुहुः ॥ १९ ॥
विक्रम वर्ष स पचाशीतिद्वादशशतेष्वतीतेषु ।
आश्विनसितान्त्यदिव से साहसमल्लापराख्यस्य ॥ २० ॥
श्री देवपालनृपते प्रमारकुलशेखरस्य सौराज्ये ।
नलकच्छपुरे सिद्धो ग्रंथोऽय नेमिनाथचैत्यगृहे ॥ २१ ॥
अनेकार्हत्प्रतिष्ठाप्तप्रतिष्ठैः. केल्हणादिभिः ।
सद्य सूक्तानुरागेण पठित्वाऽय प्रचारितः ॥ २२ ॥
यावत्त्रिलोक्या जिनमदिरार्च्यास्तिष्ठति शक्रादिभिरर्च्यमानाः ।
तावज्जिनादिप्रतिमा प्रतिष्ठा. शिवार्थिनोऽनेन विधापयन्तु ॥ २३ ॥
नद्यात्खाडिल्य वशोत्थ. केल्हणो न्यास वित्तरः ।
लिखितो येन पाठार्थमस्य प्रथमपुस्तकम् ॥ २४ ॥

(३१) महावीरपुराण-पत्र ३६–

आदि– वीर नत्वेंद्रभूति च त्रिषष्ठि श्रेष्ठपुश्रित ।
इति वृत्त ब्रुवे स्मृत्यै समासेन यथागमम् ॥ १ ॥

अंतिम– सोऽहमाशाधर. कण्ठ मलकर्तुं सधर्मणां ।
पजिकालकृत ग्रथमिम पुण्यमरीरचम् ॥

संक्षिप्यतां पुराणान् नित्य स्वाध्याय सिद्धये।
इति पंडित जाजाकाद्विज्ञति प्रेरिकात्र में॥
प्रमार वशवार्दीदु देवपालनृपात्मजे।
श्रीमज्जैतुगिदेवे सिस्थाम्नावंतीमवत्यलम्॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालये सिद्धत्।
ग्रंथोऽयं द्विनवद्वयैकं विक्रमार्क समात्यये॥
खंडिलांवंशे मदन कमल श्री सुतः सुदृक्।
धीनाको वर्धतां येन लिखितास्याद्य पुस्तिका॥

(यह प्रशस्ति डॉ. कस्तूरचंदजी कासलीवाल प्रकाशित प्रशस्ति संग्रह भाग १ से ली है। इसे पढ़ने से लगता है कि यह ग्रथ त्रिषष्ठि स्मृति के समकालीन ही है।)

(३२) शांतिपुराण–

पत्र १०७ लष्कर दि. जैन मंदिर ग्रंथ सं. ३९३

(३३) त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र–

आदि–

अंतिम– इत्याशाधर दृब्धे त्रिषष्ठि स्मृति नाम्नि महापुराणानान्तस्तत्त्व - सग्रहे श्रीमहावीरपुराणं चतुर्विंशम्॥ अथ प्रशस्तिः -
श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः________
[१] श्रीमल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमयश्रद्धालुराशाधर.॥ १॥
सरस्वत्यामिवात्मान________रजितार्जुनभूपतिः॥ २॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये____शास्त्रं महावीरतः॥ ३॥
श्रीमदर्जुनभूपाल__________नलकच्छपुरेऽवसत्॥ ४॥
यो द्राक् व्याकरणाब्धि_____आपुः प्रतिष्ठां न के॥ ५॥
धर्मामृताणि शास्त्राणि कुशाग्रीयधियामिव।
यः सिध्दांकं महाकाव्य रसिकानां मुदेऽसृजत्॥ ६॥
सोऽहमाशाधरः कण्ठमलंकर्तुं सधर्मणाम्।
पंजिकालंकृतं ग्रंथमिम पुण्यमरीरचम्॥ ७॥

१- लखणसाह कर्वेपितुर्नाम।

कार्षमब्धि: क्व मद्धीस्तैस्तथाप्येतत् श्रुतं मया।
पुण्यै: सध्दय:[२] कथारत्नान्युद्धृत्य ग्रथितान्यत: ॥ ८ ॥
सक्षिप्यतां पुराणानि नित्य स्वाध्यायसिद्धये।
इति पंडितजाजाकाद् विज्ञप्ति. प्रेरिकात्र मे ॥ ९ ॥
यच्छद्मस्थतया किंचिदत्रास्ति स्खलितं मम।
तत्सशोध्य पठत्वेनं जिनशासनभक्तिका: ॥ १० ॥
महापुराणान्तस्तत्वसग्रहं पठितामिम।
त्रिषष्ठि स्मृतिनामानं दृष्टिदेवी प्रसीदतु ॥ ११ ॥
प्रमाग्वश वार्धीन्दु-देवपालनृपात्मजे।
श्रीमज्जैतुगीदेवेऽसिस्थेम्नावतीमवत्यलम् ॥ १२ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमि चैत्यालयेऽसिधत्।
ग्रन्थोऽय द्विनवद्वयैक-विक्रमार्कसमात्यये ॥ १३ ॥
खांडिल्यवशे महणकमलश्रीसुत. सुदृक्।
धीनाको वर्धता येन लिखितास्याद्यपुस्तिका ॥ १४ ॥

अलमति प्रसंगेन

शाति. सन्तनुता समस्त जगत. सगच्छता धार्मिकै:।
श्रेय श्रीपरिवर्धता नयधुराधुर्यो धरित्रीपति: ॥
सद्विद्यारसमुद्गिरन्तु कवयो नामाऽप्यधस्यास्तु मा।
प्रार्थ्यं वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हत: ॥ १५ ॥

इत्याशाधरविरचिता त्रिषष्ठि स्मृति· समाप्ता ॥

(३४) भव्यकुमुदचंद्रिका-श्रावकधर्मदीपक (सागारधर्मामृत टीका)

आदि- श्री वर्धमानमानम्य मन्दबुद्धि प्रबुद्धये।
धर्मामृतोक्तसागार धर्मटीका करोम्यहम् ॥ १ ॥
समर्थनादियन्नात्र ब्रुवे व्यासभयात्क्वचित्।
तज्ज्ञानदीपिकाख्यैतत्पंजिकायां विलोक्यताम् ॥ २ ॥

प्रशस्ति- श्लोक १ से ११ अन. ध. भव्यकुमुदचंद्रिका के ही हैं ॥ १-११ ॥
आयुर्वेद विदामिष्टा व्यक्त वाग्भटसंहिताम्।
अष्टाग हृदयोद्योत्त निबधमसृजच्च य: ॥ १२ ॥

२- श्रेयोर्थिजनार्थम्।

यो मूलाराधनेष्टोप________कलापमुज्जगौ ॥ १३ ॥
रौद्रटस्य व्यधात्काव्यं________योऽर्हताम् ॥ १४ ॥
स निबंध यश्च________कृत व्यधात् ॥ १५ ॥
अर्हमिहाभिषेकार्चा________जिनेशिनाम् ॥ १६ ॥
रत्नत्रयविधानस्य________ ॥ १७ ॥
सोऽहमाशाधरो रम्यामेतां टीकां व्यरीरचम् ।
धर्मामृतोक्त सागार धर्माष्टाध्याय गोचरम् ॥ १८ ॥
प्रमारवंशवार्धीन्दु________मवत्यलम् ॥ १९ ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
टीकेय भव्यकुमुद चंद्रिकेत्युदिता बुधैः ॥ २० ॥
षन्नवद्व्यैकसंख्यान-विक्रमांक समात्यये । (१२९६)
सप्तम्यामसिते पौषे सिद्धेऽयं नंदताच्चिरम् ॥ २१ ॥
(संवत १२९६ पोष वद्य सप्तमी शुक्रवारे इत्यर्थः)
श्रीमान् श्रेष्ठि समुद्धरस्य तनयः श्री पौरपांटान्वय-
व्योमेन्दुः सुकृतेन नंदतु महीचंद्रो यदभ्यर्थनात् ॥
चक्रे श्रावकधर्मदीपक मिदं ग्रंथं बुधाशाधरो ।
ग्रन्थस्यास्य च लेखतोऽपि विदधे येनादिमः पुस्तकः ॥ २२ ॥

अलमतिप्रसंगेन ।

यावत्तिष्ठिति शासनं जिनपतेश्छिंदानमन्ते स्तमो, ।
यावच्चार्क निशाकरौ प्रकुरुतः पुसां दृशामुत्सवम् ॥
तावत्तिष्ठतु धर्मसूरिभिरियं व्याख्यायमानाऽनिशं ।
भव्यानां पुरतोऽत्र देशविरताचार प्रचारोद्धुरा ॥ २३ ॥
अनुष्टपच्छंदस्य पंचस्शताग्राणी सतां मता ।
सहस्राण्यस्य चत्वारि ग्रंथस्य प्रमितिः किल ॥ २४ ॥
ग्रन्थ प्रमाणं ४५०० । शुभं भवतु लेखक पाठकयोः ॥ २४ ॥

(३५) भव्यकुमुदचंद्रिका-अनगारधर्मामृत-

आदि- अथातः पण्डितः श्रीमदाशाधरः शिष्यानुजिघृक्षापार-
तंत्र्यात् परापरगुरु नमस्कार पुरस्सरं कृत्यं प्रतिजानीते--
प्रणम्य वीरं परभावबोधमाशाधरस्तद्गुण धारिणश्च ।
स्वोपज्ञ धर्मामृतसंज्ञशास्त्र टीकां जनानुग्रहणाय कुर्वे ॥ १ ॥

अंतिम– यो धर्मामृत मुद् धार सुमनस्तृप्त्यै जिनेन्द्रागम-
क्षीरोदं शिवधीर्निमथ्य जयतात्स श्रीमदाशाधरः ॥
भव्यात्मा हरदेव इत्यभिधया ख्यातश्च नन्द्यादिमं ।
टीकाशुक्तिमचीकरत्सुखमिमां तस्योपयोगाय यः ॥

इत्याशाधर रचिताया स्वोपज्ञधर्मामृतानागार धर्मटीकायां भव्यकुमुद चंद्रिका सज्ञाया नित्यनैमित्तिक क्रियाभिधानीयो नाम नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इत्याशाधरदृब्धा स्वोपज्ञधर्मामृतानगार धर्म टीका भव्यकुमुदचद्रिका पराभिधाना समाप्ता । स्वस्ति स्यात्कार केतनाय श्रीमदनेकान्तशासनाय ॥

शाति सतनुता समस्तजगतः सगच्छता धार्मिकैः । (शं तनुतां इति वा पाठः)
श्रेय श्रीः परिवर्धता नयधुरा धुर्यो धरित्रीपतिः ॥
सद्विद्यारसमुद्रिरन्तु कवयो नामाप्यघस्यास्तु मा ।
प्रार्थ्य वा कियदेक एव शिवकृद्धर्मो जयत्वर्हताम् ॥ ३३ ॥

अथवा– सुखतद्धेतुसप्राप्तिर्दु खतद्धेतु वारणम् ।
तद्धेतुहेतवश्चान्यदपीदृक् शातिरिष्यते ॥ इत्याशाधर विरचिता
भव्यात्मा-हरदेवानुमता धर्मामृत यतिधर्मटीका परिसमाप्ता ॥

अन्य प्रशस्ति– टीकाकार की - विद्यानद कृता

१ अर्हद्भक्ति–

प्रारंभ– पचकल्याणपूजार्हं हतघातिमहासुरं ।
केवलज्ञानदृग्वीर्य सुखभूति जिनं श्रये ॥

२ महर्षि स्तवन–

प्रारंभ– स्वान्यलक्षण विज्ञान निर्धूताशेष विभ्रमान् ।
मुक्तिमार्गस्थितान् वदे महर्षिन् महदाश्रितान् ॥

अंत– महर्षिस्तुतिपद्धति सत्ता सद्बोधसिद्धये ।
विद्यानद इमा चक्रे साधुवादीन्द्रनंदनः ।

३ सरस्वती स्तवन–

प्रारंभ– सिद्धं प्रकाशयत्तत्त्व स्यादनेकान्तविग्रहं ।
मोहान्धतमसध्वसिशब्द ज्योतिरूपास्महे ॥

अंत– विशालकीर्ति सत्सूनुस्तीर्णश्रुतमहावर्णवः ।
विद्यानद इमा वृत्तिं चक्रे वाग्देवतास्तुतेः ॥

४ सिद्धभक्ति–

प्रारंभ– सिद्धात्मानं नमस्कृत्य सिद्धांगं सिद्धि संविदं ।
निबंधनं मया सम्यक् सिद्धस्तोत्रे विधीयते ॥

अंत– इत्याशाधरकृतस्तोत्र टीका समाप्ता ॥ कृतिरियं वादीन्द्रविशालकीर्ति भट्टारक प्रियशिष्य यतिविद्यानंदस्य ॥

५ अनगार धर्मामृत सूक्ति पंजिका–

आदि–

अंतिम– इत्याशाधर विरचिते धर्मामृतनाम्नि सूक्तिसंग्रहे नित्यनैमित्तिक कर्मक्रियाभिधानो नाम नवमोऽध्याय: ॥ ९ ॥

शांति: संतनुतां__________अर्हताम् ॥ १ ॥

विद्यास्याद्वादशास्त्रं तादवगमनजानंदयुक्त सुधा यो ।
विद्याधीवद्धीरस्या: कुमत-जयभवानंद येनं बिभर्ति ॥
विद्यात्मध्यानमस्याप्यसनभवमुदानंद एनं च धत्ते ।
विद्यानंदो मुनीद्रो जगति विजयते सोऽयमन्वर्थ नामा ॥ २ ॥
श्रीमत्तार्किक हृच्चमत्कृति गुणानेकान्तयुक्ति स्फुरत् ।
स्यात्कारामरकीर्तितपदोपन्यास - गगाधरान् ॥
विद्यानंद - समतभद्रयतिभृद् भट्टाकलंक प्रभा–
चद्रान् श्रीगुरुकुंदकुंदमुनिप श्री पूज्यपादं नुम: ॥ ३ ॥
स्वस्ति श्रीमूलसंघे बुधविनुतगणे श्रीबलात्कार संज्ञे ।
जाता ये गुप्तिगुप्त प्रभृति मुनिवरा-पुष्टवादीभसिंहा: ॥
सद्बोधानदमूर्तिनुचिरगुणयुता भव्यनित्यार्चिताघ्रीन् ।
भक्तया वदामहे तानुरु रुचिचरितालंकृतात्सूरिचर्यान् ॥ ४ ॥

इति धर्मामृतेऽनगारधर्मे सुरचिते द्वितीयस्कंध: समाप्त: ॥ श्रीरस्तु ॥

श्रुतसागर टीकागत प्रशस्ति–

१) नित्यमहोद्योत–

अथ श्री-पंडिताशाधर-महाकवि-विरचितमहाभिषेक वृत्ति प्रारभ:–
नत्वा श्रीमज्जिनान् सिद्धांस्त्रिधा साधूनथ श्रुतं ।
वृत्तिमहाभिषेकस्य कुर्वे सर्वार्थकारिणीम् ॥ १ ॥

श्रीमदाशाधरो महाकविर्जिनसूत्रानुसारेण महाभिषेकविधिं विधित्सु: सर्वविघ्नविनाशार्थं श्री वर्धमानस्वामिनं नमस्कुर्वन् इदमाह–

अंतिम– शिवाशाधरः - शिवं परमकल्याणं निर्वाणमित्यर्थः, तस्य-आशां बांछां धरतीति शिवाशाधरः। अनेन मिषेण कविना स्वनामापि सूचितं भवति ॥ १६६ ॥

श्री विद्यानंदि गुरोर्बुद्धि गुरोः पादपंकजभ्रमरतरः।
श्री श्रुतसागर इति देशवतितिलकष्टीकते स्मेदम् ॥ १ ॥
इति श्री ब्रह्म श्री श्रुतसागरकृता महाभिषेक टीका समाप्ता ॥

श्रीरस्तु लेखक पाठकयोः शुभं भवतु। श्री संवत १५८२ वर्षे चैत्रमासे शुक्लपक्षे पचम्या तिथौ रवौ श्री आदिजिनचैत्यालये श्रीमूलसंघे सरस्वतीगच्छे बलात्कारगणे श्रीकुंदकुंदाचार्यान्वये भट्टारक श्री पद्मनंदी देवाः तत्पट्टे भ. श्री देवेंद्रकीर्तिदेवास्तत्पट्टे भ. श्री विद्यानंदीदेवास्तत्पट्टे भ. श्रीमल्लिभूषणदेवास्तत्पट्टे भ. श्रीलक्ष्मीचंद्रदेवास्तेषा शिष्यवरब्रह्म श्री ज्ञानसागर-पठनार्थं, आर्या श्रीविमलश्री, चेली भट्टारकलक्ष्मीचद्र दीक्षिता विनयश्रीया स्वय लिखित्वा प्रदत्त महाभिषेक भाष्य ॥ शुभ भवतु , कल्याणं भूयात् , श्रीरस्तु ॥

२) **सिद्धचक्रार्चनाष्टक** - मूडबिद्री ग्र. स. १९ पत्र ८

प्रारंभ– सिद्धचक्र प्रणम्यादौ सिद्धचक्रार्चनाष्टके।
निबंध रचयन्त्येते श्रुतसागसूरयः ॥ १ ॥

३) **सिद्धभक्ति**– झालरापाटन प्रकाशित सूची

४) **जिनसहस्रनाम**–

प्रारंभ– ध्यात्वा विद्यानद समंतभद्र मुनीन्द्रमर्हत।
श्रीमत्सहस्रनाम्ना विवरणमावच्मि ससिध्यै ॥

अथ श्रीमदाशाधर सूरि गृहस्थाचार्यवर्यो जिनयज्ञादि सकलशास्त्र प्रवीणंस्तर्क-व्याकरण-छदोऽलकार-साहित्य-सिद्धान्त-स्वसमय - परसमयागम-निपुणबुद्धिः, ससारपारावारपतनभयभीतो, निर्ग्रन्थ- लक्षणमोक्षमार्गश्रद्धालुः प्रज्ञापुंज इति बिरुदावलि विराजमान, जिनसहस्रनामस्तवन चिकीर्षु 'प्रभो भवाग भोगेषु' इत्यादि स्वाभिप्रायससूचनपर. श्लोकमिममाह। श्रीविद्यानन्दसूरीणां शिष्याः श्रीश्रुतसागरनामानस्तु तद्विवरणं कुर्वन्तीति।

पंचमोऽध्याय– नामसहस्रज्ञान तीर्थकृतामल्पकोऽप्युपायोऽयम्।
तीर्थंकर नामकृते श्रुतसागरसूरिभिः प्रविज्ञातः ॥

विद्यानन्द्यकलंकं समंतभद्रं च गौतमं नत्वा ।
नाथशतं व्याक्रियते श्रृणुत श्रुतसागरैर्मुनिभि: ॥

अष्टम अध्याय के आदि में–

यदि संसारसमुद्रादुद्विग्नो दु:खराशिभीतमना: ।
तज्जिनसहस्रनाम्नामध्ययनं कुरु समाधान: ॥
यो नामानि जिनेश्वरस्य सततं संचिन्तयेदर्शत: ।
श्रीमद्धर्मविबोधनस्य बुधसंरुध्यस्य धीमान्निधि: ॥
स स्यात्पुण्यचयो जगत्त्रयजयी तीर्थंकरो: शंकरो ।
लोकाशा परिपूरणे गुणमणिश्चिंतामणि: शुद्धधी: ॥
अथ विद्यानदिगुरुं सूरिवरं संप्रणम्य शुद्धमना: ।
विवृणोमि ब्रह्मशत सुसम्मतं साधुहृदयानाम् ॥

नवमेऽध्याये– शब्दश्लेषग्रन्थि प्रभेदनो जैनसन्मत्ते निपुण: ।
विद्वज्जनमान्यतमो जयति श्रुतसागरो वीर: ॥ १ ॥
विद्यानन्द्यकलंक - गौतम-महावीर-प्रभाचंद्रवाक् ।
लक्ष्मीचद्र - समतभद्र - जिनसेनाचार्यवर्याश्च ये ॥
श्रीमन्मल्लिमुनीन्द्रभूषणयति: श्रीकुंदकुंद प्रभु: ।
श्री श्रीपाल-सुपात्रकेसरियुता: , कुर्वन्तु मे मगल ॥ २ ॥
अथ बुद्धशते टीका करोमि वीर जिनेन्द्रमभिवन्द्य ।
श्रृण्वन्तु मोक्षमार्गे यियासवो भव्यनव्यतरूम् ॥ ३ ॥
अनामे इतीह बुद्धादिशतं निदर्शनि स मुक्तमप्यार्हतदर्शनेऽर्चित ।
अधीयते येन स्वभावनार्थिना स मंक्षु मोक्षोत्थसुखं समश्नुते ॥

अथ दशमोऽध्याय: –

अथ जिनवर चरणयुग प्रणम्य भक्त्या विनीत नतशिवद ।
अन्तकृदादिशतस्य क्रियते विवरण मनावरणम् ॥ १ ॥
जिव्हाग्रे वसतु सदा सरस्वती विश्वविदुषजनजननी ।
मम भुजयुगे च विद्यानंद्यकलंकौ भरद्धवताम् ॥ २ ॥

टीकागत– इदमेव परं तीर्थम् = इदमेव जिनसहस्रनामस्तवनमेव परं उत्कृष्टं, तीर्थं संसारसमुद्रोत्तरणोपायभूतं - अष्टापद-गिरनार-चंपापुरी-अयोध्या-शत्रुञ्जय-तुगीगिरि-गजध्वज अपरनाम नाभेय-सीमापरनाम गजपंथ-चूलगिरि-सिद्धवरकूट-मेंढ्रगिरि-तारागिरि-पावागिरि-गोम्मटस्वामी-माणिक्यदेव- जिरावलि

-रेवाटट-रत्नपुर-हस्तिनापुर-वाराणसी-राजगृहादि सर्वतीर्थ कर्मक्षय स्थानान्य-तिशय-क्षेत्रस्पर्शन यात्राकरण परमपुण्य दान पूजादि समुद्भूत सुकृतदान-समर्थमित्यर्थः।

स पुमान् सद्दृष्टिभिर्गुणवद्भिः दानपूजातपश्चरणशरणैर्महाभव्य- वरपुण्डरीकैः रामस्वामी पाण्डवसमानैः धर्मानुराग रंजित हृदय कमलैः सर्वज्ञवीतरागवन्मान्यत इत्यर्थ ।

इति सूरिश्रीश्रुतसागरविरचिताया जिनसहस्रनामटीकायामंतकृच्-छत विवरणो नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

प्रशस्ति संग्रह-पुरवणी–

१) ये सिद्धानां ददात्यर्घ्यं शुद्धभावेन भाविनां।
सत् शिवाशाधरा. श्रृग , कीर्तिपात्राः भवंति ते ॥
(सिद्धाष्टक अर्घ्य)

२) अभिसिचन्ति येऽर्चन्ति , जलाद्यैर्जिन भारतीम्।
ते भजन्ति श्रिय कीर्ति-द्योतिताशाधरा परा ॥
(श्रुताष्टक अर्घ्य)

३) स्नपयन्त्यतितोयाद्यैर्ये शिवाशाधरार्चितौ।
यजन्ते गणभृत्पादौ , तत्पद प्राप्नुवन्ति ते ॥ अर्घ्य ॥

४) एव विधाया भिषव जलाद्यैः रत्नत्रयं येऽष्टभिरर्चयन्ति।
ते भूक्त शर्माभ्युदया भजति, मूक्तिं शिवाशाधर पूज्यपादाः ॥ ४ ॥

५) इत्यबु - चदन - रसाक्षत - पूजपुष्पै
नैवेद्य दीप चय धूप फलार्घ दानैः।
यः श्रीजिनागमगुरुन् यजते त्रिसन्ध्या-
माशाधरोलसित कीर्तिमुपैति त श्री ॥ अर्घ्य

६) रत्नत्रयाष्टक–
इत्यर्चयति ये भेदाभेद रत्नत्रय सदा।
ते शिवाशाधर भक्ति-कीर्तिपात्राः भवति नू ॥

७) राजगृही जयमाला–
गुणगरिम गभीर नत्त्वा वीरं , गौतमादि गुरुगुणनिकर।
रत्नत्रय विधिवर , मुनिवरभवहर , उच्चाराम्यति मधुर तरं ॥

राजगृह नगरमिह मगधविषये वरं_______________ ।
तत्रभूत्येतदिह विश्वमेवोद्धृतं, छिन्नमधुनां बुधाशाधरैः सन्द्धृतं ।
प्रस्तुतं भव्यजन, भो समाधियतां, कथ्यमानं समासेन तत्श्रूयताम् ॥ ४ ॥
इति विहितपर्यं, स्तुतिजिनधर्मं, सम्यग्दर्शनमुनि निचितं ॥ १२ ॥ घत्ता ।
कृतकभूषण, विकृत्याराध्यं, स्तुत्याशाधरै रभिरचितं ॥ अर्घ्यं ॥ १३ ॥

आशाधरजी की मुख्य प्रशस्ति

श्रीमानस्ति सपादलक्षविषयः, शाकम्भरीभूषण-
स्तत्र श्रीरतिधाम मण्डलकरं, नामास्ति दुर्गं महत् ।
श्रीरत्न्यामुदपादि तत्र विमल-व्याघ्रेरवालान्वया-
च्छ्रीसल्लक्षणतो जिनेन्द्रसमय-श्रद्धालुराशाधरः ॥ १ ॥
सरस्वत्यामिवात्मानं, सरस्वत्यामजीजनद् ।
य पुण्य छाहड़ गुण्यं, रजितार्जुनभूपतिम् ॥ २ ॥
व्याघ्रेरवालवरवंशरोजहंसः,
काव्यामृतौघरसपानसुतृष्टपात्रः ।
सल्लक्षणस्य तनयो नयविश्वचक्षु-
राशाधरो विजयता कलिकालिदासः ॥ ३ ॥
इत्युदयसेनमुनिना कविसुहृदा योऽभिनन्दितः प्रीत्या ।
प्रज्ञापुजोऽसीति च योऽनिहितो मदनकीर्तियतिपतिना ॥ ४ ॥
म्लेच्छेशेन सपादलक्षविषये व्याप्ते सुवृत्तक्षति-
त्रासाद्विन्ध्यनरेन्द्रदोः परिमलस्फूर्जत्रिवर्गौजसि ।
प्राप्तो मालवमण्डले बहुपरीवारः पुरीमावसन्,
यो धारामपठज्जिनप्रमितिवाक्शास्त्रे महावीरतः ॥ ५ ॥
आशाधरत्व मयि विद्धि सिद्धं, निसर्गसौन्दर्यमजर्यमार्य ।
सरस्वतीपुत्र तया यदेत-दर्थे परं वाच्यमयं प्रपञ्चः ॥ ६ ॥
इत्युपश्लोकितो विद्वद्-विल्हणेन कवीशिना ।
श्रीविन्ध्यभूपतिमहा सान्धिविग्रहिकेण यः ॥ ७ ॥
श्रीमदर्जुनभूपाल-राज्ये श्रावक संकुले ।
जिनधर्मोदयार्थं यो, नलकच्छपुरेऽवसत् ॥ ८ ॥

यो द्राग्व्याकरणाब्धि पारमनयच्छुश्रूषमाणान्न कान्,
षट्तर्कीपरमास्त्रमाप्य न यतः, प्रत्यर्थिनः केऽक्षिपन्।
चेरुः केऽस्खलितं न येन जिनवाग्दीपं पथि ग्राहिताः,
पीत्वा काव्यसुधा यतश्च रसिकेष्वापुः प्रतिष्ठां न के॥ ९॥
स्याद्वादविद्याविशदप्रसादः, प्रमेयरत्नाकरनामधेयः।
तर्कप्रबन्धे निरवद्यपद्य-पीयूषपूरो वहतिस्म यस्मात्॥ १०॥
सिद्ध्यङ्कं भरतेश्वराभ्युदयसत्काव्यं निबन्धोज्वलं
यस्त्रैविद्यकवीन्द्रमोदनसहं स्वश्रेयसेऽरीरचत्।
योऽर्हद्वाक्यरसं निबन्धरुचिर शास्त्र च धर्मामृत,
निर्माय न्यदधान्मुमुक्षुविदुषामानन्दसान्द्रे हृदि॥ ११॥
राजीमतीविप्रलम्भं, नाम नेमीश्वरानुगम्।
व्यधत्त खण्डकाव्य यः स्वयंकृतनिबन्धनम्॥ १२॥
आदेशात्पितुरध्यात्म - रहस्य नाम यो व्यधात्।
शास्त्रं प्रसन्नगम्भीरं, प्रियमारब्धयोगिनाम्॥ १३॥
यो मूलाराधनेष्टोप - देशादिषु निबन्धनम्।
व्यधत्तामरकोशे च, क्रियाकलापमुज्जगौ॥ १४॥
रौद्रटस्य व्याधात्काव्या - लङ्कारस्य निबन्धनम्।
सहस्रनामस्तवनं, सनिबन्धं च योऽर्हताम्॥ १५॥
सनिबन्ध यश्च जिन - यज्ञकल्पमरीरचत्।
त्रिषष्ठिस्मृतिशास्त्रं यो, निबन्धालकृतं व्यधात्॥ १६॥
योऽर्हन्महाभिषेकार्चा - विधिं मोहतमोरविम्।
चक्रे नित्यमहोद्योतं, स्नानशास्त्र जिनेशिनाम्॥ १७॥
रत्नत्रयविधानस्य, पूजामाहात्म्यवर्णकम्।
रत्नत्रयविधानाख्य, शास्त्रं वितनुते स्म यः॥ १८॥
आयुर्वेदविदामिष्ट, व्यक्तं वाग्भटसंहिताम्।
अष्टाङ्गहृदयोद्योतं, निबन्धमसृजच्च यः॥ १९॥
सोऽहमाशाधरोऽकार्ष, टीकामेतां मुनिप्रियाम्।
स्वोपज्ञधर्मामृतोक्त - यतिधर्मप्रकाशिनीम्॥ २०॥
शब्दे चार्थे च यत्किञ्चि-दत्रास्ति स्खलित मम।
छद्मस्थभावात्संशोध्य, सूरयस्तत् पठन्त्विमाम्॥ २१॥

नलकच्छपुरे पौर - पौरस्त्यः परमार्हतः ।
जिनयज्ञगुणोचित्य - कृपादानपरायणः ॥ २२ ॥
खण्डिल्यान्वयकल्याणं, माणिक्यं विनयादिमान् ।
साधुः पाणभिधः श्रीमान्नासीत्पापपराङ्मुखः ॥ २३ ॥
तत्पुत्रो बहुदेवाऽभूत् - आद्यः पितृभरक्षमः ।
द्वितीयः पद्मसिंहश्च, पद्मालिङ्गितविग्रहः ॥ २४ ॥
बहुदेवात्मजाश्चासन्, हरदेवः स्फुरद्गुणाः ।
उदयः स्तम्भदेवश्च, त्रयस्त्रैवर्गिकादृताः ॥ २५ ॥
मुग्धबुद्धिप्रबोधार्थं, महीचन्द्रेण साधुना ।
धर्मामृतस्य सागार - धर्मटीकास्ति कारिता ॥ २६ ॥
तस्येव यतिधर्मस्य, कुशाग्रीयधियामपि ।
सुदुर्बोधस्य टीकायै, प्रसादः क्रियतामिति ॥ २७ ॥
हरदेवेन विज्ञप्तो, धनचन्द्रोपरोधतः ।
पण्डिताशाधरश्चक्रे, टीकां क्षोदक्षमामिमाम् ॥ २८ ॥
विद्वद्भिर्भव्यकुमुद - चन्द्रिकेत्याख्ययोदिता ।
द्विष्ठाप्याकल्पमेषास्तां, चिन्त्यमाना मुमुक्षुभिः ॥ २९ ॥
प्रमार वशवार्धीन्दु - देवपालनृपात्मजे ।
श्रीमज्जैतुगिदेवेसि - स्थाम्नाऽवन्तीमवत्यलम् ॥ ३० ॥
नलकच्छपुरे श्रीमन्नेमिचैत्यालयेऽसिधत् ।
विक्रमाब्दशतेष्वेषा, त्रयोदशसु कार्तिके ॥ ३१ ॥

मुख्यप्रशस्ति का अभिप्राय–

शाकम्भरीभूषण सपादलक्ष देश में लक्ष्मी से भरपूर मण्डलकर नाम का बड़ा किला था। वहाँ बघेरवाल वश में श्री सल्लक्षण नामक पिता और श्रीरत्नी माता से जैनधर्म में श्रद्धा रखने वाले पण्डित आशाधर का जन्म हुआ ॥ १ ॥

अपने आपको जिस तरह सरस्वती (वाग्देवता) ने प्रकट किया जिसने अपनी पत्नी सरस्वती में छाहड़ नामक गुणी पुत्र को जन्म दिया। जिस पुत्र ने मालवनरेश अर्जुनवर्मदेव को प्रसन्न किया ॥ २ ॥

कवियों के सुहृद उदयसेन मुनि द्वारा जो प्रीतिपूर्वक इन शब्दों द्वारा अभिनन्दन किया गया कि– बघेरवाल वंश सरोवर का हंस सल्लक्षण का पुत्र

काव्यामृत के पान से तृप्त, नयविश्वचक्षु और कविकालिदास पं. आशाधर की जय हो और मदनकीर्ति यतिपति ने जिसे प्रज्ञापुञ्ज कहकर अभिहित किया ॥३-४ ॥

म्लेच्छनरेश के द्वारा सपादलक्षदेश के व्याप्त हो जाने पर सदाचार-नाश के भय से जो परिजनो या परिवार के लोगों के साथ विन्ध्यवर्म राजा के मालवमण्डल में आकर धारानगरी में बस गया और जिसने वादिराज पं. धरसेन के शिष्य पडित महावीर से जैन प्रमाण (न्याय) शास्त्र और जैनेन्द्रव्याकरण पढ़ा ॥५ ॥

बिल्हण कविराज ने जिसकी इस प्रकार स्तुति की कि- हे आशाधर ! हे आर्य ! सरस्वतीपुत्रता से तुम मेरे साथ अपनी स्वाभाविकसहोदरता (भाईपना) और अन्वर्थक मित्रता समझो। सरस्वतीपुत्रता श्लिष्टपद है अर्थात् जिस तरह तुम सरस्वतीपुत्र हो, उसी तरह मैं भी हूँ। शारदा का उपासक होने से दोनों सरस्वतीपुत्र तो थे ही , साथ ही आशाधर की पत्नी का नाम सरस्वती था और उससे छाहड़ नाम का पुत्र था। उस सरस्वती पुत्र से आशाधर को सरस्वतीपितृता प्राप्त थी। उधर मेरा अनुमान है कि बालसरस्वती महाकवि मदन भी बिल्हण के पुत्र होगे इसलिये उन्हे भी सरस्वतीपुत्र कहा जा सकता है। इस रास्ते से बिल्हण ने आशाधर को सहोदर भाई कहा ॥ ६-७ ॥

जो अर्जुनवर्मदेव के राज्यकाल में श्रावकों के घरों से सघन था ऐसे नलकच्छपुर (नालछा) में जैनधर्म का उदय करने के लिये जाकर रहा ॥ ८ ॥

जिसने सुश्रूषा करने वाले अपने शिष्यों में ऐसे कौन हैं जिन्हें व्याकरण समुद्र के पार नही पहुँचाया हो। ऐसे कौन हैं जिन्हें षट्दर्शन के तर्कशास्त्र को देकर प्रतिवादियो पर विजय प्राप्त नही कराई हो। ऐसे कौन हैं जिन्हें जिनवचन (धर्मशास्त्र) रूपी दीपक ग्रहण कराके धर्ममार्ग में निरतिचाररूप से नही चलाया हो और ऐसे कौन हैं जिन्हे काव्यसुधा पिला करके रसिकों में प्रतिष्ठा प्राप्त नही कराई हो ॥ ९ ॥ इस श्लोक की टीका में- प. आशाधरजी ने जुदे-जुदे विषयों का अध्ययन करने वाले अपने कुछ शिष्यों के नाम दिये हैं। उन्होंने पं. देवचन्द्रादि को व्याकरण, वादीन्द्रविशालकीर्त्यादिक को न्यायशास्त्र, भट्टारक विनयचन्द्र आदि को धर्मशास्त्र और बाल सरस्वती महाकवि मदनादि को काव्यशास्त्र का अध्ययन कराया था।

जिसने प्रमेयरत्नाकर नाम का तर्कग्रन्थ बनाया, जो स्याद्वादविद्या का निर्मल प्रसाद है और जिसमें से सुन्दर पद्यों का पीयूष प्रवाहित होता है ॥ १० ॥

जिसने भरतेश्वराभ्युदय नाम का सत्काव्य जो निबन्धोज्वल अर्थात् स्वोपज्ञ टीका से स्पष्ट है, त्रैविद्य कविराजों को प्रसन्न करने वाला है, सिद्ध्यङ्क है अर्थात् जिसके प्रत्येक सर्ग के अन्तिम पद्य में 'सिद्धिपद' आया है, अपने कल्याण के लिये रचा। जिसने जिनागमसम्भूत धर्मामृत नाम का शास्त्र, 'निबन्धरुचिर' अर्थात् ज्ञानदीपिका नामक पञ्जिका टीका से सुन्दर बनाकर मुमुक्षु विद्वानों के हृदय में अतिशय आनन्द उत्पन्न किया ॥ ११ ॥

जिसने श्रीनेमिनाथ विषयक राजीमतीविप्रलंभनामक खण्ड काव्य स्वोपज्ञ टीका से युक्त बनाया ॥ १२ ॥

जिसने अपने पिता की आज्ञा से योग शास्त्र का अध्ययन आरम्भ करने वालो के लिये प्यारा और प्रसन्न गम्भीर अध्यात्म रहस्य नामक शास्त्र बनाया ॥१३ ॥

जिसने मूलाराधना (भगवतीआराधना) इष्टोपदेश (पूज्यपाद कृत) और अमरकोष पर टीकायें लिखी और क्रियाकलाप की रचना की। आदि शब्द की टीका में आराधनासार देवसेन कृत और भूपालचतुर्विंशतिका आदि की भी टीकायें बनाने का उल्लेख किया है ॥ १४ ॥

जिसने रुद्रटाचार्य के 'काव्यालंकार' की टीका बनाई और स्वोपज्ञटीका सहित जिनसहस्रनाम बनाया ॥ १५ ॥

जिसने 'जिनयज्ञकल्पदीपिका नामक टीका सहित जिनयज्ञकल्प और सटीक 'त्रिषष्ठि स्मृतिशास्त्र' की रचना की ॥ १६ ॥

जिसने जिनेन्द्र भगवान की अभिषेक सम्बन्धी विधि के अन्धकार को दूर करने के लिये सूर्य के सदृश 'नित्य-महोद्योत' नाम का स्नान शास्त्र बनाया ॥१७ ॥

जिसने रत्नत्रय-विधान की पूजा और महात्म्य का वर्णन करने वाला 'रत्नत्रय-विधान' नाम का शास्त्र बनाया ॥ १८ ॥

जिसने वाग्भट संहिता को स्पष्ट करने के लिये आयुर्वेद के विद्वानों के लिये इष्ट 'अष्टागहृदयोद्योत' नाम का निबन्ध (टीका-ग्रन्थ) लिखा ॥ १९ ॥

ऐसा मैं आशाधर (जिसका परिचय ऊपर दिया जा चुका है) धर्मामृत के यतिधर्म को प्रकाशित करने वाली और मुनियों को प्यारी यह टीका रचता हूँ ॥ २० ॥

यदि छद्मस्थता के कारण इसमें शब्द या अर्थ का कुछ स्खलन हुआ हो तो धर्माचार्य और विद्वान उसे सुधार कर पढ़े ॥ २१ ॥

नलकच्छपुर (नालछा) में गृहस्थों के अगुए , परम आर्हत , जिनपूजा-कृपादान परायण , सोना माणिक-विनयादिक से युक्त , पापों से पराङ्मुख, खण्डेलवाल वश के पापानामक साहूकार हैं ॥ २२-२३ ॥

उनके दो पुत्र हैं- पिछले, पिता की गृहस्थी के भार को सम्हालने वाले बहुदेव और दूसरे लक्ष्मीवान् पद्मसिह ॥ २४ ॥

बहुदेव के तीन पुत्र हैं- हरदेव , उदयसेन और स्तभदेव । ये तीनों धर्म, अर्थ , काम का साधन करने वाले हैं ॥ २५ ॥

साहू महीचन्द्र ने बाल बुद्धियों को समझाने के लिये धर्मामृत शास्त्र के सागारधर्म की टीका बनवाई और उसी धर्मामृत के यतिधर्म (अनगारधर्म) पर भी जो कुशाग्रबुद्धि वालो के लिये भी दुर्बोध्य है, टीका बना दीजिये, इस प्रकार की हरदेव की विज्ञप्ति और धनचन्द्र के अनुरोध से पण्डित आशाधर ने यह क्षोदक्षमा (विचारसहा) टीका बनाई ॥ २६-२७-२८ ॥

विद्वानो ने इसे भव्यकुमुदचन्द्रिका नाम दिया । ये दोनो सागार अनगार टीकायें कल्पकाल पर्यन्त रहे और मुमुक्षु जन इनका चिन्तन और अध्ययन करते रहें ॥ २९ ॥

परमारवश समुद्र के चन्द्रमा श्री देवपाल राजा के पुत्र जैतुगिदेव जब अपने खड्गबल से अवन्ती का पालन कर रहे हैं, तब यह टीका नलकच्छपुर के श्री नेमिनाथ चैत्यालय में वि. सं. १३०० के कार्तिक सुदी पंचमी सोमवार के दिन समाप्त हुई ॥ ३०-३१ ॥

●

परिशिष्ट नं.-३

पोवाडा (गीत)

आशाधर कविवर थोर

कवि अनंतराज आबाजी बोपलकर

("जैन-बोधक" जूलै १९३६) मधून संग्राहक— शांतिकुमार ठवली

चाल उद्धवा शांतवन

१

विक्रम नृप संवत काली
बाराशे पसतिस साली।
मडलगड मेवाडात
घे जन्म कवि गुणशाली।
पितरासम यज्जनानें।
काव्यश्री प्रमुदित झाली॥

चाल

सल्लक्षण नाम पित्याचें
रत्नभा असे जननीचें॥
कुल बघेरवाल जयाचें
जिनधर्म ध्वज धर वीर
आशाधर कविवर थोर॥

२

बालत्वी यद्वदनीचे
अस्पष्ट परिसुनी बोल।
साक्षर मनिं विस्मित होती।
तद्हृदयिं शिरती ते खोल
कुणि करिति विबुध अनुमान
हा होइल बुध अनमोल॥

चाल

पाळण्यांत शिशु पद दावी।
तद्गुणावगुण जे भावी।
हा अनुभव बहुतां येई
शिशुगणांत करित विहार
आशाधर कविवर थोर॥

३

पचाब्द वयाचे सरतां
गुरुसदनी पाठवि तात।
ॐ नमः सिद्ध मंतरले
शिक्षणा होय सुरवात।
व्याकरण काव्य इतिहास
भूखगोल तेवी गणित।
साद्यत शिकुनि जिनवाणी।
गीर्वाण मागधी वाणी।
शिक्षणांत मिळवी शिरोणी
साक्षरजय मिळवि किशोर
आशाधर कविवर थोर॥

४

वादिराज पदवीधारी
धरसेन शिष्य महावीर।
दे शिक्षण पडितवर्या
जिनधर्मी परमोदार।
काव्यालकार नयाचा
कवि देहिं चढे श्रृगार॥

विद्यार्जन सपुनि गेले।
कवि काव्यविशारद झाले
काव्योदधि मंथन चाले।
कवितारति वरि नरवीर॥
आशाधर कविवर थोर।

५

कविवदनी करिते वास
प्रत्यक्ष सरस्वती देवी।
तेवी कविगेही राही।
कुलवधु सरस्वति देवी।
यदुदरि सुत छाहड झाला
जो साक्षरि चमके भावी
विद्वान पिता पुत्राशी
विद्वद्वर भारतवासी
मानिती विपुल गुणराशी
काव्यामृतपानी चूर
आशाधर कविवर थोर

६

परि विधिघटनेचा घाला
चुकविता न ये कोणासी।
समरधीर पाडव वीर।
द्वादशाब्द वनि वनवासी॥
सम कालचक्र नच चाले
राहे सुख दु ख विलासी।
भारतात शिरली फुट
क्षत्रियात नुरली जूट॥
परदेशी करिती लूट
त्रासले प्रजानन फार
आशाधर कविवर थोर॥

७

बाराशे पन्नास साली
घोरीकरिं दिल्ली गेली।
घे अपयश पृथ्वीराज
यवनांची सरशी झाली
राज्यातर्ग त चौहानीच्या
माडलगड अजमिर खाली
यवनाचे राज्य जहाले
सांक्षरास दुर्दिन आले
विपुलसे स्थलातर झालें
सपरिवार पाही धार
आशाधर कविवर थोर

८

धारेवरि शासन होते
परमार विधवर्माचे
मालवाधीश भक्तिनें
पालन करि जिनधर्मांचे
यन्मत्री बिल्हण सुकवि
करि सदा सुकर्म तयाचें
गुणिजनानुराग जयाशी
यापाशी गुणि विजयाशी।
पावती वरुनि विभवासी
यत्कृपे बघे दरबार
आशाधर कविवर थोर॥

९

कविपिता राजदरबारी
पर राष्ट्रिय मत्री होता।
परि रुचलि न परपति सेवा।
केथवा हि कविचे चित्ता

धर्मार्थ काम मोक्षाचा
यन्मनीं ध्यास चिर होता।
श्रीसरस्वती यद्द्वारी
राबल्या सदा अविकारी
यद्वृत्ति न बनलि विकारी
आमरण धार्मिक स्थीर।
आशाधर कविवर थोर॥

१०

वनिं जनी वसो कोठेही
जातीसम दे सग्द्बध।
अलिकुलें तया शोधोनी
सेविती तदीयमकरद।
स्थापी कवि विद्यापीठ
ज्ञानदान सत्र पसंद।
विद्याभिलाषी जन येती
जिनवर वचनामृत पीती।
मुनि गृहस्थ शिक्षण घेती
बनवी निजशिष्य उदार।
आशाधर कविवर थोर॥

११

यच्छिष्यमालिके माजी
नृप गुरु मदनोपाध्याय।
युवराजार्जुन देवासी
यत्कृपेंत शिक्षण सोय
देवेंद्र हि वैयाकरणी
सिद्धाती विनयशशि होय .
मुनि विशालकीर्ती वादी
तर्कज्ञ विजय सपादी।
करि हतबल विबुधा वादी
मुनिं गृहस्थ वनवि उदार
आशाधर कविवर थोर।

१२

भुपाल पितापुत्रांची
कविगुणि सद्भक्ति भारी।
कलिकालिदास पदविनें
मुनि उदयसेन सत्कारी।
संबोधुनि प्रज्ञापुंज
मुनि मदन दाखवी थोरी।
कविराज योग्य पदवीनें
माचारि मंत्रि विनयानें।
भूषित स्याद्वाद नयानें
कीर्तीयुत भारत वीर
आशाधर कविवर थोर॥

१३

जिनवचनोद्धारक कार्य
कविकरवि विपुलसे झाले।
सागारधर्म बोधाचे
प्रमुदित जन फारचि झालें
पित्राज्ञें कविरायानें
अध्यात्मरहस्य लिहीलें।
त्रिषष्टिस्मरण विशाल
भरतेश्वरचरित रसाल।
जिनयज्ञ भाविका शाल
अर्पण करि परमोदार।
आशाधेर कविवर थोर।

१४

चौमुखी चिरा साक्षर हा
प्रसउनि विपुलसे ग्रन्थ।

करि तुष्ट चहू देशीचे
भारतभर अवधे सत
या प्राचिन काव्यरसाने।
आर्वाचिन खुलति महत
पूजन प्रतिष्ठापाठ
आशाधर काव्य विराट
जनि वरुनि पद सम्राट
करि कीर्तिलता विस्तार
आशाधर कविवर थोर ॥

१५

हा राजमान्य सिद्धाती
असुनिया गृहस्थ मुनिशी
दे शिक्षण विनयें भावें
घे श्रम सतत दिनिनीशी
भूपालार्जुनवर्मा काली
नलकच्छपुरीस धर्मोन्नती केली।
जनता यद्वचन भुकेली।
सकला मुखि वचनोग्दार
आशाधर कविवर थोर ॥

१६

या जनी धर्मसेवेनें
पात्रता मानवा येते।
या जनी धर्मसेवेनें
सग्दती मनुजाची होते।
या जनी धर्मसेवेनें
सत्कीर्तिवल्ली विस्तरते
सद्धर्म पतित जनमित्र।
सद्धर्म उघडुनी सत्र
दु खार्त्ता सुखवि उदार।
आशाधर कविवर थोर ॥